उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त
विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

UGED-102
शिक्षा के दार्शनिक एवं सामाजिक आधार

खण्ड
1
शिक्षा के दार्शनिक आधार

इकाई-1	5
शिक्षा, दर्शन एवं शिक्षा -दर्शन	
इकाई-2	24
प्रकृतिवाद	
इकाई-3	36
आदर्शवाद	
इकाई-4	51
प्रयोजनवाद तथा यथार्थवाद	

विशेषज्ञ समिति

प्रो0 एस0पी0 गुप्ता	निदेशक, शिक्षा विद्या शाखा, उ0प्र0रा0ट0मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
प्रो0 राम शकल पाण्डेय	पूर्व आचार्य,शिक्षाशास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
प्रो0 हरिकेश सिंह	आचार्य, शिक्षा संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

परिमापक

डॉ0 सरोज पाण्डेय	वरिष्ठ उपाचार्य एन0सी0ई0आर0टी0, नयी दिल्ली

सम्पादक

प्रो0 राम शकल पाण्डेय	पूर्व आचार्य, शिक्षाशास्त्र विभाग इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

लेखक

डॉ0 यू0 एन0 तिवारी	प्रवक्ता, शिक्षा विद्या शाखा, उ0प्र0रा0ट0मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

© उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

सर्वाधिकार सुरक्षित। इस पाठ्य-सामग्री का कोई भी अंश उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति लिए बिना, मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज की ओर से विनय कुमार, कुलसचिव द्वारा पुनः मुद्रित एवं प्रकाशित 2023.

मुद्रकः सिग्नस इन्फार्मेशन सल्यूशन प्रा० लि०, लोढ़ा सुप्रीमस साकी विहार रोड, अन्धेरी ईस्ट, मुम्बई।

CENTOS-018

UGED-102/2

UGED-102 शिक्षा के दार्शनिक एवं सामाजिक आधार

खण्ड 1- शिक्षा के दार्शनिक आधार

इकाई-1 शिक्षा, दर्शन एवं शिक्षा -दर्शन

इकाई-2 प्रकृतिवाद

इकाई-3 आदर्शवाद

इकाई-4 प्रयोजनवाद तथा यथार्थवाद

खण्ड 2- प्रमुख शिक्षाशास्त्री

इकाई-5 प्लेटो एवं रूसो

इकाई-6 जॉन डीवी, माण्टेसरी एवं फ्रोबेल

इकाई-7 स्वामी विवेकानन्द एवं श्री अरविन्द घोष

इकाई-8 रवीन्द्र नाथ टैगोर एवं महात्मा गाँधी

खण्ड 3- दार्शनिक दृष्टिकोण से शैक्षिक समस्याएँ

इकाई-9 शिक्षा में व्यक्ति एवं समाज

इकाई-10 धर्म और शिक्षा

इकाई-11 शैक्षिक मूल्य

इकाई-12 स्वतंत्रता तथा अनुशासन

खण्ड 4- शिक्षा का सामाजिक आधार

इकाई-13 शिक्षा में समाजशास्त्र का योगदान तथा बालक का समाजीकरण

इकाई-14 संस्कृति और शिक्षा

इकाई-15 विद्यालय तथा समुदाय

इकाई-16 शिक्षा और सामाजिक परिवर्तन

खण्ड परिचय - 1 शिक्षा के दार्शनिक आधार

जब से संसार की रचना हुई है, तभी से समाज ज्ञान की खोज में निरन्तर भटकता फिर रहा है किन्तु आज तक अनेक उपलब्धियों के बाद भी उसकी ज्ञान पिपासा शान्त नहीं हो सकी है। अस्तु वह ज्ञान की खोज में निरन्तर अग्रसर है।

प्रथम इकाई में शिक्षा का अर्थ, महत्व एवं आवश्यकता का वर्णन किया गया है। दर्शन के उत्पत्ति तथा अर्थ की भी व्यवस्था की गई है। तत्पश्चात् शिक्षा दर्शन का अर्थ, शिक्षा में दार्शनिक आधार की आवश्यकता, शिक्षा तथा दर्शन के सम्बन्धों की विवेचना तथा शिक्षा के विभिन्न अंगों पर दर्शन के प्रभाव को स्पष्ट किया गया है।

प्रकृतिवाद नामक दूसरी इकाई में प्रकृतिवाद के विभिन्न रूपों की चर्चा की गई है । तत्पश्चात् प्रकृतिवाद के अनुसार शिक्षा कैसी होनी चाहिए। प्रकृतिवाद के अनुसार शिक्षा के क्या उद्देश्य हैं। बालक कैसा होना चाहिए। बालक के लिए पाठ्यक्रम कैसा हो। शिक्षण विधि क्या हो, शिक्षक की क्या भूमिका हो। विद्यालय किस प्रकार का हो तथा अनुशासन किस प्रकार का हो आदि का वर्णन किया गया है।

तीसरी इकाई में आदर्शवाद जो मानव जीवन की सर्व प्राचीन दार्शनिक विचारधारा है। पर प्रकाश डाला गया है। आदर्शवाद को शिक्षा के क्षेत्र में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है तथा शिक्षा के विभिन्न अंगों का निर्धारण आदर्शवादी विचारधारा पर हुआ है। इस इकाई में आदर्शवाद के अर्थ, जीवन-दर्शन तथा आदर्शवाद और शिक्षा में आदर्शवाद के महत्व को बताया गया है।

चौथी इकाई में प्रयोजनवाद तथा यथार्थवाद का वर्णन किया गया है। प्रयोजनवाद एक नवीन दार्शनिक विचारधारा है। वर्तमान युग में दर्शन एवं शिक्षा के विभिन्न विचारधाराओं में इस विचारधारा को सर्वाधिक मान्यता प्राप्त है। इसके अन्तर्गत प्रयोजनवाद के सिद्धान्त, प्रयोजनवाद की विशेषताएं तथा प्रयोजनवाद और शिक्षा की व्याख्या की गई है। यथार्थवाद एक ऐसी विचारधारा है जिसका बीजारोपण मानव मस्तिष्क में अति प्राचीन काल में ही हो गया था। यथार्थवादी किसी एक सुगठित दार्शनिक विचारधारा का नाम न होकर उन सभी विचारों का प्रतिनिधित्व करता है जो यह मानते हैं कि वस्तु का अस्तित्व स्वतंत्र रूप से है। इसके अन्तर्गत यथार्थवाद के सिद्धान्त, भारतीय यथार्थवाद तथा शिक्षा में यथार्थवाद आदि की व्याख्या की गई है।

इकाई -1 शिक्षा, दर्शन एवं शिक्षा-दर्शन

संरचना

1.1 प्रस्तावना।

1.2 उद्देश्य

1.3 शिक्षा का महत्व एवं आवश्यकता

1.4 शिक्षा क्या है

1.4.1 शिक्षा का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ

1.4.2 शिक्षा का संकुचित अर्थ

1.4.3 शिक्षा का व्यापक अर्थ

1.4.4 वैयक्तिक एवं सामाजिक दृष्टि से शिक्षा की नवीन व्याख्या

1.5 दर्शन की उत्पत्ति

1.6 दर्शन का अर्थ

1.7 शिक्षा दर्शन का अर्थ

1.8 शिक्षा में दार्शनिक आधार की आवश्यकता

1.9 शिक्षा और दर्शन में सम्बन्ध

1.10 शिक्षा के विभिन्न अंगों पर दर्शन का प्रभाव

1.10.1 शिक्षा का अर्थ एवं दर्शन

1.10.2 शिक्षा के उद्देश्य एवं दर्शन

1.10.3 पाठ्यक्रम एवं दर्शन

1.10.4 शिक्षण विधि एवं दर्शन

1.10.5 अनुशासन एवं दर्शन

1.10.6 शिक्षक एवं दर्शन

1.11 सारांश

1.12 अभ्यास कार्य

1.13 बोध प्रश्नों के उत्तर

1.1 प्रस्तावना

जब से संसार की रचना हुई है, तभी से समाज ज्ञान की खोज में भटकता फिर रहा है, किन्तु आज तक अनेक उपलब्धियों के बाद भी उसकी ज्ञान पिपासा शांत नहीं हो सकी

है, वह ज्ञान की खोज में निरन्तर अग्रसर है। मूलतः विवेकशील, तर्कप्रधान एवं संवेदनशील मानव ने दैनिक जीवन की समस्याओं को सुलझाने के साथ ही जीव, ब्रह्म और ब्रह्माण्ड सम्बन्धी गूढ़ समस्याओं में भी रूचि लेना प्रारम्भ कर दिया। दृश्य जगत की अधिकाधिक जानकारी प्राप्त करने वाला ज्ञान पिपासु अन्तःजगत के रहस्यों से परिचित होकर आत्मानन्द की प्राप्ति के लिए उत्सुक हो गया ।

मानव समाज की प्रगति और विकास का यह संक्षिप्त इतिहास शिक्षा और दर्शन के अन्तः सम्बन्ध की ही कहानी है। शिक्षा और दर्शन का यह सम्बन्ध अति प्राचीनकाल से ही चला आ रहा है। यदि हम शिक्षा के इतिहास पर नजर डाले तो हमें प्राचीन, मध्यकालीन एवं वर्तमान शिक्षा में एक बड़ा अन्तर दिखाई देता है। यह अन्तर दार्शनिक विचारों के अन्तर के प्रभाव के कारण से ही है। इससे स्पष्ट होता है कि शिक्षा दर्शन से प्रभावित होती है। दर्शन ने समय-समय पर शिक्षा के विभिन्न अंगों को प्रभावित किया है, अर्थात दार्शनित विचार धाराओं में परिवर्तन के साथ-साथ शिक्षा के उद्देश्य पाठ्यक्रम, शिक्षण विधि एवं पाठ्यपुस्तकों आदि में परिवर्तन होता रहता है। किन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिए कि केवल दर्शन ही शिक्षा को प्रभावित करती है, वास्तविकता तो यह है कि शिक्षा भी दर्शन को प्रभावित करती है। इस इकाई में शिक्षा, दर्शन एवं शिक्षा दर्शन की व्याख्या की गयी है। शिक्षा एवं दर्शन के सम्बन्धों को स्पष्ट किया गया है और शिक्षा के विभिन्न अंगों पर दर्शन के प्रभाव की व्याख्या की गयी है।

1.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप इस योग्य हो जायेंगे कि -

- शिक्षा के महत्व एवं आवश्यकता को स्पष्ट कर सकेंगे।
- शिक्षा का अर्थ बता सकेंगे ।
- दर्शन का अर्थ बता सकेंगे।
- शिक्षा दर्शन की व्याख्या कर सकेंगे।
- शिक्षा में दार्शनिक आधार की आवश्यकता को स्पष्ट कर सकेंगें।
- शिक्षा एवं दर्शन के सम्बन्धों की विवेचना कर सकेंगे।
- शिक्षा के विभिन्न अंगों पर दर्शन के प्रभावों को स्पष्ट कर सकेंगे।

1.3 शिक्षा का महत्व एवं आवश्यकता

सभ्य समाज की भव्य और आकर्षक दिखने वाली समस्त वस्तुएं शिक्षा की ही देन है। शिक्षा ही व्यक्ति को मानसिक, बौद्धिक, नैतिक, आध्यात्मिक एवं शारीरिक संतुष्टि प्रदान करती है तथा उसे सुसंस्कृत बनाती है। व्यक्ति की उन्नति एवं सभ्यता की प्रगति का यही प्रमुख

साधन है। शिक्षा का प्रादुर्भाव व्यक्ति की चेतना में निहित है। चेतन अवस्था प्राप्त करने के समय से ही व्यक्ति अपनी संतति को शिक्षा प्रदान करता आया है।

शिक्षा का मानव जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध है। मानव का जीवन ध्येय चाहे जो भी रहा हो, उसने शारीरिक शक्ति, मानसिक विकास, बौद्धिक उन्नति, भौतिक आनन्द और आध्यात्मिक पूर्णता की प्राप्ति के लिए शिक्षा का ही सहारा लिया हैं। भारतीय ऋषियों ने आत्मानुभूति, चित वृत्रि निरोध एवं मोक्ष प्राप्ति के लिए ज्ञान और विज्ञान दोनों का सहारा लिया है। इस्लाम के प्रवर्तक हजरत मुहम्मद को ज्ञान प्राप्ति में अमरत्व की क्षमता मिली और उन्होंने ज्ञान को स्वर्ग का सोपान समझा। प्राचीन स्पार्टा ने अपनी राजसत्ता एवं प्रभुता को स्थापित करने एवं स्थायी रखने के उद्देश्य से शिक्षा का पूर्ण उपयोग किया और प्रत्येक व्यक्ति के लिए जन्म से युवावस्था तक क्रमबद्ध रूप में शिक्षा को अनिवार्य बनाया। प्लेटो ने सामाजिक जीवन को न्याय सूत्र में बाँने वाला सर्वश्रेष्ठ साधन शिक्षा को ही समझा।

आधुनिक काल में भी नात्सीवाद के प्रर्वतक मुसोलिनी, फासिस्टवाद के जन्मदाता हिटलर तथा साम्यवाद को व्यावहारिक रूप देने वाले लेनिन ने भी अपनी राजनैतिक मान्यताओं को प्रबल एवं राजनैतिक व्यवस्थाओं को स्थायी बनाने के लिए शिक्षा का भरपूर उपयोग किया। आज संसार के विभिन्न राष्ट्रों में अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति, सुरक्षा, सद्भाव तथा सहकार को स्थापित करने में शिक्षा का ही सहारा लिया जा रहा है। निःसंदेह व्यक्ति के लिए प्रत्येक काल में शिक्षा समान रूप से उपयोगी रही है।

शिक्षा ही मानव को मानव बनाती है। मानव शिशु जन्म से असहाय होता है जन्म के समय न वह चल सकता है और न बोल सकता है और न तो कोई कार्य ही कर सकता है। मानव शिशु काफी समय तक परजीवी होता है। वह माँ की गोद में रहते हुए अपने को पारिवारिक वातावरण के अनुसार ढाल लेता है, क्योंकि उसमें जन्मजात अनुकूल नीयता पायी जाती है। वास्तव में वातावरण को अपने अनुकूल तथा अपने को वातावरण के अनुकूल बना लेने की क्रिया में सफलता प्राप्त करने के लिए शिक्षा की आवश्यकता है।

बालक अद्भुत सम्भावनाओं को लेकर जन्म लेता हैं। शिक्षा के अभाव में बालक की ये सम्भावनाएं ज्यों कि त्यों कुंठित हो जाती हैं। उन्हें विकसित करने के लिए शिक्षा की आवश्यकता पड़ती है। वर्तमान संसार का वातावरण इतना जटिल तथा परिवर्तनशील है कि बिना शिक्षा के हम इसका ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकते और बिना ज्ञान प्राप्त किये हम सक्रिय होकर सामाजिक कार्य भी नहीं कर सकते। जान डीवी का विचार है कि शिक्षा जीवन के लिए अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि बिना शिक्षा के जीवन की प्रगति नहीं हो सकती। शिक्षा हमारी प्रकृति प्रदत्त शक्तियों को प्रकट करती है और हमारे विकास तथा उन्नति में सहायक होती है। शिक्षा हमें वर्तमान सम्भावनाओं से परिचित कराती है। शिक्षा द्वारा ही हम मानव अनुभवों का पुनः संगठन तथा पुनःनिर्माण करते हैं। अतः शिक्षा की आवश्यकता निरन्तर बढ़ती जा रही है।

स्पष्ट है कि मनुष्य को जीवन की सभी अवस्थाओं में जीवन को सफल, सम्पन्न एवं सार्थक बनाने के लिए शिक्षा की आवश्यकता है।

1.4 शिक्षा क्या है?

शिक्षा देने अथवा ग्रहण करने की प्रथा आदि काल से ही किसी न किसी रूप में प्रचलित है । अनन्त काल से ही मनुष्य कुछ न कुछ सीखता आया है। शिक्षा द्वारा वह अपने आचार विचार तथा रहन सहन में परिवर्तन तथा परिमार्जन करता आया है। शिक्षा द्वारा ही उसने अपनी तथा समाज की उन्नति की है, पर शिक्षा क्या है? शिक्षा किसे कहते हैं? इसका क्या अर्थ है? यह जानने का बहुत कम लोगों ने प्रयास किया हैं। कुछ लोगों का विचार है कि नैतिकता तथा धर्म के समान शिक्षा की भी ठीक-ठीक परिभाषा नहीं दी जा सकती। यद्यपि शिक्षा की परिभाषा करना कठिन है। फिर भी अपने विचारानुसार लोगों ने शिक्षा की परिभाषा भिन्न-भिन्न प्रकार से की है। अधिकांश व्यक्ति शिक्षा का अर्थ किसी शिक्षालय में अध्ययन करना समझते हैं, और शिक्षित व्यक्ति से उनका तात्पर्य एक ऐसे व्यक्ति से होता है जिसने किसी शिक्षालय में भिन्न भिन्न विषयों का अध्ययन किया है। परन्तु यह उनकी भूल है। शिक्षा की परिधि केवल शिक्षालय तक ही सीमित नहीं है। शिक्षा का क्षेत्र तो अत्यन्त विस्तृत है। जर्मनी के प्रसिद्ध शिक्षा शास्त्री **पेस्टालाजी** के अनुसार-शिक्षा मनुष्य की समस्त शक्तियों का स्वाभाविक, प्रगतिशील और विरोधहीन विकास है। **अरस्तू** के अनुसार - 'शिक्षा का कार्य स्वस्थ शरीर में स्वस्थ मन का निर्माण करना है। **'स्ट्रेयर'** का कथन है कि - 'शिक्षा वह है जो एक विद्वान के कार्यों में अन्तर ला देती है। **स्वामी विवेकानन्द** के अनुसार -'मनुष्य की अन्तर्निहित पूर्णता को अभिव्यक्त करना ही शिक्षा है।' **जी.एस. थामसन** के अनुसार -'शिक्षा वाह्य वातावरण के प्रभावों का एक समन्वित रूप है, जिसके द्वारा मनुष्यों के आचार-विचार आदत तथा व्यवहार में सुधार होता है। **प्लेटो** के अनुसार- 'शिक्षा शारीरिक मानसिक तथा बौद्धिक विकास की प्रक्रिया हैं''। **महात्मा गाँधी** के अनुसार 'शिक्षा से मेरा अभिप्राय बालक तथा मनुष्य के शरीर, मन और आत्मा में अन्तर्निहित शकितयों के सर्वांगीण प्राकट्य से है।'

इस प्रकार कुछ शिक्षा शास्त्रियों ने 'शिक्षा की परिभाषा कुछ चुने हुए शब्दों अथवा वाक्यों में देने का प्रयत्न किया, परन्तु अभी तक कोई ऐसी परिभाषा नहीं दी जा सकी है जो सर्वमान्य हो। विचारकों के लिए आज भी यह एक पहेली है। इस पहेली के समाधान के लिए प्लेटो एवं अरस्तु जैसे विचारकों ने प्रयत्न किये तथा अन्य विचारक भी करते आ रहे हैं। उन सभी ने 'जाकी रही भावना जैसी' की उक्ति के अनुसार शिक्षा के भिन्न भिन्न अर्थ लगाये हैं, परन्तु सामान्यतः शिक्षा के तीन अर्थ लगाये जाते हैं : (1) व्युत्पत्ति मूलक (2) संकुचित (3)) व्यापक।

1.4.1 शिक्षा का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ

शिक्षा शब्द संस्कृत भाषा के 'शिक्ष' धातु से बना है, जिसका अर्थ होता है - 'ज्ञान प्राप्त करना' । शिक्षा का अनुरूप शब्द 'विद्या' है जो संस्कृत के 'विद्' धातु से बना है, और उसका भी तात्पर्य है 'जानना' या 'ज्ञान प्राप्त करना'। शिक्षा को आग्ंल भाषा में 'एजूकेशन' कहते हैं। शिक्षा शास्त्रियों का विचार है कि एजूकेशन शब्द की उत्पत्ति लैटिन भाषा के एडूकेटम (Educatum), एडूसीयर (Educere) एवं एडूकेयर (Educare) शब्द से हुई है।

'एडूकेटम' शब्द 'ई' (E) और 'डूको' (Duco) दो शब्दों से मिलकर बना है। ई का अर्थ है अन्दर से तथा डूको का अर्थ है आगे बढ़ाना अथवा विकास करना अर्थात अन्दर से विकास। यहाँ प्रश्न उठता है कि अन्दर से विकास का क्या अर्थ है? इसका उत्तर यह है कि प्रत्येक बालक के अन्दर जन्म से ही कुछ जन्मजात प्रवृत्तियाँ होती हैं। जैसे-जैसे बालक वातावरण के सम्पर्क में आता-जाता है वैसे-वैसे उसकी जन्मजात शक्तियों को अन्दर से बाहर की ओर विकसित करना। एडूकेटम शब्द के अतिरिक्त उक्त दोनों शब्दों एडूसीयर एवं एडूकेयर का भी यही अर्थ है। एडूसीयर का अर्थ है निकालना तथा एडूकेयर का अर्थ है आगे बढ़ाना, बाहर निकालना या विकसित करना। इस प्रकार शिक्षा शब्द का अर्थ बालक की जन्मजात शक्तियों का विकास करना है।

1.4.2 शिक्षा का संकुचित अर्थ

संकुचित अर्थ में स्कूली शिक्षा को ही शिक्षा कहा जाता है। इस रूप में शिक्षा का अर्थ, उद्देश्य, पाठ्यक्रम एवं शिक्षणविधि सभी निश्चित होता है। इसमें वयस्क वर्ग एक पूर्व निश्चित योजना के अनुसार बालक के समक्ष नियन्त्रित वातावरण प्रस्तुत करके निश्चित ज्ञान को निश्चित विधि के द्वारा निश्चित समय में समाप्त करता है, ताकि बालकों का मानसिक विकास हो जाये। शिक्षा के संकुचित रूप में शिक्षक का अत्यधिक महत्व होता है। इसी कारण उससे यह अपेक्षा की जाती है कि वह बालकों को मानसिक दृष्टि से विकसित करने के लिए अधिकाधिक ज्ञान प्रदान करे। इस शिक्षा की व्यवस्था समाज या राज्य द्वारा की जाती है।

उक्त वर्णित शिक्षा से बालकों को कोई लाभ नहीं होता । वे तोते की तरह विषयों को रट कर पंडित तो हो जाते हैं किन्तु उन्हें व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त नहीं होता। उन्हें पुस्तकीय ज्ञान तो मिल जाता है किन्तु उनका मानसिक एवं चारित्रिक विकास नहीं होता। परिणाम स्वरूप वे अपने भावी जीवन में चारों ओर भटकते रहते हैं। संक्षेप में संकुचित रूप में शिक्षा बालक की स्वतंत्रता का गला घोटकर उसके स्वाभाविक विकास को एक चुनौती है। महत्वपूर्ण बात यह है कि जहाँ इस रूप में स्कूली शिक्षा के कुछ दोष हैं, वहीं उसका निजी महत्व भी है। जे. एस. मिल के शब्दों में 'शिक्षा द्वारा एक पीढ़ी के लोग दूसरी पीढ़ी के लोगों में संस्कृति का संक्रमण करते हैं,ताकि वे उसका संरक्षण कर सकें और यदि सम्भव हो तो उसमें उन्नति भी कर सकें।

1.4.3 शिक्षा का व्यापक अर्थ

व्यापक अर्थ में शिक्षा का अर्थ बालक के उन सभी अनुभवों से होता है, जिसका प्रभाव उसके ऊपर जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त पड़ता है। दूसरे शब्दों में शिक्षा ऐसी अनियन्त्रित परिस्थिति है, जिसमें रहकर बालक अपनी प्रकृति के अनुसार स्वतंत्रता पूर्वक विभिन्न प्रकार के अनुभव प्राप्त करके अपना विकास करता है। इस प्रकार की शिक्षा किसी व्यक्ति, काल, स्थान अथवा देश तक ही सीमित नहीं रहती है, बल्कि बालक जिसके सम्पर्क में आकर सीखता है, वे सब उसके शिक्षक होते हैं,जिन्हें वह सिखाता है, वे सब उसके शिष्य होते हैं तथा जिस जगह वह सीखता या सीखाता है, वह सब स्कूल होता है। इस प्रकार के शिक्षा का उद्देश्य एवं पाठ्यक्रम बहुत व्यापक होता है। उन्हें किसी सीमा में नहीं बांधा जा सकता और न ही ठीक प्रकार से उसकी व्याख्या ही की जा सकती है। अतः व्यापक अर्थ में शिक्षा जीवन पर्यन्त चलने वाली एक उद्देश्यपूर्ण प्रक्रिया है, जिससे बालक की जन्मजात शक्तियों का विकास करके उसे सभ्य, सुसंस्कृत नागरिक बनाया जाता है। संक्षेप में शिक्षा बालक के प्राकृतिक विकास की प्रक्रिया है। रूसो एवं वुडवर्थ ने शिक्षा के इसी अर्थ को दृष्टि में रखकर ही प्रकृतिवादी शिक्षा पर बल दिया है।

1.4.4 वैयक्तिक एवं सामाजिक दृष्टि से शिक्षा की नवीन व्याख्या

शिक्षा के मनोवैज्ञानिक एवं सामाजिक पक्ष पर बल देने वाले विद्वानों के विचारों का प्रभाव वर्तमान शिक्षा सिद्धान्त एवं प्रयोग पर पड़ा है। फलस्वरूप शैक्षिक जगत में एक नई प्रवृत्ति विकसित हुई, जिसे 'समाहारक प्रवृत्ति' कहा जाता है। यह प्रवृत्ति व्यक्ति एवं समाज दोनों को महत्वपूर्ण मानती है और दोनों में सामन्जस्य स्थापित करना चाहती है। वर्तमान काल की शिक्षा का मुख्य उद्देश्य व्यक्ति का श्रेष्ठतम विकास और समाज का सर्वाधिक उन्नति को संतुलित रखते हुए उनमें उचित सामन्जस्य स्थापित करना है।

प्रोफेसर हार्न ने भी कहा है कि 'शारीरिक तथा मानसिक दृष्टि से विकसित एवं चैतन्य मानव का अपने बौद्धिक संवेगात्मक तथा इच्छित वातावरण में उत्कृष्ठ समायोजन ही शिक्षा है।' व्यक्ति को जीवन में नये नये अनुभव सतत प्राप्त होते रहते हैं। इस प्राप्त अनुभव द्वारा व्यक्तित्व स्वयं को विकसित करते हुये समाज को नवीन मूल्य प्रदान करता है। इससे उसमें आत्मविश्वास की भावना बढ़ती है। इस प्रकार व्यक्ति एवं समाज एक दूसरे को प्रभावित करते हुए विकासोन्मुख होते हैं। इसीलिए जान डीवी ने शिक्षा की व्याख्या करते हुए कहा है कि 'शिक्षा व्यक्तिगत अनुभवों में वृद्धि के फलस्वरूप, व्यक्तिगत शक्तियों को सुनियोजित कर, सर्वाधिक सामाजिक मूल्य प्रदान करते हुए, अनुभव के पुनर्गठन की प्रक्रिया है।'

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि समाहारक प्रवृत्ति के समर्थक शिक्षा को ऐसी प्रक्रिया मानते हैं, जो व्यक्ति को एक निश्चित सामाजिक मानदंड या ढंग इस प्रकार स्वीकृति करावे कि उसकी अन्तर्निहित शक्तियों का भी पूर्ण विकास हो सके।

बोध प्रश्न

टिप्पणी - (क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिये गये स्थान का प्रयोग कीजिये ।

(ख) अपने उत्तरों को इकाई के अन्त में दिये गये उत्तर से मिलान कीजिए।

1. शिक्षा क्यों आवश्यक है?

----

2. शिक्षा का व्युत्पत्ति मूलक अर्थ क्या है?

----

3. शिक्षा का संकुचित अर्थ क्या है?

----

4. शिक्षा का व्यापक अर्थ क्या है?

1.5 दर्शन की उत्पत्ति

दर्शन पर विचार करते समय कुछ विद्वान दर्शन का मूल देखकर यह बताने का प्रयास करते हैं कि दर्शन की उत्पत्ति किस प्रेरणा या प्रवृत्ति के कारण हुई है। कुछ विचारकों का मानना है कि दर्शन का आरम्भ व्यक्ति की जिज्ञासा की पूर्ति के लिए हुई । व्यक्ति जिस वातावरण में रहता है, उसके विषय में वह जानना चाहता है वह अपने विषय में भी जानना चाहता है वह यह भी जानना चाहता है कि यह संसार कहाँ से चला है, और कहाँ जा रहा है। जब व्यक्ति जगत में व्याप्त नियमों को जानना चाहता है तो वह आश्चर्य में पड़ जाता है और सृष्टि की योजना को जानने के लिए जिज्ञासु हो जाता है। व्यक्ति जब संसार के विषय में अथवा सत्ता अथवा मूल्य के विषय में जानने की इच्छा करता है तब दर्शन की उत्पत्ति होती है। प्रसिद्ध

दार्शनिक प्लेटो दर्शन की उत्पत्ति आश्चर्य, कौतूहल या जिज्ञासा से ही मानते हैं।

कुछ अन्य विचारक दर्शन की उत्पत्ति संन्देह से मानते हैं। इन विचारकों के अनुसार व्यक्ति के मन में विभिन्न संदेह उत्पन्न होते हैं, जिनके निवारण हेतु वह प्रयास करता है तब दर्शन की उत्पत्ति होती है। डेकार्ट जैसे दार्शनिकों के अनुसार दर्शन की उत्पत्ति सन्देह से हुई है।

कुछ अन्य विचारक दर्शन की उत्पत्ति मानसिक अशान्ति से मानते हैं। जब व्यक्ति बेचैन होकर और जीवन में व्याप्त जरा,मरम एवं रोग से दुखी होकर उदासीन होता है, तब वह अपनी समस्याओं का समाधान करने का प्रयास करता है, तभी दर्शन की उत्पत्ति होती है।

उपर्युवत विवेचन से स्पष्ट होता है कि दर्शन की उत्पत्ति किसी एक भावना से नहीं होती। व्यक्ति के मन में जब आश्चर्य होता है तो संदेह या जिज्ञासा भी उत्पन्न होती है, जिसके कारण व्यक्ति को बेचैनी होती है । इसलिए यह मानना कि केवल जिज्ञासा, केवल संदेह या केवल मानसिक अशान्ति से दर्शन की उत्पत्ति होती है ठीक नहीं है। जब तक व्यक्ति के मन में आश्चर्य, सन्देह, जिज्ञासा, या अशान्ति नहीं उत्पन्न होगी, तब तक दर्शन पर व्यक्ति का ध्यान नहीं जायेगा।

1.6 दर्शन का अर्थ

हिन्दी शब्द दर्शन का अंग्रेंजी समानार्थक शब्द 'फिलासफी' है, जो 'फिलास' और 'सोफिया' (Sophia) दो ग्रीक शब्दों से मिलकर बना है। 'फिलास' का अर्थ है प्रेम या अनुराग और सोफिया का अर्थ है ज्ञान। अतः इन दोनों का अर्थ है - 'विद्या का प्रेम' या 'ज्ञान के लिए प्रेम'। फिलासफी शब्द का प्रयोग सबसे पहले ग्रीस में हुआ। हिरोडोटस ने कहा है कि फिलासफर शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम क्रीसल ने सोलन के लिए किया था। सुकरात ने अपने समय के सोफिस्टो से अपने को अलग करने के लिए स्वयं को फिलासफर कहा । कुछ विद्वानों के अनुसार फिलासफर शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम पैथागोरस ने अपने लिए किया था। प्लेटो ने अपनी रिपब्लिक में फिलासफर शब्द का अर्थ बताते हुए कहा है कि 'दार्शनिक वह है जो प्रत्येक प्रकार के ज्ञान में रूचि लेता है, और विभिन्न प्रकार के ज्ञान को जानने के लिए उत्सुक रहता है तथा फिर भी संतुष्ट नहीं होता है।'

भारतीय संस्कृति में 'फिलासफी' का समानार्थी शब्द 'विचारशास्त्र' है, जिसे 'दर्शन' शब्द से जाना जाता हैं । दर्शन शब्द संस्कृत के 'दृश' धातु से बना है। यदि इस शब्द की व्याख्या की जाय तो कहेंगे - 'दृश्यते अनेन इति दर्शनम्' अर्थात जिसके द्वारा यथार्थ तत्व की अनुभूति हो, वही दर्शन है। दार्शनिक, यह देखने और विचार करने का प्रयास करता है कि मै कौन हूँ, मैं कहाँ से आया हूँ, सृष्टि का वास्तविक रूप क्या है, इसका आदि क्या है, यह चेतन है या जड़ है, जीवन का लक्ष्य क्या है, इस जीवन की प्राप्ति और इसका सुखमय निर्वाह कैसे सम्भव है, आदि।

बोध प्रश्न -

टिप्पणी - (क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिये गये स्थान का प्रयोग कीजिए।

(ख) अपने उत्तरों को इकाई के अन्त में दिये गये उत्तर से मिलान कीजिए।

5. दर्शन की उत्पत्ति कब होती है।

----

6. दर्शन का क्या अर्थ है?

----

7. दार्शनिक क्या देखने और विचार करने का प्रयास करता है?

1.7 शिक्षा-दर्शन का अर्थ

शिक्षा और दर्शन का अलग अलग अर्थ जान लेने के पश्चात अब शिक्षा-दर्शन का अर्थ समझना आवश्यक है। शिक्षा में जब हम दार्शनिक दृष्टिकोण अपनाते हैं तो शिक्षा-दर्शन का जन्म होता है। साधारण अर्थ में शिक्षा दर्शन दर्शन की वह एक शाखा है,जिसमें दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रयोग शिक्षा के क्षेत्र में होता है। शिक्षा-दर्शन शिक्षा से सम्बन्धित समस्त समस्याओं पर विचार करता है और उनका समाधान करने के लिए दार्शनिक दृष्टि से प्रयास करता है। संक्षेप में शिक्षा दर्शन वह विषय है जिसमें शिक्षा और दर्शन दोनों का योगदान रहता है। दर्शन मानव जीवन का लक्ष्य निर्धारित करता है और हम उस लक्ष्य की प्राप्ति शिक्षा द्वारा करते हैं परन्तु दार्शनिक यह निश्चित करते है। कि लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु शिक्षा का क्या स्वरूप होना चाहिए। इस प्रकार दार्शनिक अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए शिक्षा का सहारा लेते हैं। ठीक इसी प्रकार शिक्षा शास्त्री दर्शन का सहारा लेते हैं। उनके सम्मुख जब कोई समस्या आती है तो वे उसका समाधान दर्शन की सहायता से करते है। अतः दोनों की परस्पर निर्भरता से शिक्षा दर्शन का विकास हुआ। स्पष्ट है कि शिक्षा और उसकी संस्थाओं के प्रति दर्शन के दृष्टिकोण को ही शिक्षा दर्शन कहते है, अर्थात दूसरे शब्दों में 'शिक्षा दर्शन'एक ऐसा विषय है जो दर्शन के दृष्टिकोण से शिक्षा के समस्त कार्यों, क्रियाओं, समस्याओं आदि का अध्ययन करता है, समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करता है और शिक्षा की प्रक्रिया को उचित दिशा में मोड़ देता है। शिक्षा दर्शन का अर्थ बताते हुए कनिंघम महोदय ने लिखा है कि 'शिक्षा दर्शन विभिन्न दार्शनिक विचारधाराओं के द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों के प्रयोग के रूप में इन विचारधाराओं से अनेक समस्याओं की खोज के लिए निर्देशन लेता है।

1.8 शिक्षा में दार्शनिक आधार की आवश्यकता

शिक्षा के कई आधार होते हैं, जिसमें दार्शनिक आधार सबसे प्राचीन एवं महत्वपूर्ण है। शिक्षा में दार्शनिक आधार से आशय शिक्षा का दर्शन पर आधारित होने से है। शिक्षा के विभिन्न अंग दर्शन के आधार पर निर्मित होते हैं। जिस काल में जैसा दर्शन होता है उसी के अनुरूप शिक्षा का स्वरूप होता है। दर्शन साध्य है शिक्षा साधन। अतः शिक्षा, दर्शन पर आधारित होता है।

विभिन्न विद्वानों के कथनों से भी प्रतीत होता है कि शिक्षा के लिए दार्शनिक आधार की अति आवश्यकता होती है।

हरबार्ट के अनुसार - ''शिक्षक तब तक छुट्टी नहीं पा सकता जब तक दार्शनिक शिक्षा सम्बन्धी समस्याओं का समाधान नहीं कर लेते।''

हार्न के अनुसार - ''शैक्षिक समस्या के प्रत्येक दृष्टिकोण से दार्शनिक आधार की मांग उठती है।''

बटलर के अनुसार - ''दर्शन शिक्षा के प्रयोगों के लिए एक पथ प्रदर्शक है''।

निम्न कारणों से भी शिक्षा में दार्शनिक आधार की आवश्यकता पड़ती है।

1. जीवन दर्शन के चयन के लिए -

दर्शन ब्रह्माण्ड के प्रति एवं मानव जीवन के प्रति विभिन्न दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है। इन दृष्टिकोणों का अध्ययन करके व्यक्ति स्वयं अपना जीवन दर्शन चुनता है तथा शिक्षा के उद्देश्य निश्चित करता है। जिस व्यक्ति का कोई जीवन दर्शन नहीं होता वह अच्छा शिक्षक नहीं बन सकता क्योंकि जब उसका कोई जीवन दर्शन ही नहीं होगा तब वह शिक्षा में किस उद्देश्य की प्राप्ति करेगा। इसलिए प्रत्येक शिक्षक के लिए शिक्षा दर्शन का ज्ञान आवश्यक है, जिससे वह सही जीवन दर्शन का चयन कर सके।

2. शिक्षा के स्वरूप एवं उद्देश्यों के ज्ञान की प्राप्ति के लिए -

अपने कार्य में सफलता प्राप्त करने के लिए एक व्यक्ति के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि उसे अपने कार्य के स्वरूप एवं उद्देश्य का ज्ञान हो। यही स्थिति एक शिक्षक की होती है। अपने व्यवसाय को सफलता पूर्वक सम्पन्न करने के लिए यह आवश्यक है कि उसे शिक्षा के स्वरूप एवं उद्देश्यों का अच्छा ज्ञान हो।चूंकि उद्देश्यों का निर्धारण दर्शन पर आधारित होता है इसलिए इसका ज्ञान उसे शिक्षा दर्शन से प्राप्त हो सकेगा।

3. पाठ्यक्रम संगठन सम्बन्धी ज्ञान के लिए -

शिक्षा के उद्देश्य के साथ-साथ एक शिक्षक के लिए यह भी आवश्यक है कि वह विभिन्न विद्वानों द्वारा प्रतिपादित पाठ्यक्रम निर्माण सम्बन्धी दर्शन से अवगत हो जाय। इस ज्ञान

से वह इस योग्य हो जाता है कि आवश्यकता पड़ने पर वह परिस्थितियों के अनुसार पाठ्यक्रम में परिवर्तन कर के और शिक्षा को सही मार्ग पर आगे बढ़ाये। अतः शिक्षक के लिए, शिक्षा दर्शन का अध्ययन आवश्यक है। बोड का विचार है कि - 'पाठ्यक्रम को ठीक प्रकार से निश्चित करने के लिए दार्शनिक आधार की आवश्यकता है।'

4. शिक्षण विधियों का ज्ञान प्राप्त करने के लिए -

प्रत्येक दार्शनिक तथा शिक्षाशास्त्री शिक्षा के उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए, उपयुक्त शिक्षण विधियों का निर्माण करता है। प्रत्येक निर्माणकर्ता का कोई न कोई एक दर्शन होता है और उसी के अनुसार वह शिक्षण विधि निर्मित करता है। शिक्षक को इन सभी शिक्षक विधियों का एवं उनके निर्माण की विचारधाराओं का ज्ञान होना चाहिए। जिससे वह अपने शैक्षिक उद्देश्यों एवं परिस्थिति के अनुसार शिक्षण विधि में परिवर्तन एवं परिवर्द्धन कर सके। यह ज्ञान केवल शिक्षा दर्शन के अध्ययन से सम्भव है। इसलिए भी शिक्षा में दार्शनिक आधार की आवश्यकता पड़ती है।

5. अनुशासन स्थापना के लिए -

आज कल विद्यालयों में अनुशासन की समस्या ने उग्र रूप धारण कर लिया है। आज बालकों को ऊपर से दबाव डालकर, धमकाकर तथा डराकर अनुशासित नहीं किया जा सकता। इस समस्या का समाधान तभी हो सकता है जबकि शिक्षक बालकों को आत्म अनुशासन की शिक्षा दें। इस कार्य में शिक्षा दर्शन शिक्षक की सहायता कर सकता है। शिक्षा दर्शन में इस समस्या पर विचार किया जाता है और अनुशासन के स्वरूपों एवं अनुशासन स्थापना की विधियों की व्याख्या की जाती है। अतः अनुशासन स्थापित करने के लिए दार्शनिक विचार की आवश्यकता है।

6. विद्यालय का स्वरूप निश्चित करने के लिए -

शिक्षा में विद्यालय का स्वरूप, स्थान एवं महत्व पर दार्शनिकों में परस्पर मतभेद है। इसलिए विद्यालयों का स्वरूप एवं शिक्षा की प्रक्रिया में उसका स्थान निश्चित करने के लिए, यह आवश्यक है कि विभिन्न मतों तथा विचारों का अध्ययन किया जाय। चूँकि शिक्षा दर्शन के अध्ययन से ही इसका ज्ञान हो सकता है। अतः शिक्षा के लिए दर्शन आवश्यक है।

7. शिक्षा की समस्याओं के समाधान के लिए -

शिक्षा के क्षेत्र में नई नई समस्याएं उत्पन्न होती रहती हैं। दार्शनिक एवं विचारक इन समस्याओं का अध्ययन करते है और उनका समाधान निकालते है । शिक्षा दर्शन में इन सब विचारों तथा प्रस्तावित समाधानों की व्याख्या की जाती है। इन व्याख्याओं और विचारों को समझे बिना शिक्षा के लिए समस्याओं का हल ढूँढ़ना कठिन है। शिक्षा दर्शन के अध्ययन से शिक्षक अपनी शैक्षिक समस्याओं का हल ढूँढता है। (इसमें हेन्डरसन की परिभाषा को दिया जा सकता है।)

8 राष्ट्रीय एकता के विकास के लिए -

किसी देश व राष्ट्र की प्रगति के लिए, राष्ट्रीय एकता की अति आवश्यकता है। लेकिन राष्ट्रीय एकता के लिए आवश्यक है कि लोग जाति, धर्म, सम्प्रदाय तथा क्षेत्र के स्वार्थ को त्याग कर भावात्मक रूप से एकीकृत हों। अतः भावात्मक एकता का विकास करने के लिए शिक्षा दर्शन शिक्षक का मार्ग प्रशस्त कर सकता है। अतः इस दृष्टिकोण से भी शिक्षा के लिए दार्शनिक आधार की आवश्यकता है।

बोध प्रश्न -

टिप्पणी - (क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिये गये स्थान का प्रयोग कीजिए।

(ख) अपने उत्तरों को इकाई के अन्त में दिये गये उत्तर से मिलान कीजिए।

8. शिक्षा दर्शन किसे कहते हैं?

----

9. शिक्षा में दार्शनिक आधार की तीन आवश्यकताओं को बताइये।

क) ---

ख) ---

ग) ---

1.9 शिक्षा और दर्शन में सम्बन्ध

दर्शन एवं शिक्षा का लक्ष्य जीवन को विकसित कर सफल बनाना है। दर्शन जीवन के आदर्शों, मूल्यों और उसकी महानता का आयोजन करता है। शिक्षा साधन के रूप में इस आयोजन की पूर्ति करती है। शिक्षा जीवन के उद्देश्यों की प्राप्ति का एक प्रबल साधन है और जीवन उद्देश्य जीवन दर्शन का ही प्रतिफल है। जेन्टाइल के अनुसार - 'लोगों का यह विश्वास भ्रमपूर्ण है कि वे सूक्ष्म दार्शनिक समस्याओं को बिना समझे ही उत्तम रीति से शिक्षण कार्य प्रतिपादित कर सकते हैं' अतः शिक्षा का आधार दर्शन है। स्पेंसर ने भी स्पष्ट शब्दों में कहा है कि 'सच्ची शिक्षा तो उच्च दार्शनिक ही प्रदान कर सकता है।'

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि शिक्षा और दर्शन में घनिष्ठ सम्बन्ध है। अब इस सम्बन्ध के विभिन्न तत्वों पर विचार करेंगे।

1. दर्शन जीवन का सैद्धान्तिक पक्ष है और शिक्षा व्यावहारिक -

किसी कार्य के दो पक्ष होते हैं - (1) सैद्धान्तिक और (2) व्यावहारिक । दर्शन विभिन्न कार्यों का सैद्धान्तिक अथवा विचारात्मक पक्ष है और शिक्षा व्यावहारिक तथा प्रयोगात्मक पक्ष

है। यहाँ पर दर्शन जीवन के लक्ष्य और सिद्धान्त का निर्माण करता है और शिक्षा उन सिद्धान्तों को व्यवहार तथा प्रयोग में लाती है, इसलिए शिक्षा को दर्शन से तथा दर्शन को शिक्षा से अलग नहीं किया जा सकता है। विद्यालय दार्शनिक विचारधाराओं की प्रयोगशाला है। इन विचारधाराओं की ही सहायता से दार्शनिक विचारों में प्रौढ़ता आती है।

2. शिक्षा दर्शन का गत्यात्मक रूप है -

जान एडम्स के अनुसार - शिक्षा दर्शन का गत्यात्मक पहलू है। व्यक्ति के दार्शनिक विचारों में परिवर्तन होने के साथ साथ शिक्षा की रूपरेखा में भी बदलाव आता है।

रास का कथन है कि जब कभी किसी दार्शनिक सिद्धान्त में किसी व्यक्ति की आस्था दृढ़ हो जाती है तो, उसकी यह प्रबल इच्छा होती है कि अन्य व्यक्ति भी उसके सिद्धान्त को अपना लें । अतः वह दूसरे व्यक्तियों को अपनी विचारधारा अपना लेने के लिए प्रभावित करने की चेष्टा करता है। निःसन्देह यह चेष्टा शैक्षिक होती है। शिक्षा की क्रियाशीलता उन्हें व्यवहारिक स्वरूप प्रदान करती है।

3. दार्शनिक ही शिक्षाविद -

दर्शन और शिक्षा का सम्बन्ध इस बात से भी जाना जा सकता है कि प्राचीन काल से अब तक जितने महान दार्शनिक हो चुके हैं। वे शिक्षा विद भी थे। इसी के साथ ही साथ जितने महान शिक्षा विद हो चुके हैं वे अपने युग के महान दार्शनिक भी थे। उदाहरण के लिए पाश्चात्य दर्शन के इतिहास में प्राचीन काल में सुकरात, प्लेटो, अरस्तू, महान दार्शनिक भी थे और शिक्षक भी थे। इसी प्रकार आधुनिक काल में लाक, रूसो, स्पेंसर, डीवी महान दार्शनिक थे और शिक्षक भी। हमारे देश में भी अनेक ऐसे उदाहरण मिलते हैं, जिनसे दर्शन और शिक्षा का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध सिद्ध होता है। जगद्गुरू वशिष्ठ कुशल शिक्षक और दार्शनिक दोनों थे तथा महात्मा गाँधी, विवेकानन्द, स्वामी दयानन्द, अरविन्द, आदि महान दार्शनिक थे और बेसिक शिक्षा, ऐंग्लो वैदिक स्कूल, रामकृष्ण मिशन स्कूल, शान्तिनिकेतन, अरविन्द आश्रम, उदाहरण हैं कि वे शिक्षा से भी सम्बन्धित थे।

4. सच्ची शिक्षा का संचालन सच्चा दार्शनिक ही कर सकता है -

वास्तव में यदि हम शिक्षा की उचित एवं लाभ प्रद योजना बनाना चाहते हैं तो हमें दार्शनिक विचारों की सहायता से शिक्षा से सम्बन्धित विचारों में स्पष्टता लानी होगी। यदि हम यह कहें कि दार्शनिक विचारधारा को समझे बिना शैक्षिक विचार अन्धकार में छलांग मारने के समान है तो यह अनुचित न होगा। इसीलिए स्पेंसर ने कहा है कि ''सच्ची शिक्षा का संचालन सच्चा दार्शनिक ही कर सकता है।''

5. दर्शन और शिक्षा एक सिक्के के दो पहलू हैं -

शिक्षा और दर्शन का आपस में घनिष्ठ सम्बन्ध है। बिना शिक्षा के दर्शन पंगु है और बिना दर्शन के शिक्षा अन्धी। इसीलिए रास ने कहा है कि - ''दर्शन एवं शिक्षा एक सिक्के के दो पहलू के समान हैं। एक में दूसरा निहित है। दर्शन जीवन का विचारात्मक पक्ष है और

शिक्षा क्रियात्मक पक्ष''।

6. दर्शन एवं शिक्षा एक दूसरे पर अन्योन्याश्रित -

शिक्षा एवं दर्शन एक दूसरे के अन्योन्याश्रित होने के कारण दोनों में घनिष्ठ सम्बन्ध पाया जाता है। जहाँ दर्शन शिक्षा को प्रभावित एवं मार्ग दर्शित करता है वहीं शिक्षा दार्शनिक दृष्टिकोण पर नियंत्रण रखती है। इसीलिए, विश्व के महान शिक्षा शास्त्री महान दार्शनिक हुए हैं। जैसे प्लेटो एक महान दार्शनिक था, क्योंकि वह महान शिक्षाशास्त्री भी था। दर्शन एवं शिक्षा की पारस्परिक निर्भरता को स्वीकार करते हुए फिक्टे ने कहा है कि -

''दर्शन की सहायता के बिना शिक्षा का उद्देश्य कभी पूरा नहीं हो सकता है।''

इसी प्रकार जेन्टाइल ने कहा है कि -

''दर्शन की सहायता के बिना शिक्षा की प्रक्रिया सही मार्ग पर नहीं बढ़ सकती है।''

7. दर्शन एवं शिक्षा दोनों का सम्बन्ध आत्मा एवं मूल्यों से है -

मानव आत्मा का रूप भौतिक, आध्यात्मिक एवं सामाजिक होता है। इन तीनों के समन्वय से ही मानव व्यक्तित्व का निर्माण होता है। इन तीनों के सूक्ष्म एवं यथार्थ स्वरूप का ज्ञान दर्शन देता है और शिक्षा इन तीनों रूपों के विकास की प्रक्रिया है। इसी प्रकार शिक्षा और दर्शन का सम्बन्ध मूल्यों से भी होता है। मूल्य क्या है? मूल्य से सम्बन्धित सभी प्रश्नों का सम्बन्ध दर्शन एवं शिक्षा दोनों से है। इन मूल्यों की प्राप्ति की प्रक्रिया में शिक्षक का कार्य दार्शनिक की भाँति होता है।

8. शिक्षा, दर्शन द्वारा निर्धारित लक्ष्यों की प्राप्ति कराती है-

दर्शन जीवन के वास्तविक लक्ष्यों को निर्धारित करता है और शिक्षा द्वारा इन लक्ष्यों की प्राप्ति की आशा करता है। इसके लिए शिक्षा की प्रक्रिया को मार्गदर्शन की आवश्यता होती है और दर्शन ही लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु उचित मार्ग दर्शन तथा संचालन करता है। इसलिए कहा गया है कि ''वास्तविक शिक्षा का संचालन वास्तविक दर्शन ही कर सकता है।''

9. शिक्षा का एक आधार दार्शनिक भी होता है -

दर्शन और शिक्षा का घनिष्ठ सम्बन्ध इसलिए भी होता है कि शिक्षा के विभिन्न आधारों जैसे दार्शनिक मनोवैज्ञानिक, समाजशास्त्रीय में से दार्शनिक आधार सबसे प्राचीन एवं महत्वपूर्ण रहा और आज भी है। यदि हम यह कहें कि शिक्षा के अन्य आधारों का समावेश दार्शनिक आधार में ही रहता है तो अनुचित न होगा। क्योंकि दर्शन एक ऐसा व्यापक शास्त्र है जिसमें किसी वस्तु या तथ्य की वास्तविक स्थिति समझने के लिए अन्य विषयों पर भी अध्ययन करना पड़ता है। शिक्षा के संदर्भ में इस समय दर्शन के 10 सम्प्रदाय हैं, जिसमें आदर्शवाद और प्रकृतिवाद प्रमुख सम्प्रदाय है। यही सम्प्रदाय शिक्षा के प्रत्येक पहलू एवं समस्या पर प्रकाश डालते हैं और इसीलिए शिक्षा, का बिना दार्शनिक आधार के कोई स्वतंत्र अस्तित्व ही नहीं है।

शिक्षा और दर्शन की परस्पराश्रयिता की उपयुर्क्त विवेचन से निम्न बातें स्पष्ट होती हैं -

1. दर्शन विचारमूलक एवं सैद्धान्तिक है।शिक्षा व्यवहारमूलक है।
2. शिक्षा के व्यवहार से ही दर्शन के सिद्धान्त प्रस्फुटित होते हैं।
3. शिक्षा, दार्शनिक विचारों के अभाव में अधूरी है।
4. शिक्षा एवं दर्शन जीवन के अभिन्न अंग हैं।
5. दार्शनिक विचार ही शैक्षिक क्रिया का पथ प्रदर्शन एवं निर्देशन करते है।

1.10 शिक्षा के विभिन्न अंगों पर दर्शन का प्रभाव

पाश्चात्य भारतीय शिक्षा दर्शन के इतिहास का अध्ययन करने पर पता चलता है कि प्राचीन काल से ही दर्शन शिक्षा के विभिन्न अंगों जैसे शिक्षा की अवधारणा, शिक्षा के उद्देश्य, पाठ्यक्रम, शिक्षण विधि, शिक्षक, विद्यार्थी, विद्यालय, अनुशासन आदि को प्रभावित करता रहा है और उससे सम्बन्धित शिक्षा की समस्याओं का समाधान करने में निर्देशक का काम करता रहा है। इसके सम्बन्ध को व्यापक रूप से अध्ययन करने के लिए शिक्षा के अंगों पर दर्शन के प्रभाव को देखना होगा।

1.10.1 शिक्षा का अर्थ, परिभाषा एवं दर्शन -

शिक्षा के अर्थ एवं स्वरूप का जीवन दर्शन से गहरा सम्बन्ध है। किसी देश व काल में जीवन की परिस्थितियों एवं आवश्यकताओं के अनुसार जैसा जीवन दर्शन विकसित होता है ठीक उसी प्रकार शिक्षा को परिभाषित किया जाता है। जैसे वैदिक काल में जीवन का उद्देश्य मोक्ष की प्राप्ति, आध्यात्मिक व चारित्रिक विकास था, लेकिन मध्यकाल में कुरान के अनुरूप शिक्षा देना तथा आधुनिक युग में योग्य नागरिकों का निर्माण आदि होने की आशा की जाती है। अतः शिक्षा के अर्थ व परिभाषा को दर्शन प्रभावित करता है।

आदर्शवाद, प्रकृतिवाद, प्रयोजनवाद, यथार्थवाद, विचारधारा के अनुसार दार्शनिकों के अलग अलग विचार है। फलस्वरूप शिक्षा की परिभाषा भी प्रभावित हुई है।

1.10.2 शिक्षा के उद्देश्य व दर्शन -

शिक्षा एक सोद्देश्य प्रक्रिया है । शिक्षा के उद्देश्य जीवन के उद्देश्यों पर आधारित होते है और जीवन के उद्देश्य देश काल, समय, पारिस्थिति की विचारधाराओं पर होता है। जब भी जीवन के उद्देश्य बदले हैं शिक्षा के उद्देश्य भी परिवर्तित हुए हैं। शिक्षा जीवन के उद्देश्य के अनुरूप अपने उद्देश्य का निर्माण करके अपने कार्य में अग्रसर होती है।

रास के अनुसार ''शिक्षा के उद्देश्य और शिक्षण विधि दार्शनिक सिद्धान्त से सम्बन्धित होते हैं।

प्राचीन काल में धर्म का बोल बाला था इस लिए उस समय शिक्षा का मुख्य उद्देश्य चारित्र निर्माण तथा मोक्ष प्राप्ति था। स्पार्टा की दार्शनिक विचारधारा के अनुसार मनुष्य के जीवन का उद्देश्य देश की रक्षा के लिए सदैव न्योछावर होना तथा वहाँ की शिक्षा का उद्देश्य योग्य, वीर, देशभक्त, सैनिकों का निर्माण करना था।

मध्यकाल में शिक्षा का उद्देश्य कुरान हदीस का उपदेश देना तथा आधुनिक काल में प्रजातांत्रिक देश अमेरिका इंग्लैण्ड, आदि में स्वतंत्रता समानता आदि को महत्व दिये जाने के कारण यहाँ की शिक्षा का उद्देश्य योग्य नागरिकों का निर्माण करना माना जाता है तथा साम्यवादी देश में शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति को राज्य के लिए निर्माण करना माना जाता है।

1.10.3 पाठ्यक्रम व दर्शन -

पाठ्यकग्रयम विद्यालय के वास्तविक लक्ष्य का दर्पण है विद्यालय का लक्ष्य समाज अथवा राष्ट्र का ही जीवन लक्ष्य है। यह लक्ष्य किसी विशिष्ट दार्शनिक विचारधारा से प्रेरित होता है। आज हम अमेरिकी विचारधारा में व्यक्ति तथा राष्ट्रीय समृद्धि की भावना की प्रधानता पाते हैं। इसीलिए वहाँ के पाठ्यक्रम में विज्ञान तथा व्यवसाय सम्बन्धी विषयों की ही प्रधानताा है। सोवियत शिक्षा योजना एवं पाठ्यक्रम में साम्यवादी दर्शन व्याप्त है।

रस्क के अनुसार - ''पाठ्यक्रम का संगठन जितना दर्शन पर आधारित होता है, उतना शिक्षा का कोई अन्य पहलू नहीं''

वोड के अनुसार - ''पाठ्यक्रम को ठीक प्रकार से निश्चित करने के लिए दार्शनिक आधार की आवश्यकता है।''

1.10.4 शिक्षण विधियाँ तथा दर्शन -

रास के अनुसार - ''शैक्षिक उद्देश्य और विधियाँ दार्शनिक सिद्धान्तों के सहसम्बन्धी है।'' यानि शिक्षण विधियाँ दर्शन से निकलती हैं। विभिन्न दार्शनिक विचारों के परिणाम ही शिक्षा के क्षेत्र में विभिन्न शिक्षण विधियाँ दिखाई देती हैं। जैसे - सुकरात ने अपने दार्शनिक विचारों के अनुसार प्रश्नोत्तर विधि को जन्म दिया। प्लेटो ने संवाद विधि, अरस्तू ने आगमन निगमन विधि तथा रूसो ने बालक को अत्यधिक स्वतंत्रता प्रदान करने का समर्थन किया। फ्रोबेल ने किंडर गार्टेन पद्धति को जन्म दिया।

इस प्रकार भिन्न-भिन्न शिक्षा शास्त्रियों तथा दार्शनिकों ने भिन्न-भिन्न पद्धतियों को ग्रहण करने का परामर्श दिया।

1.10.5 अनुशासन तथा दर्शन -

रस्क का कथन है कि - ''विद्यालय कार्य के अन्य किसी पक्ष की अपेक्षा अनुशासन किसी व्यक्ति या युग की दार्शनिक पूर्व धारणाओं को अधिक प्रत्यक्ष रूप से प्रतिबिम्बित करता है।''

अनुशासन की धारणा को विभिन्न दार्शनिक विचारधाराओं द्वारा प्रभावित किया जाता

है, क्योंकि उसका सम्बन्ध समाज एवं व्यक्ति के दर्शन से होता है। दर्शन ही इसके विकास के लिए पृष्ठ भूमि तैयार करता है। जैसे अनुशासन की स्थापना के लिए, प्रकृतिवादी, प्राकृतिक परिणामों एवं स्वतंत्रता को स्थान देते हैं। प्रयोजनवादी अनुशासन की स्थापना के लिए आनन्द रूचि तथा सामाजिक सहयोगी क्रियाओं को स्थान देते हैं। आदर्शवादी मुख्यतः आत्मनियंत्रण एवं शिक्षक के प्रभाव द्वारा अनुशासन के पक्ष में है। कुछ दमनात्मक व प्रभावात्मक अनुशासन के पक्ष में है।

1.10.6 शिक्षक और दर्शन -

विद्यालय तथा शैक्षिक पद्धति के सुसंचालन के लिए शिक्षकों की आवश्यकता होती है। अतः शिक्षक कैसा हो? शिक्षक का दृष्टिकोण कैसा हो। आदि प्रश्नों का उत्तर दर्शन ही देता है। प्रत्येक दर्शन अपने दृष्टिकोण से शिक्षक को निर्धारित करता है जैसे - प्रकृतिवादी प्रकृति को सर्वोच्च शिक्षक मानता है और मानव रूपी शिक्षक का स्थान पर्दे के पीछे निर्धारित करता है। आदर्शवादी - शिक्षक को महत्वपूर्ण स्थान प्रदान करते हैं वह उन्हें ब्रह्मा की प्रतिमा मानते है।। प्रयोजनवादी - शिक्षक को सामाजिक वातावरण के निर्माण कर्ता के रूप में देखता है। अतः शिक्षक की नियुक्ति एवं शिक्षा पद्धति में उसके स्थान का निर्धारण दर्शन द्वारा ही किया जाता है।

बोध प्रश्न -

टिप्पणी - (क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिये गये स्थान का प्रयोग कीजिए।

(ख) अपने उत्तरों को इकाई के अन्त में दिये गये उत्तर से मिलान कीजिए।

10. 'शिक्षा दर्शन का गत्यात्मक पहलू है' किसने कहा?

----

11. 'सच्ची शिक्षा का संचालन सच्चा दार्शनिक ही कर सकता है' यह विचार किसका है?

----

12. सुकरात ने किस शिक्षण विधि का सर्मथन किया है?

----

13. आदर्शवादी कौन से अनुशासन में विश्वास करते हैं?

----

14. प्रकृतिवादी अच्छा शिक्षक किसे मानता है?

1.11 सारांश

इस इकाई में शिक्षा का अर्थ, महत्व एवं आवश्यकता का वर्णन किया गया है और दर्शन के अर्थ एवं उत्पत्ति की व्याख्या की गयी है। इसके बाद शिक्षा दर्शन का अर्थ एवं शिक्षा में दार्शनिक आधार की आवश्यकता को स्पष्ट किया गया है। इसके बाद शिक्षा और दर्शन के सम्बन्धों की विवेचना की गयी है। अन्त में इस इकाई में शिक्षा के विभिन्न अंगों पर दर्शन के प्रभाव को स्पष्ट किया गया है । इस प्रकार इस इकाई से स्पष्ट होता है कि शिक्षा दर्शन की ही एक शाखा है, जिसमें दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रयोग शिक्षा के क्षेत्र में होता है। शिक्षा दर्शन शिक्षा के उद्देश्यों के निर्धारण, पाठ्यक्रम के निर्माण एंव कार्यान्वयन , जीवन के आदर्शों और मूल्यों के निर्धारण, शिक्षण विधियों के निर्धारण, विद्यालय संगठन और अनुशासन आदि से सम्बन्धित विभिन्न समस्याओं का अध्ययन करता है। इन्हीं समस्याओं के समाधान हेतु शिक्षा दर्शन की आवश्यकता होती है।

शिक्षा एवं दर्शन के सम्बन्धों पर विचार करने से ज्ञात होता है कि शिक्षा और दर्शन एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। दोनों एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। यदि एक में परिवर्तन होता है तो दूसरे में भी परिवर्तन अवश्य होता है। दार्शनिक विचारधाराओं को समझे बिना शैक्षिक विचार अंधकार की ओर ले जा सकते हैं। शिक्षा के समस्त अंग जैसे शिक्षा के उद्देश्य पाठ्यक्रम, शिक्षा विधि, शिक्षक एवं अनुशासन आदि दर्शन से प्रभावित होते हैं।

1.12 अभ्यास कार्य

1. शिक्षा के महत्व एवं आवश्यकता को स्पष्ट कीजिए।
2. शिक्षा क्या है? विश्लेषण कीजिए।
3. दर्शन की उत्पत्ति एवं अर्थ की व्याख्या कीजिए।
4. शिक्षा दर्शन का अर्थ एवं शिक्षा में दार्शनिक आधार की आवश्यकता को स्पष्ट कीजिये।
5. शिक्षा के विभिन्न अंगों पर दर्शन के प्रभावों को स्पष्ट कीजिए।

1.13 बोध प्रश्नों के उत्तर

1. मनुष्य की जीवन की सभी अवस्थाओं में जीवन को सफल, सम्पन्न एवं सार्थक बनाने के लिए।

2. बालक की जन्मजात शक्तियों का विकास करना

3. स्कूली शिक्षा, जिसमें शिक्षा का अर्थ, उद्देश्य पाठ्यक्रम एवं शिक्षण विधि सभी निश्चित होता है।

4. शिक्षा जीवन पर्यन्त चलने वाली एक उद्देश्यपूर्ण प्रक्रिया है, जिससे बालक की जन्मजात शक्तियों का विकास करके उसे सभ्य, सुसंस्कृत नागरिक बनाया जाता है।

5. जब व्यक्ति के मन में आश्चर्य, सन्देह जिज्ञासा एवं अशान्ति उत्पन्न होती है।

6. जिसके द्वारा यथार्थ तत्व की अनुभूति हो वही दर्शन है।

7. मै कौन हूँ, मैं कहाँ से आया हूँ, सृष्टि का वास्तविक रूप क्या है? इसका आदि क्या है? आदि।

8. शिक्षा दर्शन, दर्शन की एक शाखा है जिसमें दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रयोग शिक्षा के क्षेत्र में होता है।

9.क) जीवन दर्शन के चयन के लिए

ख) शिक्षा के स्वरूप एवं उद्देश्यों के ज्ञान प्राप्ति के लिए

ग) शिक्षा की समस्याओं के समाधान के लिए

10. जान एडम्स ने

11. स्पेन्सर का

12. प्रश्नोत्तर विधि का

13. प्रभाववादी अनुशासन

14. प्रकृति को

इकाई - 2 प्रकृतिवाद

संरचना

2.1 प्रस्तावना

2.2 उद्देश्य

2.3 प्रकृतिवादी दर्शन

2.4 प्रकृतिवाद के रूप

2.4.1 पदार्थ विज्ञान का प्रकृतिवाद

2.4.2 यंत्रवादी प्रकृतिवाद

2.4.3 जीव विज्ञान का प्रकृतिवाद

2.5 प्रकृतिवाद तथा शिक्षा

2.5.1 प्रकृतिवाद तथा शिक्षा के उद्देश्य

2.5.2 प्रकृतिवाद तथा बालक

2.5.3 प्रकृतिवाद तथा पाठ्यक्रम

2.5.4 प्रकृतिवाद तथा शिक्षण विधि

2.5.5 प्रकृतिवाद तथा शिक्षक

2.5.6 प्रकृतिवादी स्कूल तथा समाज

2.5.7 प्रकृतिवाद तथा अनुशासन

2.6 शिक्षा में प्रकृतिवाद की देन

2.7 सारांश

2.8 अभ्यास कार्य

2.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

2.1 प्रस्तावना

प्रकृतिवाद पाश्चात्य दार्शनिक चिन्तन की वह विचारधारा है जो प्रकृति को मूल तत्व मानती है, इसी को इस ब्रह्माण्ड का कर्ता एवं उपादान कारण मानती है।। इस व्यापक प्रकृति एवं व्यापक संसार का मूल कारण क्या है? इस सम्बन्ध में यूनानी दार्शनिक थेल्स (640-550 ई.पू.) का नाम सर्वप्रथम आता है, जिसने इस सृष्टि की रचना 'जल' से सिद्ध करने का प्रयास किया था। इसके बाद एनेक्सिजेनस तथा हेराक्लीट्स ने क्रमशः 'वायु' एवं 'अग्नि' को सृष्टि का मूल तत्व माना। परन्तु एक स्वतंत्र दर्शन के रूप में इसका बीजारोपण यूनानी

दार्शनिक डेमोक्रीटस (460-370 ई.पू.) ने किया। उन्होंने इस सृष्टि की रचना परमाणुओं के संयोग से सिद्ध करने का प्रयास किया जो विचारधारा परमाणु वाद के नाम से विख्यात हुई। किन्तु प्रकृतिवाद के जिस रूप का सम्बन्ध शिक्षा दर्शन से है उसका जन्म 18वीं शताब्दी के यूरोप की सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक एवं शैक्षिक क्षेत्र में होने वाली 'क्रान्ति' के परिणाम स्वरूप हुआ। इस क्रान्ति ने सर्वप्रथम पुनरूत्थान एवं सुधारवाद का रूप ग्रहण किया और इसके बाद यथार्थवाद एवं प्रकृतिवाद का। प्रकृतिवाद के प्रमुख समर्थक वाल्टेयर तथा रूसो ने मनुष्य को धार्मिक एवं सामाजिक बन्धनों से मुक्त कराने के लिए 'प्रकृति की ओर लौटो' का नारा दिया।

2.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप इस योग्य हो जायेंगे कि -

- प्रकृतिवादी दर्शन की अवधारणा को परिभाषित कर सकेंगे,
- प्रकृतिवाद के विभिन्न रूपों की व्याख्या कर सकेंगे,
- प्रकृतिवाद एवं शिक्षा के सम्बन्धों को बता सकेंगे,
- प्रकृतिवादी शिक्षा के उद्देश्यों को स्पष्ट कर सकेंगे,
- प्रकृतिवाद के अनुसार बालक के महत्व को बता सकेंगे,
- प्रकृतिवादी पाठ्यक्रम के विषय में जान सकेंगे,
- प्रकृतिवादी शिक्षा में शिक्षक की भूमिका को बता सकेंगे,
- प्रकृतिवादी स्कूल और समाज के सम्बन्धों को जान सकेंगे,
- प्रकृतिवादी अनुशासन की अवधारणा की व्याख्या कर सकेंगे, और
- शिक्षा में प्रकृतिवाद की भूमिका के सम्बन्ध में व्याख्या कर सकेंगे।

2.3 प्रकृतिवादी दर्शन

प्रकृतिवादी विचारक बुद्धि को विशेष महत्व देते हैं परन्तु उनका विचार है कि बुद्धि का कार्य केवल वाह्य परिस्थितियों तथा विचारों को काबू में लाना है जो उसकी शक्ति से बाहर जन्म लेते हैं। इस प्रकार प्रकृतिवादी आत्मा-परमात्मा, स्पष्ट प्रयोजन इत्यादि की सत्ता में विश्वास नहीं करते हैं। प्रो. सोर्ले का विचार है कि प्रकृतिवाद वह विचारधारा है जिसके अनुसार स्वाभाविक अथवा निर्माण की शक्ति मनुष्य के शरीर को नहीं दी जा सकती। प्रकृतिवाद सभ्यता की जटिलता की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप समाज के सम्मुख उपस्थित हुआ।

'प्रकृति' के अर्थ के संबंध में दार्शनिकों में मतभेद रहा है। एडम्स के अनुसार यह शब्द अत्यन्त जटिल है जिसकी अस्पष्टता के कारण ही अनेक भूलें होती हैं। 'प्रकृति' को तीन प्रकार से स्पष्ट किया जा सकता है। प्रथम अर्थ में प्रकृति का तात्पर्य उस विशेष गुण से है जो मानव

जीवन को विकास एवं उन्नति की ओर ले जाने में सहायक होते हैं। सर्वप्रथम रूसो ने ही प्रकृति के इस अर्थ से अवगत कराया। जिसके आधार पर डा. हाल ने 'बाल केन्द्रित शिक्षा' का स्वरूप विकसित किया। अतः प्रथम अर्थ में प्रकृति का तात्पर्य मानव स्वभाव से लिया जाता है।

'प्रकृति' का द्वितीय अर्थ 'बनावट के ठीक विपरीत' बताया गया । अर्थात् जिस कार्य में मनुष्य ने सहयोग न दिया हो वही प्राकृतिक है। 'प्रकृति' के तीसरे अर्थ के अनुसार 'समस्त विश्व' ही प्रकृति है तथा शिक्षा के अनुसार इसका तात्पर्य विश्व की क्रिया का अध्ययन तथा उसे जीवन में उतारने से है। कुछ विद्वान ऐसा मानते हैं कि मनुष्य को प्रकृति की विकासवादी श्रृंखला में बाधक नहीं बनना चाहिए। अपितु उसे अलग ही रहना चाहिये। चूँकि विकास किसी व्यक्ति के बिना नहीं हो सकता है, व्यक्ति बिना प्रयोजन कार्य नहीं कर सकता, इसलिए कुछ विद्वान ऐसा मानते हैं कि इस विकास के नियम का अध्ययन करना चाहिये तथा प्रकृति का अनुयायी हो जाना चाहिये।

इस प्रकार स्पष्ट है कि 'प्रकृति' के अर्थ के संबंध में मतैक्य नहीं है। प्राचीन सिद्धान्त के अनुसार वह मार्ग जिसमें व्यक्ति जीवन में अधिक मूल्यों की प्राप्ति कर सकता है, वह है- अपने जीवन का प्रकृति के साथ यथा संभव निकट संबंध स्थापित करना । यह विचार डेमोक्रीट्स, एपीक्यूरस तथा ल्युक्रिटियस के विचारों से साम्य रखते हैं। ये सभी विद्वान सामान्यतः ऐसे जीवन की प्राप्ति की कामना रखते थे जो यथा संभव कष्ट एवं पीड़ा से मुक्त हो। अधिकांश प्रकृतिवादियों ने सर्वोच्च श्रेय का विवेचन करते हुए उसे श्रेष्ठ एवं शाश्वत सुख माना है। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि प्रकृतिवाद का नीतिशास्त्र सुखवादी है।

2.4 प्रकृतिवाद के रूप

प्रकृतिवाद के निम्नलिखित तीन प्रमुख रूप बताये गये हैं -

2.4.1 पदार्थ विज्ञान का प्रकृतिवाद -

यह विचारधारा पदार्थ विज्ञान पर आधारित है। इसके अनुसार समस्त प्रकृति में अणु विद्यमान है । ये अणु वायुमण्डल में गतिशील रहते हैं। जगत की रचना इन्हीं अणुतत्वों से हुई है। जीव और मन सभी का निर्माण भौतिक तत्वों के संयोग से हुआ है। पदार्थ विज्ञान केवल बाह्य प्रकृति के नियमों का अध्ययन करता है और इन्हीं नियमों के आधार पर अनुभव के प्रत्येक तथ्यों की व्याख्या करता है। अतः प्रकृति के नियम सर्वोपरि हैं। यह मनुष्य को भी पदार्थ विज्ञान के नियमों के अनुसार समझने का प्रयास करता है। इसका मनुष्य की आन्तरिक प्रकृति से कोई प्रयोजन नहीं है किन्तु शिक्षा एक मानवीय प्रक्रिया है जिसका संबंध मानव की आन्तरिक प्रकृति से है। अतः शिक्षा के क्षेत्र में पदार्थ विज्ञान के प्रकृतिवाद का कोई विशेष योगदान नहीं है।

2.4.2 यन्त्रवादी प्रकृतिवाद -

इस सम्प्रदाय के अनुसार सृष्टि यन्त्रवत है जो पदार्थ और गति का बना है। इस

प्राणहीन यन्त्र में कोई ध्येय, प्रयोजन या आध्यात्मिक शक्ति नहीं है। मानव यद्यपि इस जगत का सर्वश्रेष्ठ प्राणी है। तथापि उसमें स्वचेतना नहीं होता, उसका व्यवहार वाह्य प्रभावों के कारण नियंत्रित होता है। ज्यों-ज्यों मानव वाह्य वातावरण के सम्पर्क में आता है, मानव यन्त्र सुचारू रूप से क्रिया करता रहता है। मनुष्य की प्रयोजनशीलता, क्रियात्मकता उसके आत्मिक गुणों की विवेचना इस विचारधारा में संभव नहीं है। पशु की स्थिति, यन्त्र की स्थिति तथा मनुष्य की स्थिति तीनों में अन्तर है। अतः मनुष्य की शिक्षा भिन्न प्रकार से होनी चाहिए। इसलिए शिक्षा के क्षेत्र में यन्त्रवादी प्रकृतिवाद का कोई विशेष योगदान नहीं है।

2.4.3 जीव विज्ञान का प्रकृतिवाद -

यह विचारधारा 'विकास के सिद्धान्त' में विश्वास रखती है। इसलिए इस विचारधारा का उदगम डार्विन के क्रम विकास सिद्धान्त से हुआ है। इस मत के अनुसार जीवों के क्रम विकास में मनुष्य सबसे अन्तिम अवस्था में है। मस्तिष्क विकास के कारण ही मनुष्य ने भाषा का विकास किया जिसके फलस्वरूप वह ज्ञान को संचित रख सकता है। नये विचार उत्पन्न कर सकता है तथा सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन का विकास कर पाया है । अन्य सभी दृष्टियों से मनुष्य अन्य प्राणियों से भिन्न नहीं है। उसकी नियति तथा विकास की संभावनायें वंशक्रम तथा परिवेश पर निर्भर करती हैं। उसमें किसी प्रकार की इच्छा शक्ति जैसी कोई चीज नहीं होती। वास्तव में इस प्रकृतिवाद से मनुष्य की पूर्व स्थिति का ज्ञान किया जा सकता है। किन्तु उसके भविष्य के आदर्शों की कल्पना भी नहीं कर सकते हैं। यह कमी होते हुए भी इस प्रकृतिवाद का शिक्षा में योगदान माना जा सकता है।

बोध प्रश्न -

टिप्पणी - (क) अपने उत्तरों को नीचे दिये गये स्थान में लिखियें।

(ख) इकाई के अन्त में दिये गये उत्तर से अपने उत्तर मिलाइये।

1. प्रकृतिवाद के विभिन्न रूप कौन से हैं?

2.5 प्रकृतिवाद तथा शिक्षा

प्रकृतिवाद एक दार्शनिक विचारधारा है जो पदार्थ को आधार एवं यथार्थ मानती है तथा जगत, जीव और मनुष्य सभी उसी से निर्मित है। इस विचारधारा के प्रमुख प्रवर्तक के रूप में सामान्यतः रूसो का ही नाम लिया जाता है। रूसो ने यद्यपि प्रकृतिवाद के नारे को जोरदार ढंग से ऊँचा किया किन्तु वह भी प्लेटो जैसे विचारवादी दार्शनिक से प्रभावित था। उसके विचार प्लेटों से प्रथावित थे। इसलिए रूसो की प्रकृतिवाद का स्वरूप आदर्शवादी उद्देश्यों की पृष्ठभूमि पर निर्मित प्रतीत होता है। ब्रुबेकर का ऐसा विचार है कि रूसो एक रोमांटिक

प्रकृतिवादी था। बालक की रूचि तथा योग्यता, बन्धन से दूर, प्राकृतिक स्थल पर शिक्षा की व्यवस्था इत्यादि बातों के आधार पर हम रूसों को प्रकृतिवदी नहीं कह सकते हैं। क्योंकि यदि मात्र बालक की स्वाभाविक रूचि पर बल देने तथा प्रकृति से प्रेम के बल पर यदि रूसो को प्रकृतिवादी कहा जा सकता है तो हमें प्लेटो को भी इसी श्रेणी में सम्मिलित करना होगा।

रस्क, डोनेल्ड बटलर इत्यादि दार्शनिक मानते हैं कि हरबर्ट स्पेन्सर वास्तव में प्रकृतिवादी हैं। बेकन एवं कमेनियस भी प्रकृतिवादी विचारधारा से जुड़े प्रतीत होते हैं। किन्तु प्रकृतिवाद को अपनी चरम सीमा पर पहुँचाने का श्रेय स्पेन्सर एवं रूसों को ही दिया जा सकता है। रूसों के सम्बन्ध में आश्चर्य व्यक्त करते हुए राबर्ट हरबार्ट ने लिखा है कि रूसो जैसे पतित व्यक्ति का इतना प्रभाव आश्चर्य जनक है। चूँकि दूषित समाज का रूसों भी एक अङ्ग था, इसलिए उसका नैतिक पतन होना स्वाभाविक था। अतः रूसो ने तत्कालीन समाज के विषय में सार्वभौमिक कथन कह डाला, - 'मनुष्य की संस्थायें विरोधी तत्वों एवं भूलों का पिण्ड है। तथा समाज द्वारा स्थापित नियमों के विरूद्ध कार्य करने पर सही कार्य संभव हो सकेगा।' रूसों ने 'प्रकृति की ओर लौटो' का जो नारा दिया उससे यही संकेत निकलता है कि वह छात्रों को दूषित समाज से दूर गाँव की प्राकृतिक छत्र छाया में ले जाना चाहता था। वास्तव में यह 'वाद' 18वीं शताब्दी की यूरोप की सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक एवं शैक्षिक क्षेत्र में होने वाली 'क्रान्ति' के परिणाम स्वरूप हुआ। यह क्रान्ति विशेष रूप से तत्कालीन रूढ़िवादिता एवं अंध विश्वासों से ग्रसित धार्मिक संस्थाओं के विरूद्ध हुई थी।

2.5.1 प्रकृतिवाद तथा शिक्षा के उद्देश्य -

यन्त्रवादी प्रकृतिवाद ने व्यवहारवादी मनोविज्ञान को जन्म दिया जिसके अनुसार प्रत्येक मनुष्य कुछ सहज क्रियाएं लेकर पैदा होता है। जब ये सहज क्रियाएं बाह्य पर्यावरण के सम्पर्क में आती है तो सम्बद्ध सहज क्रियाओं का निर्माण होता है ये सम्बद्ध सहज क्रिया मनुष्य को विभिन्न कार्य में सहायता प्रदान करती हैं। इसलिए यन्त्रवादी प्रकृतिवादी मानव में उचित तथा उपयोगी सम्बद्ध सहज क्रियाएं उत्पन्न करना ही शिक्षा का उद्देश्य मानते हैं।

जीव विज्ञान के सिद्धान्तों में विश्वास रखने वाले प्रकृतिवादियों के अनुसार शिक्षा का चरम लक्ष्य सुख एवं आनन्द की प्राप्ति कराना है किन्तु मैक्डूगल महोदय ने यह सिद्ध किया था कि हम मूल प्रवृत्तियों के कारण कार्य करते हैं, सुख दुःख तो प्रतिफल है। इसलिए शिक्षा का उद्देश्य मूल प्रवृत्तियों का रूपान्तर तथा शोधन करना है, ताकि छात्र की प्रवृत्तियों में पुनर्निर्देश तथा एकीकरण द्वारा नवीन सामंजस्य उत्पन्न हो जाए जिससे वह सामाजिक एवं नैतिक मूल्यो के अनुकूल आचरण कर सके।

जीवविज्ञानवादियों के अनुसार प्रत्येक प्राणी में जीने की इच्छा होती है। और अपने जीवन की रक्षा के लिए उसे अपने वातावरण से सदैव संघर्ष करना पड़ता है। डार्विन ने इस सम्बन्ध में दो सिद्धान्त दिये हैं - जीवन के संघर्ष तथा समर्थ का अस्तित्व । इसलिए डार्विन मनुष्य को सामर्थ्यवान तथा शक्तिशाली बनाना चाहते हैं, जिससे जीवन संग्राम में वे सफलता प्राप्त कर सकें। किन्तु लैमार्क के अनुसार वातावरण के अनुरूप परिवर्तन शीलता के गुणों की

शिक्षा देना ही उचित उद्देश्य है।

बर्नार्ड शा जैसे लोग प्रकृति की विकासवादी गति को ही तीव्र करना चाहते हैं। इसलिए सामाजिक अथवा जातीय विरासत के रूप में प्राप्त संस्कृति को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक पहुँचाना तथा उनका संरक्षण करना शिक्षा का उद्देश्य निर्धारित किया है।

सुख एंव दुख के सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य सुख प्राप्ति वाले कार्य करता है और दुख देने वाले कार्यों से बचने का प्रयास करता है। यह बात सही नहीं है। क्योंकि मनुष्य कभी कभी कर्तव्य के लिए प्राण भी दे देता है। इस संबंध में टी.पी. नन महोदय का विचार ज्यादा समीचीन प्रतीत होता है। यद्यपि नन महोदय आदर्शवादी विचारधारा के अधिक समर्थक हैं किन्तु शिक्षा के उद्देश्य के सम्बन्ध में उन्होंने जीव वैज्ञानिक एवं प्रकृतिवादी दृष्टिकोण से विचार किया है। उनके अनुसार मानव के व्यक्तित्व का स्वतंत्र रूप से विकास करना ही शिक्षा का मुख्य उद्देश्य है। नन के अनुसार वैयक्तिकता से तात्पर्य आत्मानुभूति और आत्म प्रकाशन है। इस प्रकार शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति में निहित जन्मजात शक्तियों के स्वतंत्र तथा अवरोधहीन विकास में सहायता प्रदान करना है।

बोध प्रश्न -

टिप्पणी - (क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिये गये स्थान में लिखिये।

(ख) इकाई के अन्त में दिये गये उत्तर से अपने उत्तर मिलाइये।

2. प्रकृतिवादी शिक्षा के प्रमुख उद्देश्य क्या हैं?

2.5.2 प्रकृतिवाद तथा छात्र -

इस संबंध में दो विचार व्यक्त किया जाता है। प्रथम विचार के समर्थक वुड्सवर्थ हैं जिनके अनुसार बालक स्वर्ग से प्रकाशमान रूप में आता है, परन्तु यहाँ आकर वह अपने वैभव को खो देता है,क्योंकि वहएक अबोध बालक ही होता है। इसलिए उसके वर्तमान सुखों से युक्त शिक्षा का प्रबन्ध होना चाहिए। दूसरा विचार जेरेमिया इत्यादि व्यक्तियों का है जो बालक को पाप के कारण उत्पन्न मानते हैं तथा उसे केवल कठोर अनुशासन में रखकर, उसकी स्वाभाविक प्रवृतियों को समाप्त करना ही शिक्षा की विधि तथा ईश्वरोन्मुख करना शिक्षा का उद्देश्य मानते हैं । किन्तु इस विचार को अधिक महत्व नहीं दिया जा सकता है क्योंकि यह विचार पाश्विक प्रतीत होता है। इस विचारधारा के अनुसार बालक की शिक्षा उसके स्वभाव पर आश्रित होनी चाहिए जिसके मूल में आदिम संवेग, मौलिक इच्छायें तथा प्राकृतिक मनोवृत्तियां निहित हैं। वास्तविक शिक्षा तो वह है जो बालक की रूचि, योग्यता एवं झुकाव के अनुरूप हो। बालक के लिए अनुशासन तथा बन्धन नाम मात्र के होने चाहिए। प्रकृतिवादी बालक को वस्तुतः निर्माणोन्मुख मानव मानते हैं न कि उसे मानव का एक लघु रूप । उसकी प्रकृति सतत् विकसित होती रहती है। इसलिए सभी को इन उद्देश्यों की पूर्ति की ओर ही विशेष ध्यान देना चाहिये।

बोध प्रश्न -

टिप्पणी - (क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिये गये स्थान में लिखिये।

(ख) इकाई के अन्त में दिये गये उत्तर से अपने उत्तर मिलाइये।

3. प्रकृतिवादी व्यवस्था में विद्यालय की पाठ्यचर्या बच्चे की प्रकृति तथा उसकी आवश्यकता से निकलती है।' स्पष्ट करें।

2.5.3 प्रकृतिवाद तथा पाठ्यक्रम -

प्रकृतिवादी पाठ्यक्रम का आख्यान स्पेन्सर की पुस्तक से प्राप्त होता है। उनके पाठ्यक्रम की विशेषता यह है कि सम्पूर्ण पाठ्यक्रम का आधार विज्ञान माना गया है। क्योंकि स्पेन्सर के अनुसार विज्ञान द्वारा ही समग्र जीवन जीना संभव है। समग्र जीवन के उद्देश्य की पूर्ति के लिए स्पेन्सर ने निम्नलिखित पाठ्यक्रम प्रस्तुत किया है।

1. आत्म रक्षा के लिए स्पेन्सर शरीर विज्ञान का ज्ञान आवश्यक मानते हैं। उनके अनुसार शरीर विज्ञान के परिचय द्वारा व्यक्ति को स्वस्थ जीवन बिताने में सहायता मिलती है।

2. जीवन की मौलिक आवश्यकताओं की पूर्ति किसी धन्धे, रोजगार में लगकर की जा सकती है और इसके लिए गणित, यांत्रिकी, भौतिकी, रसायनशास्त्र तथा जैविकी का अध्ययन आवश्यक है।

3. सामाजिक एवं राजनैतिक संबंधों का सुचारू रूप से निर्वहन की योग्यता प्राप्त करने के लिए सामाजिक विज्ञानों का अध्ययन आवश्यक है।

4. अवकाश के समय के सदुपयोग के लिए जो साहित्य, संगीत तथा ललित कलाओं की आवश्यकता है। उनकी उचित श्लाघा के लिए भी शरीर विज्ञान, मनोविज्ञान, भौतिकी इत्यादि विज्ञानों की आवश्यकता होती है। अतः अवकाश कालीन शिक्षा को सार्थक बनाने के लिए भी विज्ञान की पूर्वापेक्षा रहती है।

2.5.4 प्रकृतिवाद तथा शिक्षण विधि -

प्राचीन कालीन शिक्षण पद्धति में अध्यापक क्रियाशील रहते थे। बालकों का स्थान गौण था किन्तु बालक की क्रियाशीलता पर अधिक बल प्रकृतिवादियों ने दिया। ये रटने तथा निष्क्रिय अभ्यास की विधि का विरोध करते हैं तथा 'करके सीखने' एवं 'अनुभव द्वारा सीखने' के सिद्धान्तों पर आधारित विधियों के प्रयोग पर बल देते हैं। इसके अतिरिक्त प्रकृतिवादी विचारधारा ने प्रोजेक्ट मेथड, स्काउट, आन्दोलन, स्कूल यूनियन, बालक क्लब इत्यादि को जन्म दिया। प्रकृतिवादी शिक्षण विधि के निम्नलिखित सिद्धान्त पर विशेष महत्व देते हैं-

(1) बालक की शिक्षा उसके मानसिक एवं शारीरिक विकास के अनुकूल होनी चाहिए।

(2) शिक्षा सुखमय होनी चाहिए।

(3) शिक्षा में बालक को स्वयं क्रियाशील होने के लिए प्रेरित करना चाहिए।

(4) शिक्षा प्राकृतिक विकास का अनुगमन करें। इसके पूर्व बालक का नैतिक अथवा मानसिक विकास अनावश्यक है।

(5) शिक्षा प्रणाली में आगमन प्रविधि का ही प्रयोग होना चाहिये।

(6) छात्रों को दिया जाने वाला दण्ड प्राकृतिक होना चाहिए।

(7) शब्द ज्ञान पर अधिक महत्व न देकर वस्तुओं अथवा अनुभवों पर विशेष बल देना चाहिये।

2.5.5 प्रकृतिवाद तथा शिक्षक -

प्रकृतिवादी शिक्षा में शिक्षक को गौण स्थान प्राप्त है। प्रकृतिवादी विचारक प्रकृति को ही वास्तविक शिक्षिका मानते हैं । उनके विचार से बालक को समाज से दूर रखकर प्राकृतिक वातावरण में शिक्षा प्राप्त करने का अवसर देना चाहिए। रूसों के अनुसार शिक्षक पर समाज के कुसंस्कारों का प्रभाव इतना पड़ गया होता है कि वह बालकों को सद्गुणी बनाने का प्रयास भले ही कर लें, वह उन्हें सदगुणी बना नहीं सकता क्योंकि वह स्वयं सद्गुणी नहीं है। इसलिए रूसों बालक की आरम्भिक शिक्षा में शिक्षक को कोई स्थान नहीं देना चाहते। अन्य प्रकृतिवादी रूसो के अतिरेक को स्वीकार नहीं करते । वे बालकों की शिक्षा में शिक्षक की भूमिका मात्र सहायक एवं पथ प्रदर्शक के रूप में मानते हैं । इसलिए शिक्षक को मनोविज्ञान का ज्ञाता होना चाहिये। बालक की मनोकामनाएं, आवश्यकताएं रूचियाँ तथा उनके मानसिक विकास का उसे परिज्ञान होना चाहिए। शिक्षक के लिए बालक की स्वतः आत्मस्फूर्त क्रियाओं का जानना आवश्यक है। क्योंकि छात्र इन स्वतः शक्तियों द्वारा अपनी शिक्षा स्वयं करता है, शिक्षक तो केवल उचित परिस्थितियों का संयोजन मात्र करता है। यदि सीखने का परिणाम सुखद होता है तो बालक सीखने में आनन्द लेता है। तथा उक्त शैक्षिक अनुभव की बार बार आवृत्ति करता है। शिक्षक से यह अपेक्षा की जाती है कि वह बालक के लिए अनुकूलित वातावरण तैयार करे।

2.5.6 प्रकृतिवादी स्कूल तथा समाज -

रूसो के अनुसार स्कूल स्वयं एक विशेष प्रकार का समाज है। इस समाज के द्वारा बालकों को भावी समाज के योग्य बनाया जाता है। इसी समाज द्वारा वह स्वानुशासन की भावना सीखता है। नेतृत्व करने तथा प्रकृतिवादी उद्देश्यों की पूर्ति करने हेतु अपने को तैयार करता है। इस प्रकार के स्कूली समाज का बन्धन कठोर नहीं होता। यद्यपि रूसो ने स्कूल में एक छात्र तथा एक अध्यापक की कल्पना किया है। सामान्यतः प्रकृतिवादी किसी प्रकार से औपचारिक शिक्षा का विरोध करते हैं। इसीलिए इसमें विद्यालय को कोई महत्वपूर्ण स्थान न देकर बालकों को दूषित वातावरण से दूर और प्राकृतिक वातावरण के बीच रहकर शिक्षा प्राप्त करने को कहा गया है। इन्हीं विचारों के कारण प्रकृतिवादी विचारक स्कूलों को कृत्रिम कठोर

एवं दृढ़ बन्धनों वाली संस्था नहीं चाहते । प्रकृतिवादियों के अनुसार स्कूल में पाठ्यक्रम एवं सहगामी क्रियाओं इत्यादि से संबंधित विषयों की व्यवस्था में बालकों का भी प्रतिनिधित्व आवश्यक होता है। इसलिए उन्हें भ्रमण, देशाटन, खेल कूद, स्काउटिंग, समाज सेवा इत्यादि कार्यक्रमों की स्वयं ही व्यवस्था करने की स्वतंत्रता देनी चाहिये। शिक्षकों को केवल पथ प्रदर्शक की भूमिका का निर्वहन करना चाहिए।

बोध प्रश्न -

टिप्पणी - (क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिये गये स्थान में लिखिये।

(ख) इकाई के अन्त में दिये गये उत्तर से अपने उत्तर मिलाइये।

4. प्रकृतिवादी व्यवस्था में विद्यालय की अवधारणा बताइये।

2.5.7 प्रकृतिवाद तथा अनुशासन -

प्रकृतिवादी विचारक शिक्षा में अनुशासन को महत्व नहीं देते है। वे 'कारण एवं परिणाम' के नियम में विश्वास करते हैं। उनके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति जो कर्म करता है,उसका परिणाम वह अवश्य भोगता है । ये परिणाम सुखकर एवं दुखकर दोनों ही होते हैं । इस आधार पर अनुशासन स्थापित करने के दो उपनियम दिखाई देते हैं - (1) रूसो द्वारा प्रतिपादित प्राकृतिक परिणामों का सिद्धान्त (2) स्पेन्सर द्वारा प्रतिपादित सुख दुख का सिद्धान्त। रूसो के सिद्धान्त के अनुसार बालक के बुरे कार्यों का दण्ड प्रकृति अवश्य देती है। इसलिए उसे किसी प्रकार का दण्ड न देकर प्राकृतिक दण्ड द्वारा अनुशासित होने दिया जाना चाहिये, जबकि स्पेन्सर के सिद्धान्त के अनुसार बालक सुखदायी कार्यों को बार बार दुहराना चाहता है। क्योंकि उससे उसे सुख की अनुभूति होती है जबकि वह दुखद कार्यों को छोड़ देता है, क्योंकि उससे उसे कष्ट होता है । इस प्रकार बालक अनुशासित ढंग से व्यवहार करने लगता है और उसमें स्वानुशासन की भावना विकसित होने लगती है।

कुछ प्रकृतिवादी विचारक शिक्षा व्यवस्था में अनुशासन की स्थापना हेतु किसी भी प्रकार के 'दमनात्मक सिद्धान्त' का विरोध करते हैं। उनका विचार है कि बालकों पर शिक्षकों का प्रभाव विशेष रूप से पड़ता है। इसलिए बालकों में अनुशासन की भावना विकसित करने हेतु 'प्रभावात्मक सिद्धान्त का सहारा लेना चाहिए, जबकि अनेक प्रकृतिवादी विचारक यह मानते हैं कि अनुशासन की स्थापना प्राकृतिक नियमों के अनुसार हो तो ज्यादा अच्छा होता है । इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि प्रकृतिवादी बालकों में स्वानुशासन की भावना के विकास के लिए 'मुक्तात्मक सिद्धान्त' पर विशेष बल देते हैं।

बोध प्रश्न -

टिप्पणी - (क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिये गये स्थान में लिखें।

(ख) इकाई के अन्त में दिये गये उत्तर से अपने उत्तर मिलाइये।

5. प्रकृतिवाद के अनुसार अनुशासन का स्वरूप कैसा होना चाहिये?

2.6 शिक्षा में प्रकृतिवाद की देन

यदि हम शिक्षा के सन्दर्भ में प्रकृतिवाद का मूल्यांकन करें तो हमें उसमें अनेक गुण नजर आते हैं -

1) बालक का शिक्षा में प्रमुख स्थान प्रकृतिवाद की विशेषता है। एक समय था जब शिक्षा पूर्णतया आदर्शवादी थी और शिक्षक, पाठ्यक्रम, चरित्र इत्यादि का वर्चस्व था तथा बालक का स्थान गौण था किन्तु प्रकृतिवाद के कारण बालक एवं उसकी रूचियों प्रवृत्तियों एवं आवश्यकताओं को केन्द्रीय स्थान दिया जाता है जिसके कारण 'बाल केन्द्रित शिक्षा' अस्तित्व में आयी।

2) 'बाल मनोविज्ञान' के अध्ययन की प्रेरणा भी इसी विचारधारा ने दी । आज शिक्षा के क्षेत्र में जो मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति का प्रचलन है। यह प्रकृतिवाद के प्रभाव का ही परिणाम है। मनोविज्ञान की एक विशेष शाखा 'मस्तिष्क विश्लेषण' को तो विशेष प्रोत्साहन मिला। लिंग भेद की ओर इस मनोविज्ञान की विशेष देन है। इसके प्रति इसने एक स्वस्थ विचारधारा को जन्म दिया।

3) प्रकृतिवादी विचारधारा ने शिक्षण विधि में शब्दों की अपेक्षा अनुभवों पर अधिक बल दिया। उनका विचार है कि केवल शब्द शिक्षा के लिए आवश्यक गुण नहीं है। अपितु अनुभव भी आवश्यक है। इसलिए इसने शिक्षण के अनेक नवीन सिद्धान्तों एवं विधियों को जन्म दिया। 'करके सीखना', निरीक्षण एवं अनुभव द्वारा सीखना, खेल द्वारा सीखना, इत्यादि नवीन शिक्षण सिद्धान्त तथा 'ह्युरिस्टिक पद्धति', 'डाल्टन पद्धति', मान्टेसरी पद्धति इत्यादि नवीन शिक्षण विधियाँ प्रकृतिवाद की ही देन है।

4) प्रकृतिवाद का एक अन्य योगदान यह है कि इसने शिक्षा मनोविज्ञान एवं समाजशास्त्र का प्रकृतिवादी स्वरूप एवं आधार प्रदान किया जिसके परिणाम स्वरूप आधुनिक शिक्षा मनोविज्ञान तथा समाजशास्त्र का अस्तित्व आया।

5) शिक्षा के सन्दर्भ में प्रकृतिवाद का सबसे उल्लेखनीय योगदान शिक्षा सम्बन्धी विभिन्न परम्परावादी धारणाओं में क्रान्तिकारी परिवर्तन होना है। प्रकृतिवादियों के 'प्रकृति की

ओर लौटो' के नारे ने हमारी सभ्यता एवं संस्कृति की परम्परात्मक धारणा में क्रान्तिकारी परिवर्तन उत्पन्न कर दिया जिसके परिणामस्वरूप समाज एवं राज्य दर्शन के रूप में लोकतन्त्र का जन्म हुआ। कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि प्रकृतिवाद आदर्शवाद के बिल्कुल विपरीत विचारधारा है जो कि इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष होने वाले भौतिक प्राकृतिक पदार्थ जगत को सत्य वास्तविकता मानती है।

2.7 सारांश

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि प्रकृतिवाद एक ऐसी विचारधारा है जो कि विचार, मन अथवा आत्मा को सत्य, वास्तविकता न मानकर इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष होने वाले भौतिक प्राकृतिक पदार्थ जगत को सत्य एवं वास्तविक मानती है। इस विचार धारा का शिक्षा के विभिन्न अंगों पर क्रान्तिकारी प्रभाव पड़ा, जिसके परिणाम स्वरूप शिक्षा पूर्ण रूपेण 'बाल केन्द्रित' तथा व्यावहारिक हो गयी। इस नवीन विचारधारा ने न केवल शिक्षा के क्षेत्र को प्रभावित किया अपितु सभी प्राकृतिक एवं सामाजिक विज्ञानों पर गहरा प्रभाव डाला जिसके कारण जहाँ एक तरफ विज्ञान के क्षेत्र में अदभुत उन्नति हुई तो दूसरी ओर आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक एवं सांस्कृतिक परिवर्तन के फलस्वरूप मानव सुख, मानव कल्याण तथा मानव प्रगति की ओर विशेष ध्यान दिया जाने लगा। प्रकृतिवाद ने जहाँ एक ओर जन शिक्षा की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया वहीं दूसरी ओर स्त्री शिक्षा की व्यवस्था की वकालत की। इसके अतिरिक्त प्रकृतिवाद ने हमें अन्ध विश्वासों और कूपमण्डूकता से निकाल कर भौतिक संसार की वास्तविकता से भी परिचित कराया। आज शिक्षा के क्षेत्र में जो मनोवैज्ञानिक समाजशास्त्रीय एवं वैज्ञानिक प्रवृत्तियां दिखाई देती हैं उसका श्रेय प्रकृतिवाद को जाता है।

2.8 अभ्यास कार्य

1. प्रकृतिवाद से क्या तात्पर्य है? उसके आधारभूत सिद्धान्तों एवं प्रमुख तत्वों की विवेचना करें।
2. 'प्रकृतिवाद शिक्षण विधियों के क्षेत्र में नहीं अपितु शैक्षिक उद्देश्यों के क्षेत्र में असफल रहता है' क्या आप इस कथन से सहमत है? यदि हाँ तो अपने पक्ष में तर्क दीजिये।
3. 'अनुशासन आदर्शवादियों का नारा है तथा स्वतंत्रता के लिए प्रकृतिवादी शोर मचाते है।' इस कथन की विवेचना कीजिये।
4. 'प्रकृति की ओर लौटो' के सिद्धान्त का प्रतिपादन प्रकृतिवाद किस प्रकार करता है? अपने उत्तर की पुष्टि हेतु उदाहरण प्रस्तुत करें।
5. प्रकृतिवाद के गुण दोषों पर प्रकाश डालते हुए वर्तमान शिक्षा के सन्दर्भ में उसका मूल्यांकन करें।

2.9 बोध प्रश्न के उत्तर

1. (1) भौतिकवादी प्रकृतिवाद

   (2) यन्त्रवादी प्रकृतिवाद

   (3) जीव विज्ञानवादी प्रकृतिवाद

2. (1) आत्म प्रकाशन

   (2) वातावरण के साथ अनुकूलन

   (3) वैयक्तिकता का स्वाभाविक विकास

   (4) आत्म संरक्षण

   (5) मूल प्रवृत्तियों का शोधन एवं मार्गान्तीकरण

3. प्रकृतिवादियों की दृष्टि में बच्चा शैक्षिक प्रणाली का केन्द्रक है। किसी भी शैक्षिक कार्यकलाप का केन्द्र बच्चा होता है न कि शिक्षक, विद्यालय, पाठ्यपुस्तक अथवा अध्ययन विषय।

4. प्रकृतिवाद विद्यालय को एक स्वतंत्र वातावरण के रूप में स्वीकार करता है, जहाँ पर कि बालक अपना स्वाभाविक एवं स्वतंत्र विकास कर सके। उनके अनुसार 'प्रकृति' ही सर्वोत्तम विद्यालय है।

5. प्रकृतिवाद 'मुक्त्यात्मक अनुशासन पर बल देता है। वह बालक की अनियन्त्रित स्वतंत्रता का समर्थक है और 'प्राकृतिक परिणामों द्वारा अनुशासन' पर विश्वास करता है।

इकाई - 3 आदर्शवाद

संरचना

3.1 प्रस्तावना

3.2 उद्देश्य

3.3 आदर्शवाद का अर्थ

3.4 जीवन – दर्शन तथा आदर्शवाद

3.5 शिक्षा में आदर्शवाद

- 3.5.1 शिक्षा के उद्देश्य तथा आदर्शवाद
- 3.5.2 शिक्षा पद्धति तथा आदर्शवाद
- 3.5.3 पाठ्यक्रम तथा आदर्शवाद
- 3.5.4 शिक्षक एंव आदर्शवाद
- 3.5.5 अनुशासन तथा आदर्शवाद
- 3.5.6 आदर्शवाद का मूल्याङ्कन

3.6 सारांश

3.7 अभ्यास कार्य

3.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

3.1 प्रस्तावना

आदर्शवाद मानव-जीवन की सबसे प्राचीन दार्शनिक विचारधारा है और जब से मानव ने विचार एवं चिन्तन प्रारम्भ किया तबसे यह विचारधारा अपना अस्तित्व बनाये हुए है। किन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से पाश्चात्य देशों में इसका विकास 'सुकरात' तथा उसके शिष्य प्लेटों से माना जाता है। यदि भौतिकवाद तथा प्रकृतिवाद में चरम सत्ता जड़ प्रकृति है तो इसके ठीक विपरीत आदर्शवाद में यह सत्ता मनस अथवा आत्मा है। पाश्चात्य दर्शन में मनस (mind) को मस्तिष्क के अर्थ में प्रयुक्त नहीं किया जाता अपितु 'आत्मा' के पर्याय के रूप में प्रयुक्त किया जाता है। प्रकृतिवाद के अनुसार मानव-मनस की व्याख्या जड़ द्रव्य के माध्यम से की जा सकती है। इसके विपरीत आदर्शवादी जड़ प्रकृति को भी वास्तविक नहीं मानता, अपितु उसे मनस की अभिव्यक्ति मात्र मानता है। आदर्शवाद को बढ़ते हुए महत्व एवं प्रभाव के कारण शिक्षा के क्षेत्र में इसको महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ तथा शिक्षा के विभिन्न अंगों का निर्धारण आदर्शवादी

विचारधारा के आधार पर हुआ। इस इकाई में शिक्षा में आदर्शवाद की वास्तविक स्थिति को समझने के लिए आदर्शवाद के सन्दर्भ में शिक्षा के विभिन्न अंगों पर प्रकाश डालेंगे।

3.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप इस योग्य हो जायेंगे कि-

- आदर्शवादी दर्शन की अवधारणा को बता सकेंगे,
- आदर्शवाद एवं शिक्षा के सम्बन्धों को बता सकेंगे
- आदर्शवादी शिक्षा के उद्देश्यों की व्याख्या कर सकेंगे
- आदर्शवादी पाठ्यक्रम के विषय में जान सकेंगे,
- आदर्शवादी शिक्षक के गुणों को बता सकेंगे,
- आदर्शवादी अनुशासन की अवधारणा को स्पष्ट कर सकेंगे और
- आदर्शवादी के गुण-दोषों की व्याख्या कर सकेंगे।

3.3 आदर्शवाद का अर्थ

प्रायः साहित्य में आदर्शवाद की चर्चा हुआ करती है। शिक्षा और दर्शन में जिस आदर्शवाद का प्रयोग किया जाता है वह साहित्यिक आदर्शवाद से भिन्न होता है। यद्यपि दर्शन में आदर्शवाद 'आदर्शों' की व्याख्या तो करता है किन्तु उसका मुख्य विषय 'आदर्श' न होकर 'विचार' होता है। यदि देखा जाये तो आदर्शवाद में विचारवाद की चर्चा सामान्यतः होती है, जिसे प्रत्ययवाद भी कहते हैं। विचारवाद अथवा प्रत्ययवाद की अपेक्षा आदर्शवाद शब्द ज्यादा प्रचलित है, इसलिए आदर्शवाद का ही प्रयोग देखने को मिलता है। आदर्शवाद की उत्पत्ति विषयक ज्ञान होने पर स्पष्ट है कि आदर्शवाद वह दर्शन अथवा विचारधारा है जो 'मन की प्रकृति को वास्तविक मानता है'। आदर्शवादियों का विचार है कि जो वाद सत्य अथवा वास्तविक है, वह अवश्य ही आध्यात्मिक अथवा मानसिक है। आदर्शवाद का यह भी मत है कि यह जो भौतिक संसार दृष्टिगोचर होता है वह वास्तविक नहीं है बल्कि वह तो मानसिक जगत या विचार जगत का साकार रूप है। पैट्रिक महोदय ने आदर्शवाद के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहा कि जिस प्रकार भौतिकवाद, संसार का आधार 'पदार्थ को मानता है उसी प्रकार 'आदर्शवाद संसार का आधार 'मन' को मानता है।

3.4 जीवन दर्शन तथा आदर्शवाद

आदर्शवाद को दर्शन की एक प्राचीन विचारधारा के रूप में जाना जाता है जिसको आज भी सम्मान की दृष्टि से देखा जाता है। जीवन-दर्शन के रूप में इसने विश्व के उच्च कोटि

के अनेक दार्शनिकों को आकृष्ट किया है, जिसमें सुकरात, प्लेटो, डेकार्टे, काण्ट तथा हीगल का नाम प्रमुख है। इनके द्वारा प्रस्तावित आदर्शवाद के मौलिक सिद्धान्त एवं तत्व निम्नलिखित हैं।

(1) आदर्शवादी विचारकों ने पदार्थ को अन्तिम सत्य नहीं माना है। पदार्थ का प्रत्यय वास्तविक है तथा पदार्थ का भौतिक रूप असत्य है। उनकी धारणा है कि भौतिक जगत तो आध्यात्मिक जगत की एक झलक मात्र है।

(2) आदर्शवादी मानते हैं कि जो भौतिक जगत दिखाई देता है वह सत्व का एक आभास मात्र है। इसके पीछे कोई मानसिक सत्य कार्य कर रहा है जो इस सृष्टि के प्रकाशन का आधार है। यह सृष्टि वस्तुतः तार्किक एवं मानसिक ही है, इसका वाह्य अथवा भौतिक रूप तो मनुष्य की कल्पना की उपज है।

(3) आदर्शवादियों के अनुसार जो अन्तिम सत्य है। वही वास्तव में कल्याणकारी अर्थात् शिव है। आदर्शवादी विचारधारा के अनुसार 'सत्यं', 'शिवं' एवं 'सुन्दरम्' के आध्यात्मिक मूल्य हैं। जो सत्य और शिव है वही वास्तव में सुन्दर भी है। संसार में जो सुन्दरता दिखाई देती है, वह आभास मात्र है अतः उसमें आसक्ति व्यर्थ है। संक्षेप में सत्यं, शिवं, सुन्दरं को प्राप्त करना ही मानव का लक्ष्य है।

(4) आदर्शवादियों ने इस ब्रह्माण्ड को दो जगत् में बाँटा है- विचार जगत और वस्तु जगत। उनका स्पष्टीकरण है कि भौतिक जगत अर्थात् वस्तु जगत नश्वर है, परिवर्तनशील है। जबकि विचार नित्य एवं अपरिवर्तनशील हैं इसलिए वे सत्य हैं और उनसे निर्मित विचारों का जगत भी सत्य है।

(5) आदर्शवादी शरीर को नश्वर मानते हैं इसलिए यह असत्य है तथा 'आत्मा' को अनश्वर मानते हैं अतः वह सत्य है।

(6) आदर्शवादी मनुष्य जीवन को महत्वपूर्ण एवं सप्रयोजन मानते हैं। उनका विश्वास है कि मनुष्य के अन्दर आत्मा सूक्ष्म, अनादि एवं अनन्त रूप में विद्यमान है, इसलिए मानव जीवन का उद्देश्य इसी अनश्वर, अजर-अमर एवं अपरिवर्तनशील आत्मा की प्राप्ति है।

(7) आदर्शवादियों के अनुसार मानव व्यक्तित्व सबसे अधिक मूल्यवान वस्तु तथा परमात्मा की श्रेष्ठतम कृति है, इसलिए मानव व्यक्तित्व के विकास पर विशेष ध्यान देना चाहिए किन्तु विकास का लक्ष्य आत्मा की प्राप्ति ही है न कि निचले स्तर से ऊँचे स्तर के प्राणी में विकास करने से है।

(8) आदर्शवादियों का विश्वास है कि मन और पदार्थ भिन्न है। वास्तव में देखा जाय तो मन एक आंतरिक शक्ति है, जिसपर नैतिकता एवं आदर्शों का प्रभाव पड़ता है, किन्तु पदार्थ पर यह प्रभाव नहीं पड़ता है। मन चेतना होता है और पदार्थ जड़ है, इसलिए

जड़ से चेतनता का उदय नहीं हो सकता।

(9) आदर्शवाद इन्द्रिय ज्ञान को बौद्धिक अनुभूति की अपेक्षा निम्न मानता है। क्योंकि विचारात्मक सत्य का ज्ञान इन्द्रियों से संभव नहीं है। इस कारण आदर्शवादी दार्शनिक मानसिक अनुशासन, शुद्ध-बुद्धि तर्क को नियम आदि पर विशेष बल देते हैं।

(10) अन्तिम सत्य का ज्ञान ही वास्तविक ज्ञान है, शेष सभी अज्ञान अथवा ज्ञान का आभास मात्र है। यह ज्ञान तर्कजन्य है और चिन्तन एवं मनन तथा अन्तर्दृष्टि का परिणाम है।

(11) इस प्रकार आदर्शवादी मानते हैं कि विज्ञान द्वारा प्राप्त ज्ञान अपूर्ण है। वास्तविक ज्ञान तो व्यक्ति अपने प्रयासों द्वारा प्राप्त करता है।

(12) आदर्शवाद मनुष्य को धार्मिकता एवं नैतिकता की शिक्षा देता है।

(13) आदर्शवाद अनेकता में एकता का दर्शन करता है। उनके अनुसार सृष्टि के अनेक ह्रपों में उस एक चरम सत्य को देखना ही अनेकता में एकता का दर्शन करना है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि आदर्शवाद प्राकृतिक वातावरण की अपेक्षा आध्यात्मिक वातावरण पर अधिक बल देता है।

बोध प्रश्न

टिप्पणी - (क) अपने उत्तर नीचे दिये गये स्थान में लिखिए ।

(ख) इकाई के अन्त में दिये गये उत्तरों से अपने उत्तर मिलाइये।

(1) आदर्शवाद के अनुसार 'मूल्य एवं आदर्श' क्या हैं?

....

....

....

3.5 शिक्षा में आदर्शवाद

शिक्षा आदिकाल से ही विभिन्न दार्शनिक विचारधाराओं से प्रभावित होती चली आ रही है, किन्तु इस पर सबसे अधिक प्रभाव आदर्शवाद का पड़ा है। शिक्षा के क्षेत्र में आदर्शवाद को प्रमुखता देने वालों में सर्वप्रथम प्लेटो, कॉमेनियस, पेस्टालॉजी तथा फ्रोबेल के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

आदर्शवादियों के अनुसार शिक्षा एक 'चेतना अथवा बौद्धिक प्रक्रिया' है जो कि बालक में सद्‌गुणों का विकास कर उसे एक प्राकृतिक प्राणी से आध्यात्मिक प्राणी बनाती हैं। सांस्कृतिक परम्परायें एवं ज्ञान इस क्रिया को सम्पन्न करने का साधन हैं। इस क्रिया का 'साध्य का लक्ष्य' छात्र को आत्मानुभूति करने का अवसर प्रदान करना तथा उनका चरित्र निर्माण करना होता है। इस प्रकार आदर्शवादी विचारधारा के अनुसार शिक्षा वह चेतनापूर्ण एवं बौद्धिक प्रक्रिया है जिसमें गुरु के द्वारा शिष्य को आत्मानुभूति करायी जाती है। शिक्षा की इस अवधारणा से पता चलता है कि शिक्षा कोई एकांगी प्रक्रिया नहीं है अपितु दो ध्रुवों के मध्य चलने वाली प्रक्रिया है जिसमें एक ध्रुव शिक्षार्थी है जिसकी मूल प्रकृति का परिष्कार किया जाता है तथा दूसरा ध्रुव शिक्षक होता है जो बालक की मूल प्रकृति का 'शोधन' एवं मार्गान्तरीकरण कर उसे शाश्वत मूल्यों एवं आदर्शों से अवगत कराता है ताकि वह प्राकृतिक प्राणी से आध्यात्मिक प्राणी में परिवर्तित हो सके।

3.5.1 शिक्षा के उद्देश्य तथा आदर्शवाद

आदर्शवादियों के अनुसार मनुष्य-जीवन का अन्तिम उद्देश्य आत्मा-परमात्मा के चरम स्वरूप को जानना है, इसी को आत्मानुभूति, आदर्श व्यक्तित्व की प्राप्ति, ईश्वर की प्राप्ति तथा परम आनन्द की प्राप्ति कहा जाता है। आत्मा-परमात्मा के चरम स्वरूप को जानने के लिए आदर्शवादियों के अनुसार मनुष्य को चार सोपान पार करने होते हैं। प्रथम सोपान पर उसे अपने 'प्राकृतिक स्व' का विकास करना होता है। दूसरे सोपान पर उसे अपने 'सामाजिक स्व' का विकास करना होता है। तीसरे सोपान पर उसे अपने 'मानसिक स्व' का विकास करना होता है तथा अन्तिम सोपान पर उसे 'आध्यात्मिक स्व' का विकास करना होता है।

आदर्शवादी विचारधारा के अनुसार मानव प्राणी ईश्वर की सर्वोत्कृष्ट रचना है जिसको उसने असीमित शक्तियाँ प्रदान की हैं। इन्हीं विभिन्न शक्तियों एवं क्षमताओं के योग से व्यक्तित्व का निर्माण होता है। इसीलिए आदर्शवादी विचारक व्यक्तित्व को ऊंचा उङ्गाना अथवा उसमें निहित विभिन्न सर्वोच्च शक्तियों एवं क्षमताओं का प्रकटीकरण एवं अच्छे मार्ग की ओर ले जाना ही शिक्षा का उद्देश्य मानते हैं। स्पष्ट है कि व्यक्ति का व्यक्तित्व महत्वपूर्ण होता है और व्यक्ति के भौतिक शरीर की अपेक्षा 'आत्मा' का विशेष महत्व होता है। इसलिए आदर्शवाद के अनुसार मानव-जीवन का उद्देश्य इसी 'आत्मा' का बोध करना है।

आत्मानुभूति के लिए आत्म-प्रकाशन भी आवश्यक है। आत्म प्रकाशन के लिए 'सामाजिक स्व' को विकसित करना आवश्यक है। सामाजिक स्व के विकास का अर्थ है-मनुष्य समाज द्वारा स्वीकृत नियमों का पालन करता है, उसकी पसन्द सामाजिक स्वीकृति-अस्वीकृति पर निर्भर करती है। आदर्शवादी यह मानते हैं कि मनुष्य की सबसे बड़ी विशेषता उसकी संस्कृति है, रहन-सहन, रीति रिवाज, भाषा साहित्य, कला संगीत एवं मूल्य हैं। ये ही उसे प्राकृतिक 'स्व' से सामाजिक स्व की ओर अग्रसर करते हैं, समाज एवं वातावरण के साथ भली

भाँति समायोजन स्थापित करने के लिए व्यक्ति को 'आत्म प्रकाशन' का अवसर मिलना आवश्यक है।

आत्म प्रकाशन के लिए 'बौद्धिक स्व' का विकास आवश्यक है। यह वह स्थिति होती है जब मनुष्य का व्यवहार सामाजिक स्वीकृति-अस्वीकृति से नियंत्रित न होकर उसकी बुद्धि एवं विवेक से नियंत्रित होता है। प्लेटो का विचार है कि मनुष्य की बुद्धि एवं विवेक उसके समस्त आदर्शों, कृत्यों एवं आध्यात्मिक चेष्टाओं का आधार होते हैं। बिना बुद्धि के ज्ञान नहीं हो सकता, बिना ज्ञान के विवेक नहीं हो सकता और बिना विवेक के सत्य-असत्य, शिव-अशिव एवं सुन्दर-असुन्दर में भेद नहीं किया जा सकता है तथा सत्यं शिवं सुन्दरम् की प्राप्ति नहीं की जा सकती है।

आत्मानुभूति से हम वास्तविक सत्य का दर्शन करते हैं। आदर्शवादियों का विश्वास है कि जब मनुष्य अपने 'प्राकृतिक स्व' एवं 'सामाजिक स्व' से ऊपर उठकर अपने 'बौद्धिक स्व' में नियंत्रित होने लगता है तो वह धीरे-धीरे स्वतः 'आध्यात्मिक स्व' के क्षेत्र में प्रवेश करने लगता है। प्लेटो का विचार है कि मनुष्य की प्रवृत्ति सत्यं, शिवं तथा सुन्दरम् की तरफ झुकी होती है। वह सदैव सत्य की खोज में तत्पर रहता है और जो कल्याणकारी एवं सुन्दर है, उसे स्वीकार करता है तथा जो कल्याणकारी एवं सुन्दर नहीं है, उसका त्याग करता है। आदर्शवादी मनुष्य को इस प्रक्रिया में प्रशिक्षित करने पर बल देते हैं।

उपर्युक्त लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए शनैः शनैः दृष्टिकोण में परिवर्तन लाना आवश्यक है। इस भौतिक जगत के नानात्व से मुक्ति ही शिक्षा का लक्ष्य होना चाहिए। कहा भी गया है-

'सा विद्या या विमुक्तये'

अर्थात् विद्या (ज्ञान) वह है जो मुक्ति प्रदान करे। इससे स्पष्ट हो जाता है कि ऐसे व्यक्तित्व का चरम विकास ही आदर्शवादी शिक्षा का उद्देश्य है जिसमें व्यक्ति आत्मानुभूति कर सत्यं, शिवं तथा सुन्दरं की प्राप्ति कर सके। आत्मानुभूति का बोध प्राकृतिक देन नहीं है इसलिए व्यक्ति को सतत अभ्यास एवं प्रयत्न द्वारा इसे प्राप्त करने की कोशिश करनी चाहिये।

बोध प्रश्न

टिप्पणी - (क) अपने उत्तर नीचे दिये गये स्थान में लिखिए ।

(ख) इकाई के अन्त में दिये गये उत्तरों से अपने उत्तर मिलाइये।

(2) आदर्शवादी शिक्षा के उद्देश्य क्या हैं?

....

....

3.5.2 पाठ्यक्रम तथा आदर्शवाद

आदर्शवादीं विचारों ने शिक्षा के उद्देश्यों का ही निर्धारण नहीं किया है अपितु उसके लिए उपयुक्त पाठ्यक्रम के स्वरूप को भी निर्धारित किया है। क्योंकि शिक्षा के उद्देश्यों की प्राप्ति तभी संभव है जबकि पाठ्यक्रम भी उसी के अनुसार हो। आदर्शवाद व्यक्ति के व्यक्तित्व का उत्कर्ष अथवा आत्मानुभूति के शाश्वत आदर्शों की प्राप्ति तथा सांस्कृतिक भौतिक जगत को अन्तिम सत्य नहीं मानता किन्तु सत्य का आभास तो मानता ही है इसी भौतिक जगत में रहकर एवं भौतिक वातावरण के सहयोग से ही आदर्शवाद चरम सत्य को प्राप्त करने का परामर्श देता है। मनुष्य का आध्यात्मिक वातावरण अधिक महत्वपूर्ण होता है किन्तु प्राकृतिक वातावरण की उपेक्षा नहीं की जा सकती। व्यक्ति शरीर और मन का संयोग होता है और इसमें मन अधिक महत्वपूर्ण होता है। किन्तु आदर्शवादी मानते हैं कि यदि शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति न की गयी तो मानसिक क्रिया भी दुःसाध्य हो जायेगी। व्यक्ति आत्मानुभूति की ओर तभी बढ़ सकता है जब उसका शारीरिक विकास हो चुका होता है। अतः भौतिक जगत का ज्ञान आवश्यक है।

यूनानी दार्शनिक प्लेटो के अनुसार शिक्षा का चरम लक्ष्य ईश्वर की प्राप्ति है। अतः पाठ्यक्रम में उन्हीं विषयों को सम्मिलित करने पर बल देना चाहिए जिसके माध्यम से उक्त लक्ष्य को प्राप्त किया जा सके। इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए सर्वप्रथम सत्यं, शिवं तथा सुन्दरं इन तीनों तत्वों को प्राप्त करना आवश्यक है। ये तीनों आध्यात्मिक मूल्य मनुष्य की क्रमशः बौद्धिक, नैतिक एवं कलात्मक क्रियाओं के द्वारा प्राप्त होते हैं। अतः प्लेटो पाठ्यचर्या में उन्हीं विषयों एवं क्रियाओं के समावेश पर बल देते हैं जो मानव को उपर्युक्त क्रियाओं में दक्षता प्रदान करे। उन्होंने बौद्धिक क्रियाओं के लिए भाषा, साहित्य, इतिहास, भूगोल, गणित तथा शारीरिक विज्ञान को महत्वपूर्ण बताया है। नैतिक क्रियाओं के लिए धर्म, नीतिशास्त्र, तथा अध्यात्मशास्त्र का और कलात्मक क्रियाओं के लिए विभिन्न कलाओं तथा संगीत का समावेश किया था।

आदर्शवादी विचारक हार्न महोदय पाठ्यक्रम के निर्धारण में ठोस आधारों को आदर्श समाज के अन्तर्गत व्यक्ति के चरित्र में खोजते हैं। अतः उनके अनुसार वे सभी अनुभव, क्रियायें तथा जीवन की परिस्थितियाँ आदि जो आदर्श की पूर्णता की ओर हमें ले जाती हैं। उन्हीं को पाठ्यक्रम में महत्वपूर्ण स्थान देना चाहिये। उनका विचार है-'कुछ विज्ञान, कुछ कला तथा कुछ व्यावसायिक शिक्षा प्रत्येक विद्यार्थी के पाठ्यक्रम में सम्मिलित कर देना चाहिये।' दूसरे शब्दों में उन्होंने ज्ञानोपार्जन एवं जीविकोपार्जन से संबंधित विषयों को पाठ्यक्रम में सम्मिलित करने की सिफारिश की है।

जर्मन शिक्षाशास्त्री हरबार्ट मनुष्य की आध्यात्मिक उन्नति के लिए चरित्र एवं नैतिक विकास पर बल देते हैं और उसके लिए पाठ्यचर्या में भाषा, साहित्य, इतिहास, कला तथा

संगीत को मुख्य स्थान देते हैं। उनके अनुसार पाठ्यक्रम में भूगोल, गणित तथा विज्ञान को गौण स्थान देना चाहिये।

यद्यपि टी0पी0 नन महोदय ने शिक्षा के व्यक्तिवादी उद्देश्य का प्रबल समर्थन किया है किन्तु पाठ्यक्रम-निर्माण के सम्बन्ध में वे आदर्शवादी विचारधारा के समर्थक हैं। उनका विचार है कि विद्यालय का कर्तव्य एक निश्चित प्रकार की औपचारिक शिक्षा देना मात्र नहीं है अपितु उसका कर्तव्य है कि वह अपने समाज एवं राष्ट्र की आध्यात्मिक शक्ति की उन्नति में सहयोग प्रदान करें। उसके ऐतिहासिक क्रम एवं संस्कृतियों को सुरक्षित रखे और उसके भविष्य को निरन्तर उज्जवल बनाने का सफल प्रयत्न करें। अतः विद्यालय में बालक को दो प्रमुख क्रियाओं के लिए प्रशिक्षित किया जान चाहिए-एक वे क्रियायें जो बालक के वैयक्तिक एवं सामाजिक जीवन की उन्नति करें तथा दूसरी वे क्रियायें जो मानवीय सभ्यता के प्रारम्भिक स्वह्रप का निर्धारण करें।

सारांशतः यह कहा जाता है कि आदर्शवादी विचारधारा के अनुसार शिक्षा के पाठ्यक्रम में स्थिरता न होकर गतिशीलता होनी चाहिए, जिससे बालकों की आवश्यकतानुसार उनमें परिवर्तन किया जा सके। इस दृष्टि से आदर्शवादी अपने पाठ्यक्रम में जहाँ एक तरफ शारीरिक शिक्षा को महत्व देते हैं, वहीं दूसरी तरफ प्राकृतिक वातावरण की जानकारी के लिए भौतिकी, रसायनिकी, भूमिति भूगोल, खगोल, भूगर्भ विज्ञान, वनस्पतिशास्त्र, जीव विज्ञान इत्यादि विषयों को भी महत्व देते हैं। बालक के आत्मिक विकास के लिए कला, साहित्य नीतिशास्त्र, धर्म-दर्शन, संगीत इत्यादि विषयों को आदर्शवादी अधिक महत्वपूर्ण मानते है।

बोध प्रश्न

टिप्पणी - (क) अपने उत्तर नीचे दिये गये स्थान में लिखिए ।

(ख) इकाई के अन्त में दिये गये उत्तरों से अपने उत्तर मिलाइये।

(3) आदर्शवाद के अनुसार 'विचार-केन्द्रित पाठ्यक्रम' क्या है?

....

....

....

3.5.2 शिक्षा पद्धति तथा आदर्शवाद

प्रायः लोगों का ऐसा विचार है कि आदर्शवाद शिक्षा के लक्ष्य एवं उद्देश्यों का निर्धारण करता है, शिक्षण पद्धति का नहीं। परन्तु वास्तविकता यह है कि आदर्शवाद शिक्षा के उद्देश्यों एवं आदर्शों पर अधिक बल देते हुए भी शिक्षा पद्धति की अवहेलना नहीं करता है। इतना पक्षपाती नहीं है। आदर्शवादी विचारधारा के अनुसार शिक्षण पद्धति ऐसी होनी चाहिये जिससे बालक के व्यक्तित्व का विकास हो सके। किसी भी शिक्षण पद्धति को उत्तम तभी कहा जा

सकता है जबकि वह बालकों को अपनी बुद्धि, योग्यता, रूचि, शक्ति, सामर्थ्य एवं आवश्यकता को दृष्टि में रखते हुए इन्हें ज्ञान प्रदान करने में सहायक सिद्ध हो सके।

आदर्शवाद के अनुसार यदि व्यक्ति एक बार स्पष्ट रूप से शिक्षा का उद्देश्य निश्चित कर लेता है तो फिर यह गौण हो जाता है कि वह किन पद्धतियों के सहारे उन उद्देश्यों को प्राप्त करेगा। अतः जब जो प्रविधि शिक्षक अथवा शिक्षार्थी के लिए उपयुक्त हो, तब उसे अंगीकार कर लेने में कोई हानि नहीं। इसीलिए वह खेल पद्धति को अपनाने में भी संकोच नहीं करता है। फ्रोबेल ने शिक्षण पद्धति को मूलतः 'आत्म-प्रेरित क्रिया' माना है। खेल द्वारा शिक्षा भी आत्म क्रिया द्वारा शिक्षा का ही एक भेद है। खेल के विषय में फ्रोबेल ने लिखा है-'खेल बालक के लिए उसके अन्तर्जगत एवं वाह्य-जगत का दर्पण है। यह जीवन एवं लगन शक्ति को अभिव्यक्ति करने वाली प्रवृत्ति है।

आदर्शवादी प्राचीन साहित्य का आदर करते हैं। वे मानते हैं कि हमारे प्राचीन साहित्य में पूर्वजों द्वारा खोजा हुआ ज्ञान भरा पड़ा है, हमें उससे लाभ उठाना चाहिये। प्राचीन साहित्य के अध्ययन के लिए वे 'स्वाध्याय विधि' के पक्षधर हैं। परन्तु इस विधि का प्रयोग शिक्षा के उच्च स्तर पर ही हो सकता है।

पाश्चात्य आदर्शवादी विचारकों ने अनेक शिक्षण-विधियों का विकास किया है। आजकल 'प्रश्नोत्तर-विधि' की विशेष चर्चा रहती है। सुकरात जैसे आदर्शवादी ने इस विधि का प्रयोग ईसा से 450 वर्ष पूर्व किया था। सुकरात की शिक्षण – विधि उपयुक्त प्रश्नों द्वारा वार्तालाप पर आधारित थी। सुकरात के शिष्य प्लेटो ने भी सुकराती विधि का ही अनुसरण किया। प्लेटो ने प्रश्नोत्तर विधि के आधार पर संवाद विधि का विकास किया। प्लेटो ने अपनी अधिकांश रचनायें भी संवाद के रूप में लिखी हैं। प्लेटो के शिष्य अरस्तू 'आगमन' एवं निगमन विधियों पर बल देते थे। निगमन विधि में 'सामान्य से विशेष की ओर' तथा आगमन विधि में 'विशेष से सामान्य की ओर जाते हैं।

आधुनिक आदर्शवादी दार्शनिकों में हेगल ने 'तर्क-विधि', पेस्टालॉजी ने 'अभ्यास विधि' तथा रेने डेकार्ट ने 'सरल से जटिल' की ओर चलने में अपनी रूचि प्रदर्शित की। आदर्शवादी 'व्याख्यान विधि' अथवा अध्ययन विधि को उपेक्षाणीय नहीं समझता। साक्षात् अनुभव श्रेष्ठ है, किन्तु विश्व की सभी वस्तुओं का ज्ञान प्रत्यक्ष अनुभव द्वारा प्राप्त करना मानव के लिए असंभव है। अतः दूसरे के अनुभव से लाभ उठाने में आदर्शवादी कोई हानि नहीं देखता। इसलिए वाही-कहीं पर व्याख्यान विधि को अपनाने में भी आदर्शवादी नहीं हिचकता है। वह सामूहिक चर्चा का भी आश्रय लेता है और महत्वपूर्ण विषयों को स्पष्ट करने के लिए वाद-विवाद विधि का आश्रय लेने की सलाह देता है। जहाँ शिशुओं को 'कथा विधि' द्वारा शिक्षा देने का आदर्शवादी प्रस्ताव करता है वहीं किशोरों को 'नाटक-विधि' एवं 'वार्तालाप-विधि' से शिक्षा देने की वकालत करता है। हरबार्ट ने नवीन ज्ञान को विद्यार्थियों तक पहुँचाने के लिए 'पंचपदी' का आश्रय लिया है। प्रसिद्ध आदर्शवादी पेस्टालाजी के अनुसार शिक्षण

विधि मस्तिष्क के विकास के अनुह्रप होनी चाहिए और उन्होंने अपनी विधि को 'आनशांग' के नाम से पुकारा है। पेस्टालाजी ने अपनी विधि का सार संख्या, रूप एवं भाषा बताया है।

3.5.4 शिक्षक तथा आदर्शवाद

प्रकृतिवादी शिक्षक को शिक्षण-प्रक्रिया में नगण्य समझते हैं और उन्हें पर्दे के पीछे ही रहने का परामर्श देते हैं। आदर्शवादी विचारक ठीक इसके विपरीत कहते हैं। आदर्शवाद के अनुसार शिक्षक का स्थान शिक्षण प्रक्रिया में सर्वोपरि है। शिक्षण-प्रक्रिया यान्त्रिक नहीं होती। इसमें एक व्यक्तित्व का दूसरे पर प्रभाव पड़ता है। बालक जो अन्ततः व्यक्ति है – न कि शरीर, उसका विकास प्रभावशाली व्यक्तित्व द्वारा ही सम्भव है। इसलिए शिक्षक का व्यक्तित्व प्रभावशाली होना चाहिये। जन्म के समय बालक में अनेक शक्तियाँ सुषुप्त होती हैं। शिक्षक का कार्य इन सुषुप्त शक्तियों को जाग्रत करना है।

भारतीय आदर्शवाद में शिक्षक को सर्वोत्तम स्थान देते हुए उन्हें 'त्रिदेव' की संज्ञा देते हुए कहा गया है कि – 'गुरुर्ब्रह्मा, गुरुर्विष्णुः, गुरुर्देवो महेश्वरः' अर्थात् गुरु (शिक्षक) ही ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश्वर है। इसी प्रकार अथर्ववेद के 'ब्रह्मचर्य सूक्त' में आचार्य (शिक्षक) के सम्बन्ध में कहा गया है कि 'आचार्यों मृत्युर्वरुणः, सोम ओषधयः-प्रायः।' अर्थात् गुरू पुराने संस्कारों को नष्ट करके नवीन संस्कार डालता है और बालक को नवीन जीवन प्रदान करता है, इसलिए वह मृत्युर्वरुण (नया जन्म देने वाला) कहा गया है। गुरु मन के कुसंस्कारों को धो देता है इसलिए उसे वरुण कहा गया है। वह शान्ति के मार्ग पर ले जाता है। इसलिए सोम (चन्द्रमा) के समान तथा कठिनाई रूपी रोगों से दूर करने के कारण उसे औषधि की संज्ञा दी गयी। इसलिए आदर्शवादी विचारक बालक के आन्तरिक अथवा आध्यात्मिक विकास के लिए शिक्षक की आवश्यकता पर बल देते हैं।

शिक्षा-व्यवस्था में शिक्षक छात्र के जीवन का मार्ग-दर्शक होता है। वह उन्हें उचित मार्ग-दर्शन करके उसकी स्वाभाविक शक्तियों को उचित दिशा में विकसित करने का अवसर प्रदान करता है। शिक्षक शिक्षण-प्रक्रिया की धुरी है। उसके बिना शिक्षण-प्रक्रिया अधूरी रहेगी।

आदर्श एवं लक्ष्य तथा जीवन के मूल्य पहले से ही विद्यमान हैं। प्लेटो के अनुसार इनका पहले से ही अस्तित्व है। शिक्षक का यह दायित्व है कि वह बालकों के सर्वोन्मुखी व्यक्तित्व के विकास का प्रयास करे ताकि वे अपने लक्ष्यों को सरलता से प्राप्त कर सकें।

इस प्रकार आदर्शवादी विचारक बालक को प्राकृतिक प्राणी से सामाजिक एवं आध्यात्मिक प्राणी में परिवर्तित करने के लिए शिक्षक की आवश्यकता पर अधिक बल देते हैं। सुप्रसिद्ध आदर्शवादी फ्रोबेल ने विद्यालय रूपी उपवन में बालक रूपी सुकोमल पौधा के सर्वोत्तम विकास के लिए शिक्षक ह्रपी माली की अति आवश्यकता बताया है। रॉस ने आदर्शवाद के अनुसार 'शिक्षार्थी' के समुचित विकास के लिए 'शिक्षक' के स्थान का निरुपण करते हुए लिखा है- 'प्रकृतिवादी किसी भी गुलाब से सन्तुष्ट हो जाते हैं। परन्तु आदर्शवादी

सुन्दर गुलाब चाहता है। इस प्रकार शिक्षक अपने प्रयत्नों से शिक्षार्थी को जो अपनी प्रकृति के नियमों के अनुसार परिवर्तन हो रहा है, उस स्तर पर पहुँचने में सहयोग देता है जिस पर वह स्वयं नहीं पहुंच पाता।' शिक्षक के अत्यधिक महत्व के कारण ही अधिकांश विद्वान आदर्शवादी शिक्षा को 'शिक्षक केन्द्रित शिक्षा' की संज्ञा देते हैं।

बोध प्रश्न

टिप्पणी - (क) अपने उत्तर नीचे दिये गये स्थान में लिखिए ।

(ख) इकाई के अन्त में दिये गये उत्तरों से अपने उत्तर मिलाइये।

(4) प्रकृतिवाद एवं आदर्शवाद में उल्लिखित शिक्षक की भूमिका में भेद स्पष्ट करिये।

....

....

....

3.5.5 अनुशासन तथा आदर्शवाद

आदर्शवाद में अनुशासन को उपयुक्त शिक्षा के लिए आवश्यक समझा जाता है। आदर्शवादी विचारक शिक्षा में अनुशासन के कठोर पक्षपाती हैं। इस विचारधारा के अनुसार बालक को पूर्ण स्वतंत्रता नहीं देनी चाहिए। इस सम्बन्ध में आदर्शवाद एवं प्रकृतिवाद में भिन्न मत हैं। प्रकृतिवादी शिक्षा-स्वतंत्रता में अधिक विश्वास रखते हैं। जबकि आदर्शवादी शिक्षा-अनुशासन में। इस संबंध में थामस एवं लैंग ने लिखा है-''प्रकृतिवादियों का नारा'' स्वतंत्रता है। जबकि आदर्शवातियों का नारा अनुशासन है।'' आदर्शवादी विचारक मानते हैं कि बालक को पूर्ण स्वतन्त्रता देने से तो हानि की ही संभावना अधिक है, लाभ की कम। अतः बालक को सीमित स्वतंत्रता ही प्रदान की जाय।

आदर्शवाद अनुशासन पर बल अवश्य देता है किन्तु वह दमनात्मक अनुशासन के पक्ष में नहीं है क्योंकि कङ्गोर नियन्त्रण में रखकर और दमनकारी साधनों द्वारा स्थापित अनुशासन का परिणाम प्रायः भयंकर होता है। इसलिए अनुशासन का स्वरूप प्रभावात्मक होता है। इसके लिए आदर्शवाद नैतिक गुणों के विकास को महत्व देता है। नैतिक गुणों के विकास के लिए नम्रता, ईमानदारी, समय की पाबन्दी, आज्ञाकारिता, सत्यवादिता इत्यादि गुणों का विकास आवश्यक है जो अनुशासनपूर्ण वातावरण में ही संभव है।

आदर्शवादी धारणा में बालक में अनुशासन की स्थापना 'आत्म-प्रेरित रुचि' के विकास से ही संभव है क्योंकि बालक की जिसमें स्वयं की रूचि होती है, उसी को ग्रहण करता है रूचि एक प्रकार की निश्चयात्मक प्रवृत्ति होने के कारण व्यक्ति के भीतर से उत्पन्न होती है। चूँकि अनुशासन रूचि पर आधारित होता है। अतः इसकी प्रेरणा भी भीतर से मिलती है। व्यक्ति, जिस कार्य को आत्म विभोर होकर करेगा वहाँ उच्छृखंलता, उदण्डता अथवा अनुशासनहीनता

का कोई स्थान नहीं है। वहाँ स्वाभाविक रूप से अनुशासन स्थापित हो जायोगा।

अनुशासन के सम्बन्ध में आदर्शवाद की एक अन्य मान्यता यह है कि यह पुरस्कार अथवा दण्ड से स्थापित नहीं किया जा सकता। बालक कोई अच्छा कार्य पुरस्कार के लोभ में आकर नहीं करता। सद्‌गुणों के लिए पुरस्कार की व्यवस्था भी विद्यालय में नहीं होनी चाहिये। सत्य बोलने के लिए किसी प्रस्कार की जरुरत नहीं है। यह तो मानव कर्तव्य ही है। इसे तो करना ही चाहिये। बालक कोई कार्य इसलिए करता है कि उसकी उस कार्य में वास्तविक रूचि होती है तथा उससे उसे वास्तविक आनन्द की प्राप्ति भी होती है। इस प्रकार बालक में 'आत्मानुशासन' की नींव पड़ती है और कालान्तर में वह अनुशासित रहता है। आदर्शवादी पेस्टालॉजी के अनुसार बालक के प्रति सहानुभूति बरती जाये। फ्रोबेल के अनुसार बालक के ऊपर नियन्त्रण उसकी रूचि के ज्ञान के आधार पर तथा सहानुभूति एवं प्रेम के प्रकाशन द्वारा करना चाहिये। क्योंकि अनुशासन की प्रेरणा तो भीतर से मिलती है। इस मत की पुष्टि में हार्न महोदय का यह कथन उचित प्रतीत होता है कि 'अनुशासन का प्रारम्भ वाह्य रूप से होता है किन्तु अन्त आत्म-नियंत्रण द्वारा आन्तरिक रूप में हो।'

बोध प्रश्न

टिप्पणी - (क) अपने उत्तर नीचे दिये गये स्थान में लिखिए।

(ख) इकाई के अन्त में दिये गये उत्तरों से अपने उत्तर मिलाइये।

(5) अनुशासन के सम्बन्ध में आदर्शवाद के विचार क्या हैं?

....

....

....

3.5.6 आदर्शवाद का मूल्यांकन

किसी वस्तु, क्रिया अथवा विचार का मूल्याङ्कन किन्ही पूर्व निश्चित मानदण्डों के आधार पर किया जाता है। ये मानदण्ड व्यक्तिगत भी हो सकते हैं और सामाजिक भी, मनोवैज्ञानिक भी हो सकते हैं और वैज्ञानिक भी, अल्पमान्य भी हो सकते हैं और बहुमान्य भी। जो मानदण्ड जितना अधिक वस्तुनिष्ठ होता है और जितने अधिक व्यक्तियों को मान्य होता है। वह उतना ही अधिक अच्छा मानदण्ड माना जाता है। यहाँ ऐसा ही प्रयास किया गया है और आदर्शवादी शिक्षा का मूल्यांकन भारतीय समाज की वर्तमान परिस्थितियों और भविष्य की संभावनाओं एवं आकांक्षाओं के आधार पर किया गया है। यदि उपर्युक्त वर्णित शिक्षा के विभिन्न अङ्गों के सम्बन्ध में आदर्शवादियों द्वारा प्रस्तुत विचारों के सन्दर्भ में आदर्शवाद का मूल्याङ्कन करें तो हमें उसके बहुत से गुण एवं दोषों का पता चलता है।

शिक्षा के सन्दर्भ में आदर्शवाद के प्रभाव, गुण अथवा योगदान निम्नलिखित हैं-

(i) आदर्शवादियों ने शिक्षा के जिन उद्देश्यों को प्रस्तावित किया है, उनसे बालकों के उत्तम चरित्र का निर्माण होता है। उन्होने शिक्षा का एक उल्लेखनीय उद्देश्य बालकों में सत्यं, शिवं एवं सुन्दरं ऐसे गुणों का विकास माना है जो अच्छे चरित्र के आधार स्तम्भ हैं।

(ii) शिक्षा के उद्देश्यों का निर्धारण करने में आदर्शवाद ने अत्यधिक महत्वपूर्ण भूमिका प्रस्तुत की है। आदर्शवादी विचारकों के अनुसार बालक एक शास्त्रीय प्राणी के रूप में कुछ मूल प्रवृत्तियों को लेकर जन्म लेता है और उसे समाज का सुसंस्कृत सदस्य बनाने के लिए शिक्षा ही एक मुख्य साधन है। अतः वे शिक्षा के उद्देश्यों पर विस्तृत रुप से विचार करते हैं।

(iii) आदर्शवाद शिक्षा में शिक्षक को सर्वोपरि स्थान प्रदान करता है। इससे शिक्षा-जगत में शिक्षक को गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त होता है साथ ही बालक और समाज दोनों के हित के लिए अत्यावश्यक है।

(iv) आदर्शवाद ने 'आत्मानुशासन' एवं 'आत्मनियंत्रण' के ऐसे सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है जिनका अनुगमन कर आज छात्रों में बढ़ती हुई अनुशासनहीनता एवं तनाव की समस्या का समाधान किया जा सकता है।

(v) आदर्शवादी शिक्षा में व्यक्ति और समाज दोनों के हित को ध्यान में रखते हुए व्यक्तिगत एवं सामाजिक मूल्यों को समान महत्व दिया गया है।

(vi) आदर्शवाद ने अपनी शिक्षा-योजना में बालक के व्यक्तित्व का आदर कर शिक्षा प्रक्रिया के दोनों ध्रुवों अर्थात् शिक्षक एवं शिक्षार्थी को महत्व दिया है। आदर्शवाद से ही प्रभावित होकर आज सभी लोग बालकों के 'आदर्श व्यक्तित्व' पर बल देते हैं।

(vii) आदर्शवादी शिक्षा आध्यात्मिक, धार्मिक तथा नैतिक गुणों के विकास पर अधिक बल देती है।

आदर्शवादी शिक्षा में उपर्युक्त गुणों के होते हुए कतिपय दोष भी पाये जाते हैं-

(i) आदर्शवाद ने शिक्षा के जो उद्देश्य निर्धारित किये हैं वे इतने अधिक 'अमूर्त' तथा सूक्ष्म हैं कि एक सामान्य बुद्धि के व्यक्ति को उनको समझना अति कठिन है। ये अमूर्त एवं सूक्ष्म उद्देश्य वर्तमान से संबंधित न होकर भविष्य से सम्बन्धित होते हैं।

(ii) यह दर्शन बालक एवं उसकी प्रकृति की अपेक्षा शिक्षक एवं आदर्श को प्रधानता देता है और इस प्रकार 'बाल केन्द्रित शिक्षा' 'बाल केन्द्रित पाठ्यक्रम' तथा 'बाल केन्द्रित शिक्षण पद्धति' से सम्बन्धित आधुनिक विचारों की उपेक्षा हो जाती है। जो आज के युग के लिए बिल्कुल न्याय संगत नहीं है।

(iii) आदर्शवाद पाठ्यक्रम में आध्यात्मिक विषयों पर अधिक महत्व देता है और व्यावहारिक जीवन से सम्बन्धित विषयों पर अधिक ध्यान नहीं दिया है। इस प्रकार का पाठ्यक्रम भले ही प्राचीन आदर्श समाजों के लिए लाभप्रद सिद्ध होता हो किन्तु आज के औद्योगिक युग में इस प्रकार के पाठ्यक्रम का कोई महत्व नहीं है।

(iv) आदर्शवाद ने शिक्षा के उद्देश्यों एवं लक्ष्यों का निर्धारण तो किया किन्तु किसी निश्चित शिक्षण विधि का प्रतिपादन नहीं किया। इसमें जो विधियाँ बतलाई भी गयी हैं वे रटने पर अधिक बल देती हैं। ये विधियाँ अवैज्ञानिक हैं।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हुआ कि किस प्रकार यह दार्शनिक विचारधारा 'मन' 'विचार' अथवा 'आदर्श' को सत्य एवं वास्तविक मानती है और इस भौतिक संसार को एक भ्रम अथवा प्रतिरूप मानती हैं। शिक्षा के सन्दर्भ में आदर्शवाद के विषय में कहा जा सकता है कि अनेक गुणों से परिपूर्ण होते हुए भी आज के भौतिकवादी दृष्टिकोण से पूर्ण दोष रहित नहीं माना जाता है, फिर भी आज के भौतिकवादी युग में व्याप्त संघर्ष, कलह एवं वैमनस्य की समाप्ति के लिए पुनः आदर्शवादी विचारधारा को जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में अपनाना होगा।

3.6 सारांश

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि आदर्शवाद जीवन की सबसे प्राचीन दार्शनिक विचारधारा है जो यह स्वीकार करती है कि अन्तिम सत्ता का स्वरूप आध्यात्मिक अथवा मानसिक है। हमने आदर्शवाद की अवधारणा एवं उसके आधारभूत सिद्धान्तों पर प्रकाश डालते हुए देखा कि किस प्रकार यह दार्शनिक विचारधारा 'मन', 'विचार' एवं 'आदर्श' को सत्य एवं वास्तविक मानती है और इस भौतिक संसार को एक 'भ्रम' अथवा 'प्रतिछाया' मानती है। आदर्शवादी शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य व्यक्तित्व का उत्कर्ष अथवा आत्मानुभूति तथा शाश्वत् मूल्यों की प्राप्ति है। आदर्शवादी पाठ्यक्रम का बौद्धिक, कलात्मक सौन्दर्यात्मक तथा नैतिक विषयों पर आधारित मानते हैं। शिक्षण विधियों के सन्दर्भ में वाद-विवाद, व्याख्यान, स्वक्रिया विधि की चर्चा तो आदर्शवादी विचारक करते हैं किन्तु वे किसी निश्चित विधि का प्रतिपादन नहीं करते। शिक्षा-व्यवस्था में आदर्शवादी शिक्षक को प्रमुख स्थान देते हैं। अनुशासन के संबंध में आदर्शवादी प्रभावात्मक अनुशासन के पक्षधर हैं। प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री रस्क का विचार है कि केवल आदर्शवाद ही शिक्षा का सन्तोषजनक आधार है। भौतिक संसार में जो अपूर्णता दृष्टिगोचर होता है उसे आदर्शवाद का आध्यात्मिक संसार ही पूर्ण कर सकता है।

3.7 अभ्यास कार्य

1. 'आदर्शवाद जीवन के भौतिक अथवा वैज्ञानिक तथ्यों की अपेक्षा मानव-अनुभव के आध्यात्मिक पक्षों पर बल देता है।' स्पष्ट करिए।

2. 'आदर्शवाद ने शिक्षण विधियों की अपेक्षा शिक्षा के उद्देश्यों के सम्बन्ध में अधिक योगदान दिया है।' क्या आप इस कथन से सहमत हैं? अपने उत्तर के पक्ष में तर्क दीजिये।

3. 'सत्यं, शिवं सुन्दरं आदर्शवाद के मूल्य हैं जो शिक्षा के द्वारा विकसित होने चाहिए।' विवेचना करिए।

4. द्वैतवाद एवं अद्वैतवाद से क्या तात्पर्य है?

5. 'आदर्शवादी स्वयं को विधियों का सृष्टा एवं निश्चयकर्ता मानते हैं न कि किसी विधि का उपासक।' विवेचना करिए।

3.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

1. आदर्शवाद शाश्वत मूल्यों एवं आदर्शों यथा- सत्यं, शिवं सुन्दरं में आस्था रखता है जो कि संसार के विद्यमान होने से पूर्व से ही स्थाई रूप से विद्यमान है।

2. (i) आत्मानुभूति

   (ii) शाश्वत मूल्यों यथा-सत्यं, शिवं, सुन्दरं की प्राप्ति

   (iii) सांस्कृतिक विरासत की समृद्धि

   (iv) चेतना की पूर्ण दशा की प्राप्ति

   (v) आध्यात्मिक व्यक्ति का विकास

3. आदर्शवादी 'विचार-केन्द्रित पाठ्यक्रम का समर्थक है। वह शाश्वत-मूल्यों, विचारों एवं आदर्शों के आधार पर पाठ्यक्रम का निर्माण करता है। इसीलिए वह पाठ्यक्रम में साहित्य, कला, संगीत, दर्शन, नीतिशास्त्र, आध्यात्मशास्त्र, धर्मशास्त्र इत्यादि विषयों को महत्वपूर्ण स्थान प्रदान करता है।

4. प्रकृतिवाद अपनी शिक्षा योजना में शिक्षक को गौण स्थान देता है। बालक की शिक्षा में शिक्षक का स्थान मित्र अथवा पथ प्रदर्शक के समान है। जबकि आदर्शवाद शिक्षा प्रक्रिया में शिक्षक को महत्वपूर्ण स्थान देता है। वह सत्य को प्रमाणित करने एवं बालक के सर्वांगीण विकास के लिए शिक्षक को आवश्यक मानते हैं।

5. आदर्शवाद 'प्रभावात्मक अनुशासन' का पोषक है। यह आत्म नियंत्रण, प्रेम, सहानुभूति, मार्ग दर्शन द्वारा बालकों में अनुशासन की स्थापना के पक्षधर हैं।

इकाई-4 प्रयोजनवाद तथा यथार्थवाद

संरचना

4.1 प्रस्तावना

4.2 उद्देश्य

4.3 प्रयोजनवाद के सिद्धान्त

4.4 प्रयोजनवाद की विशेषताएँ

4.5 प्रयोजनवाद और शिक्षा

4.5.1 प्रयोजनवाद और शिक्षा के उद्देश्य

4.5.2 प्रयोजनवाद और शिक्षक

4.5.3 प्रयोजनवाद और छात्र

4.5.4 प्रयोजनवाद और पाठ्यक्रम

4.5.5 प्रयोजनवाद और शिक्षण विधि

4.5.6 प्रयोजनवाद और अनुशासन

4.6 प्रयोजनवाद की आलोचना

4.7 यथार्थवाद के सिद्धान्त

4.8 भारतीय यथार्थवाद

4.9 शिक्षा में यथार्थवाद

4.9.1 यथार्थवाद तथा शिक्षा के उद्देश्य

4.9.2 यथार्थवाद तथा पाठ्यक्रम

4.9.3 यथार्थवाद तथा शिक्षण विधि

4.9.4 यथार्थवाद तथा शिक्षक

4.9.5 यथार्थवाद तथा छात्र

4.9.6 यथार्थवाद तथा अनुशासन

4.10 भारतीय शिक्षा तथा यथार्थवाद

4.11 सारांश

4.12 अभ्यास कार्य

4.13 बोध प्रश्नों के उत्तर

4.1 प्रस्तावना

प्रयोजनवाद एक नवीनतम् दार्शनिक विचारधारा है। वर्तमान युग में दर्शन एवं शिक्षा के विभिन्न विचारधाराओं में इस विचारधारा को सबसे अधिक मान्यता प्राप्त है।

प्रयोजनवादी विचारधारा का उद्भव कब हुआ था यह तो निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता किन्तु फिर भी इस विचारधारा की विशिष्टता को ध्यान में रखते हुए यह अवश्य ही कहा जा सकता है कि जब से मनुष्य ने अपनी समस्याओं एवं कठिनाइयों के कारणों एवं उनके समाधान के लिए किये गये प्रयासों से प्राप्त अनुभवों की सत्यता एवं व्यावहारिकता के सम्बन्ध में चिन्तन प्रारम्भ किया तभी से इस विचारधारा का बीजारोपण हो गया था। इस विचारधारा के उद्भव पर किये गये शोधों से यह पता चलता है कि सबसे पहले इस विचारधारा का प्रयोग हेराक्लिट्स ने किया जिसका समय 5वीं – 6वीं ईसा पूर्व माना जाता है। हेराक्लिट्स के अनुसार वास्तविक चीजें परिवर्तनशील है। अतः शाश्वत सत्य नहीं हो सकते। इस विचारधारा को प्रयोजनवाद भी स्वीकार करता है।

अमेरिका के सुप्रसिद्ध विचारक चार्ल्स सैन्डर्स पियर्स ने प्रयोजनवाद के आधुनिक रूप को जन्म दिया। पियर्स के कार्य को विलियम जेम्स ने और अधिक बढ़ाया और उसे स्पष्टता एवं व्यापकता प्रदान की। इसलिए अनेक लोग विलियम जेम्स को ही प्रयोजनवाद के आधुनिक स्वरूप का जन्मदाता मानते हैं। अमेरिका में जान डीवी तथा इंग्लैण्ड में शिलर इसके प्रमुख समर्थक एवं प्रचारक हुए। प्रयोजनवाद अथवा प्रयोगवाद का जन्म अमेरिकी लोगों के रहन-सहन तथा विचार प्रक्रिया के फलस्वरूप हुआ। क्योंकि धार्मिक स्वतंत्रता के लिए यूरोप तथा इंग्लैण्ड से भागे हुए लोगों ने अमेरिका की सीमा-सम्बन्धी स्वतंत्रता के कारण एक विचित्र क्रियात्मकता में विश्वास करना प्रारम्भ किया, इसलिए सांस्कृतिक मूल्यों के पचड़े से दूर, नवजीवन निर्माण हेतु कर्मठ प्राणियों के लिए इसके अतिरिक्त और कोई विचारधारा उपयुक्त न थी। अमेरिकी जीवन का यह 'वाद' प्रतिबिम्ब है। इस नवीन दर्शन को सबसे महान पृष्ठ पोषक, विशेषज्ञ एवं प्रचारक महान दार्शनिक, शिक्षक एवं शिक्षाशास्त्री जॉन डीवी ने पूर्ण परिपक्व रूप प्रदान किया और इसीलिए उन्हें प्रयोजनवाद का प्रतिनिधि माना जाता है।

यथार्थवाद ही एक ऐसी विचारधारा है जिसका बीजारोपण मानव-मस्तिष्क में अति प्राचीन काल में ही हो गया था। यथार्थवाद किसी एक सुगठित दार्शनिक विचारधारा का नाम न होकर उन सभी विचारों का प्रतिनिधित्व करता है जो यह मानते हैं कि वस्तु का अस्तित्व स्वतंत्र रूप से है। आदर्शवादी यह मानता है कि 'वस्तु' का अस्तित्व हमारे ज्ञान पर निर्भर करता है। यदि यह विचार सही है तो वस्तु की कोई स्थिति नहीं है। इसके ठीक विपरीत यथार्थवादी मानते हैं कि वस्तु का स्वतंत्र अस्तित्व है चाहे वह हमारे विचारों में हो अथवा नहीं। वस्तु तथा उससे सम्बन्धित ज्ञान दोनों पृथक-पृथक सत्तायें है। संसार में अनेक ऐसी वस्तुयें हैं जिनके सम्बन्ध में हमें जानकारी नहीं है परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि वे अस्तित्व में है ही नहीं। कहने का तात्पर्य यह है कि वस्तु की स्वतंत्र स्थिति है। हमारा ज्ञान हमको उसकी स्थिति से अवगत कराता है परन्तु उसके बारे में हमारा ज्ञान न होने से उसका अस्तित्व नष्ट नहीं हो जाता। वैसे ज्ञान प्राप्ति के साधन के विषय में यथार्थवादी, प्रयोजनवाद के समान वैज्ञानिक विधि को ही सर्वोत्तम विधि मानता है और निगमन विधि का आश्रय लेता है।

4.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप इस योग्य हो जायेंगे कि –

- प्रयोजनवाद की विशेषताओं को बता सकेंगे,
- प्रयोजनवाद के प्रमुख सिद्धान्तों की व्याख्या कर सकेंगे,
- प्रयोजनवादी शिक्षा के उद्देश्यों को स्पष्ट कर सकेंगे,
- प्रयोजनवादी शिक्षा में शिक्षक की भूमिका बता सकेंगे,
- प्रयोजनवाद तथा छात्र के सम्बन्ध का वर्णन कर सकेंगे,
- प्रयोजनवादी पाठ्यक्रम एवं शिक्षण विधि का उल्लेख कर सकेंगे,
- प्रयोजनवादी अनुशासन की अवधारणा की व्याख्या कर सकेंगे,
- प्रयोजनवाद की आलोचनात्मक व्याख्या कर सकेंगे,
- शिक्षा में यथार्थवाद के उदय को बता सकेंगें,
- यथार्थवी शिक्षा के उद्देश्यों को स्पष्ट कर सकेंगें,
- यथार्थवादी कार्यक्रम एवं शिक्षण विधि के विषय में चर्चा कर सकेंगे,
- यथार्थवादी शिक्षा में शिक्षक की भूमिका स्पष्ट कर सकेंगे,
- यथार्थवादी शिक्षा में छात्र के महत्व को बता सकेंगे,
- यथार्थवादी अनुशासन की व्याख्या कर सकेंगे,
- यथार्थवाद का मूल्यांकन कर सकेंगे।

4.3 प्रयोजनवाद के सिद्धान्त

प्रयोजनवाद एक मानवतावादी दर्शन होने के कारण संसार एवं उसकी वस्तुओं तथा क्रियाओं के कारणों पर उस गंभीरता से विचार नहीं करता जितना मानव जीवन में उसकी उपयोगिता पर विचार करता है। एक स्वतंत्र दर्शन के रूप में अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए प्रयोजनवाद ने मानव को आधार बनाते हुए संसार एवं उसकी क्रियाओं के कारणों पर विचार करते हुए निम्नलिखित मूल सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है-

(1) प्रयोजनवाद किसी भी शाश्वत 'मूल्य' तथा शाश्वत 'सत्य' में विश्वास नहीं करता है। इसकी धारणा है कि मूल्य एवं सत्य देश, काल एवं परिस्थितियों के अनुसार बदलते रहते हैं। प्रयोजनवाद यदि किसी शाश्वत मूल्य में विश्वास करता है तो वह 'शिव' है। इसलिए जीवन के स्थायी एवं निश्चित आदर्श की सत्ता को स्वीकार नहीं करता।

(2) प्रयोजनवादी व्यावहारिक जीवन मात्र से सम्बन्ध रखना उचित समझते हैं। ईश्वर, आत्मा, धर्म, इत्यादि का व्यावहारिक जीवन से सम्बन्ध न होने के कारण इनका कोई महत्व नहीं है।

(3) प्रयोजनवाद यह मानता है कि इस संसार में यथार्थ का ज्ञान संभव नहीं है।

(4) प्रयोजनवाद की यह धारणा है कि मनुष्य 'परिकल्पना' का प्रयोग करके ज्ञान के समीप पहुँच सकता है।

(5) प्रयोजनवादी अंध विश्वास का विरोध करते हैं। वे विज्ञान में तो विश्वास करते हैं किन्तु यन्त्रवादी नहीं होते। वे विकास का समर्थन करते हैं। प्रयोजनवाद शाश्वत वास्तविकता में विश्वास नहीं करता है क्योंकि उसके अनुसार वास्तविकता का निर्माण होता रहता है।

(6) प्रयोजनवादियों के अनुसार सत्य कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो पहले से विद्यमान हो। परिस्थितियों के परिवर्तन के फलस्वरूप मनुष्य के समक्ष अनेक समस्यायें उत्पन्न होती है जिनकी पूर्ति के लिए मनुष्य चिन्तन करता है। चिन्तन में आये सभी विचार सत्य नहीं होते, सत्य केवल वे ही विचार होते हैं जिनके प्रयोग से सन्तोषजनक फल की प्राप्ति होती है।

(7) प्रयोजनवाद समाज में व्याप्त रूढ़ियों, मान्यताओं, परम्पराओं, बन्धनों, अंधविश्वासों आदि में कोई आस्था नहीं रखता। यह जीवन की वास्तविक परिस्थितियों में, जीवन की अनेक प्रकार की क्रियाओं में ज्यादा विश्वास करता है। प्रयोजनवाद के अनुसार विचारों की उत्पत्ति क्रिया के बाद होती है, इसलिए विचारों की अपेक्षा क्रिया को अधिक महत्व प्रदान किया जाता है।

(8) मनुष्य रचनात्मक कार्य करता है, यथार्थ की रचना में भी उसका योगदान है तथा मूल्य भी मानव द्वारा ही निर्मित होते हैं।

(9) प्रज्ञा व्यक्ति को वातावरण के अनुकूल बनाने की शक्ति देती है।

(10) आदर्शवादी विचारकों के समान प्रयोजनवादी विचारक भी मनुष्य को विश्व का सर्वोच्च प्राणी मानते हैं। प्रयोजनवादियों के अनुसार मनुष्य ही एक ऐसा मनः शारीरिक प्राणी है जो अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिए अनेक प्रकार की उच्चतम क्रियायें करता है। वह क्रियाओं की उपयोगिता एवं अनुपयोगिता को देखकर अनुभवों का संचय करता है तथा मानव-सभ्यता का सृजन एवं संवर्द्धन करता है।

4.4 प्रयोजनवाद की विशेषताएँ

(1) प्रयोजनवाद 'शाश्वत मूल्यों में विश्वास नहीं करता। प्रयोजनवाद के अतिरिक्त सभी दार्शनिक विचारधारायें सत्य को अपरिवर्तनशील मानती हैं परन्तु प्रयोजनवाद के अनुसार सत्य देश, काल एवं परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तित होता रहता है। प्रयोजनवादी डीवी केवल 'शिव' में ही विश्वास रखते हैं, 'सत्य' तथा 'सुन्दर' में नहीं। उनके अनुसार जो वस्तु एक स्थान पर सत्य है, यह आवश्यक नहीं है कि वह दूसरे स्थान पर भी सत्य हो। इस प्रकार सत्य सदा परिवर्तनशील है।

(2) बुद्धि के व्यावहारिक रूप में ही प्रयोजनवाद का विश्वास होने के कारण वे विज्ञान एवं वैज्ञानिक सत्यों पर विश्वास नहीं करते। उनका विश्वास है कि प्रज्ञा वातावरण को परिवर्तित करने में सहायक होती है। इसी कारण 'व्यावहारिक इच्छायें', चेष्टाओं

का विकास', 'चुनाव द्वारा कार्य' इत्यादि बातें ही उसके लिए उचित है।

(3) प्रयोजनवाद बहुतत्त्ववादी विचारधारा का समर्थक एवं पोषक है। इसके अनुसार संसार का निर्माण अनेक तत्वों के योग से हुआ है। इस सम्बन्ध में रस्क महोदय ने लिखा है – 'प्रकृतिवाद प्रत्येक वस्तु को जीवन अथवा भौतिक तत्व से निर्मित मानता है। आदर्शवाद मन (विचार) अथवा आत्मा से। प्रयोजनवाद किसी एक की आधारभूत सिद्धान्त के आधार पर इसकी व्याख्या की आवश्यकता नहीं समझता है। वह अनेक सिद्धान्त के योगदान को स्वीकार करते हैं। इस प्रकार वह बहुतत्ववादी है।'

(4) प्रयोजनवाद आदर्शवाद के विपरीत प्रकृतिवाद के साथ सहयोग करके व्यक्तित्व का संकीर्ण अर्थ बताता है। चूँकि मनुष्य जन्म से ही भिन्न भिन्न स्वभाव तथा व्यक्तित्व वाले होते हैं इसलिए आदर्शवाद के व्यक्तित्व की सार्वभौमिकता पर प्रयोजनवाद का विश्वास नहीं है।

(5) प्रयोजनवाद 'सत्य' को 'व्यवहार' तथा 'प्रयोजन' की कसौटी पर कसकर तथा परिणाम द्वारा व्यवहार के अच्छे तथा बुरे होने की बात करके वह आदर्शवाद का विरोध करता है तथा तर्क एवं प्रज्ञा के विषय में मनुष्यों तथा पशुओं में साम्य बताकर वह प्रकृतिवादी विचारकों का समर्थन करता है।

(6) प्रयोजनवाद का शाश्वत मूल्यों (सांस्कृतिक मूल्यों) तथा आदर्शों में भी विश्वास नहीं है। इस विचार में वह प्रकृतिवाद का ही समर्थन करता है।

(7) प्रयोजनवाद प्रकृतिवाद के समान ही ज्ञान को हेय तथा बुद्धि को मनस् से स्वतंत्र मानते हैं। यद्यपि आदर्शवादी भी मात्र कल्पना में विश्वास नहीं करते हैं।

अतः स्पष्ट है कि प्रयोजनवादी कभी आदर्शवादियों का समर्थन करते हैं तो कभी प्रकृतिवादियों का। इस प्रकार वे अपने को इन दोनों 'वादों' के बीच की स्थिति में रखते हैं।

बोध प्रश्न –

टिप्पणी (क) – अपने उत्तर नीचे दिये गये स्थान में लिखिए।

(ख) - इकाई के अन्त में दिये गये उत्तरों से अपने उत्तर मिलाइये।

(1) मूल्य एवं आदर्श के सन्दर्भ में प्रयोजनवाद के क्या विचार हैं?

....

....

(2) प्रयोजनवाद को बहुत्ववादी क्यों माना जाता है?

....

....

4.5 प्रयोजनवाद और शिक्षा

प्रयोजनवाद केवल उन्हीं को सत्य मानता है जिनके व्यावहारिक परिणाम संतोषजनक हों। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि व्यावहारिक एवं सन्तोषजनक क्या है? प्रयोजनवादियों के अनुसार व्यावहारिक एवं संतोषजनक शब्दों के अर्थ के सम्बन्ध में तीन मुख्य धारणायें हैं –

(1) मानवतावादी प्रयोजनवाद (Humanistic Pragmatism)

मानवतावादी प्रयोजनवाद का एक मुख्य स्वरूप है जिसके अनुसार मानव-प्रकृति को पूर्ण रूप से सन्तुष्ट करने वाली बात सत्य है। समाज को ह्यूमनिज्म नामक शब्द अंग्रेज दार्शनिक शिलर से प्राप्त हुआ है। मानवतावादी प्रयोजनवाद के प्रमुख समर्थक जेम्स महोदय हैं। मानवतावादियों का कथन है – 'जो बात मेरे प्रयोजन को पूरा करती है मेरी इच्छाओं को सन्तुष्ट करती है और मेरे जीवन का विकास करती है,वही सत्य है।'

(2) प्रयोगात्मक प्रयोजनवाद (Experimental Pragmatism)

प्रयोजनवाद का यह स्वरूप इस बात पर बल देता है कि प्रयोग द्वारा जो ब़ात सत्य सिद्ध हो जाय, वह सत्य है। स्पष्ट है कि प्रयोगात्मक प्रयोजनवद विज्ञान, प्रयोगशाला विधियों पर आधारित है। यदि हम प्रयोग शब्द का विस्तृत अर्थ में प्रयोग करें तो ये विधियाँ प्रत्येक क्षेत्र में लागू की जा सकती हैं। संक्षेप में इस स्वरूप के अनुसार 'जिस बात को प्रयोग द्वारा सत्य सिद्ध किया जा सके वही सत्य है अथवा जो बात ठीक कार्य करती है, वही सत्य है।

(3) जीवविज्ञान वादी प्रयोजनवाद (Biological Pragmatism)

प्रयोजनवाद का यह रूप आधुनिक समय की सबसे अधिक प्रबल एवं लोकप्रिय विचारधारा है। यह विचारधारा मनुष्य के वातावरण की अपेक्षा उसकी शक्ति को अधिक महत्व देती है जो मनुष्य की आवश्यकतानुसार वातावरण को बदलने में महत्वपूर्ण हो़ती है। इसीलिए कुछ विद्वान इसे साधनवाद भी कहते हैं। जान डीवी का विचार है 'इस प्रयोजनवाद की जाँच मानव को अपने वातावरण से अनुकूलन करने की विचार-प्रक्रिया से की जाती है।'

उपरोक्त तथ्यों के विवेचन के उपरान्त हम प्रयोजनवाद का शिक्षा से विशिष्ट एवं सामान्य संबंध स्थापित कर सकते हैं। प्रकृतिवाद के समान प्रयोजनवाद भी बालक को महत्वपूर्ण स्थान देता है। बालक रूचियों, आवश्यकताओं एवं इच्छाओं के कारण प्रौढ़ों से भिन्न होते है।, इसलिए बालक मात्र बालक है न कि प्रौढ़ का लधु रूप। यथार्थ को परिवर्तनशील मानकर बालक को भविष्य हेतु शिक्षित करना अनुचित है, इसलिए प्रयोजनवाद शिक्षा के पूर्व निर्धारित उद्देश्य की बात नहीं करते ।

प्रयोजनवाद 'शिक्षा बालक के लिए' इस सिद्धान्त पर विश्वास करता है न कि 'शिक्षा, शिक्षा के लिए' सिद्धान्त पर। शिक्षा का महत्व एवं आवश्यकता बालक की इच्छाओं की पूर्ति करने में है जिसे प्रकृतिवादी विचारक भी स्वीकारते हैं।

प्रयोजनवादी बालक के मस्तिष्क को एक इकाई मानते हैं और ये भी मानते हैं कि शिक्षा सिद्धान्त एवं शिक्षा मनोविज्ञान दोनों परस्पर प्रभाव डालते हैं। शिक्षा रूचिकर हो, आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाली हो, समाज केन्द्रित हो तथा उसकी शक्ति समाज के विकास हेतु प्रयुक्त हो इस प्रकार के सिद्धान्तों द्वारा प्रयोजनवाद ने शिक्षा में निगमन विधि एवं प्रयोगात्मक सिद्धान्त को जन्म दिया। साथ ही समाज की आवश्यकतानुरूप विषय-परिवर्तन, उद्देश्य परिवर्तन, रचनात्मक कार्यों पर बल, कर्म को प्रधान मानते हुए प्राचीन आदर्शों एवं पुस्तकीय ज्ञान से बालक को दूर रखा।

बोध प्रश्न –

टिप्पणी (क) – अपने उत्तर नीचे दिये गये स्थान में लिखिए।

(ख) - इकाई के अन्त में दिये गये उत्तरों से अपने उत्तर मिलाइये।

(3) प्रयोजनवाद के अनुसार शिक्षा क्या हैं?

....

....

....

4.5.1 प्रयोजनवाद और शिक्षा के उद्देश्य

वातावरण में निरन्तर परिवर्तन होते रहने के करण प्रयोजनवाद मानव-जीवन के किसी निश्चित अथवा स्थायी मूल्य एवं आदर्श में विश्वास नहीं करता। इसलिए प्रयोजनवादी शिक्षा का कोई विशिष्ट उद्देश्य निर्धारित नहीं करते हैं। जब जगत, जीवन तथा व्यक्ति सभी परिवर्तनशील हैं तो शिक्षा का कोई अन्तिम उद्देश्य हो ही नहीं सकता। भविष्य के सम्बन्ध में जब कोई निश्चितता है ही नहीं, तो शिक्षा का कोई अग्रगामी उद्देश्य कैसे हो सकता है? प्रयोजनवादियों के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य उसकी प्रक्रिया में निहित है न कि भविष्य में प्राप्त किये जाने वाले किसी लक्ष्य में। दूसरे शब्दों में उद्देश्य वह विशिष्ट लक्ष्य है जो तात्कालिक समस्या का समाधान करने हेतु हमारे ध्यान को केन्द्रित करता है तथा हमारे चिन्तन एवं क्रिया को अग्रसर करता है। इस प्रकार अनुभव की पुनर्रचना द्वारा शिक्षा अग्रसर होती है और यही पुनर्रचना शिक्षा का उद्देश्य है। प्रयोजनवादी शिक्षाशास्त्री जॉन डीवी ने स्वयं ही लिखा है – 'शिक्षा एक सूक्ष्म विचार है। इसके कोई उद्देश्य नहीं होते। निर्धारित उद्देश्य लाभ की अपेक्षा हानि पहुँचाते हैं। उन्हें केवल एक सुझाव के रूप में लिया जा सकता है।'

प्रयोजनवाद के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य जीवन की तैयारी नहीं, अपितु वर्तमान जीवन को सुचारू रूप से जीना सिखाना है तथा वर्तमान के अनुभव की पुनर्रचना द्वारा भविष्य की समस्याओं को अधिक प्रभावी ढंग से हल करने के लिए व्यक्ति को सक्षम बनाना है।' इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए शिक्षक का कर्तव्य बालक के आवेगों, रूचियों एवं प्रवृत्तियों को ठीक मार्ग पर लाना है। इसके समर्थन में रॉस का कथन है – 'बालक के आवेगों, रूचियों एवं योग्यताओं को किसी निश्चित योजना की प्राप्ति के लिए नहीं अपितु उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति की ओर ले जान शिक्षा है।'

प्रयोजनवादी अन्तिम उद्देश्य को न मानते हुए भी विशिष्ट ध्येयों की उपेक्षा नहीं करता है। प्रत्येक समस्या को हल करने के लिए कुछ विशिष्ट ध्येय सामने रखे जाते हैं, समस्या के हल होने के साथ ही उन ध्येयों की पूर्ति हो जाती है, परन्तु वह समाधान स्वयं अनेक अन्य समस्याओं को जन्म दे सकता है, जिनके विशिष्ट ध्येय पुनः पृथक से परिभाषित करने पड़ते हैं। प्रयोजनवाद साधन एवं साध्य में भेद नहीं करता । अतः जो आज साध्य है वही कल साधन बन जाता है। इस प्रकार विशिष्ट उद्देश्य प्रत्येक परिस्थिति में भिन्न भिन्न होते हैं।

शिक्षा के उद्देश्य सभी व्यक्तियों के लिए एक समान नहीं हो सकते। विशेष परिस्थितियों में विशेष उद्देश्य मानना ही ठीक है। किन्तु जॉन डीवी स्वयं ही यह निष्कर्ष निकालते हैं कि सामाजिक कार्य कुशलता को अधिक महत्व प्रदान किया जा सकता है क्योंकि सामाजिक वातावरण एवं बालक में अन्तर्क्रिया के फलस्वरूप दोनों एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। इसलिए शिक्षा का उद्देश्य ऐसे व्यक्तियों को तैयार करना है जो स्वयं में सामाजिक कुशलता का विकास कर सके।

बोध प्रश्न –

टिप्पणी (क) – अपने उत्तर नीचे दिये गये स्थान में लिखिए।

(ख) - इकाई के अन्त में दिये गये उत्तरों से अपने उत्तर मिलाइये।

(4) शिक्षा के उद्देश्य के सम्बन्ध में प्रयोजनवाद का विचार क्या हैं?

....

....

....

4.5.2 प्रयोजनवाद और शिक्षक

प्रयोजनवादी बाल केन्द्रित शिक्षा पर बल देते हैं। उनके अनुसार शिक्षा में बालक, उसकी योग्यताओं, रूचियों एवं प्रवृत्तियों का प्रमुख स्थान है, परन्तु वे अध्यापक की अवहेलना नहीं करते। प्रयोजनवादी अध्यापक सदा व्यावहारिक दृष्टिकोण रखता है। वह सामाजिक एवं भौतिक वातावरण में उत्पन्न होने वाली समस्याओं के समाधान में रूचि लेता है । अध्यापक अनुभववादी होता है और वह आदर्शों, मूल्यों एवं उद्देश्यों में ही उलझा न होकर प्रयोगवादी होता है। वह 'प्रयास एवं त्रुटि' के आधार पर समस्याओं का समाधान करता है तथा प्रयोग द्वारा सत्य का निर्माण करता है। इस दृष्टि से प्रयोजनवाद में अध्यापक के कार्य भिन्न प्रकार के माने गये हैं। अध्यापक का प्रमुख कार्य छात्रों द्वारा प्रभावपूर्ण अनुभव प्राप्त करने के लिए उपयुक्त परिस्थितियाँ आयोजित करना है। उसे अध्ययन परिस्थितियाँ आयोजित करने के लिए पूर्व योजना तैयार करनी पड़ती है। छात्रों की योग्यताओं तथा आवश्यकताओं का उसे पता लगाना पड़ता है। उसे उन परिस्थितियों को संजोना पड़ता है जिनके द्वारा बालकों की क्षमताओं का विकास भी हो तथा अपेक्षित विषय-सामग्री भी प्रदान की जा सके।

प्रयोजनवादी अध्यापक ज्ञान पर अधिक विश्वास नहीं करता। इसलिए वह बालकों को ज्ञान देने की अपेक्षा क्रिया में लगा देना अधिक अच्छा समझता है। वह तो हमेशा अनुभव के मनोवैज्ञानिक पहलू पर ध्यान देता है तथा अध्ययन का क्रम मनोवैज्ञानिक रखता है न कि तार्किक। वह क्रियावादी होता है और छात्रों को प्रयोग में व्यस्त रखना चाहता है। वह चाहता है कि छात्र जो कुछ भी सीखें वह प्रयोग द्वारा ही सीखें क्योंकि प्रयोग द्वारा ही सही रूप में सीखना होता है।

वास्तव में वाह्य जगत की सामाजिक परिस्थितियाँ इतनी जटिल हैं कि उनके द्वारा अनुभव की पुनर्रचना शैक्षिक दृष्टि से प्रभावकारी नहीं हो सकती। इस दृष्टि से अध्यापक के तीन प्रमुख दायित्व होते हैं-

(1) अनुभव के लिए सामाजिक परिस्थितियों को सरल रूप में प्रस्तुत करना ताकि बालक की क्षमता के मुताबिक सरलता से, कम समय में शैक्षिक अनुभव अर्जित किये जा सके।

(2) अनुभव की सभी परिस्थितियाँ शैक्षिक एवं आदर्श नहीं होती। अध्यापक का कार्य सामाजिक अनुभवों को आदर्श एवं शैक्षिक अनुभव के रूप में प्रस्तुत करना है।

(3) वास्तविक जगत में अनुभव सन्तुलित रूप में नहीं मिल पाते । किसी परिस्थिति का अनुभव अधिक और किसी का अत्यन्त कम होने की आशंका रहती है, इसलिए अध्यापक का कार्य छात्रों के सम्मुख सामाजिक अनुभवों को सन्तुलित रूप में प्रस्तुत करना है।

प्रयोजनवाद अध्यापकों में कुछ गुणों की अपेक्षा भी करता है। उसके अनुसार अध्यापक का बालक की संभावना-शक्तियों में अनन्त विश्वास होना चाहिए। उसमें बालक से प्रेम, सहानुभूति तथा मैत्रीपूर्ण व्यवहार करने की क्षमता होनी चाहिए।

बोध प्रश्न –

टिप्पणी (क) – अपने उत्तर नीचे दिये गये स्थान में लिखिए।

(ख) - इकाई के अन्त में दिये गये उत्तरों से अपने उत्तर मिलाइये।

(5) शिक्षक के सम्बन्ध में आदर्शवाद एवं प्रयोजनवाद के क्या विचार हैं?

....

....

....

4.5.3 प्रयोजनवाद और छात्र (शिक्षार्थी)

प्रयोजनवादी शिक्षा में बालक को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। प्रकृतिवादी विचारकों की भाँति प्रयोजनवादी भी बाल केन्द्रित शिक्षा का समर्थन करते हैं। प्रयोजनवादी बालक की जन्मजात शक्तियों, योग्यताओं एवं रूचियों में विश्वास करते हैं। प्रयोजनवादियों के मतानुसार –'बालक की शिक्षा प्राकृतिक शक्तियों पर ही आधारित होनी चाहिये, इसी के आधार पर वे शिक्षण विधियों का निर्माण करने के पक्षपाती हैं।'

प्रयोजनवाद के अनुसार छात्र अनुभव का केन्द्र होता है। यदि वह अनुभव करने में अक्षम है, तो उसकी शिक्षा संभव नहीं हो सकती। प्रयोजनवाद अनुभव की सीमा इन्द्रियानुभव से थोड़ा अधिक सामाजिक अनुभव तक निर्धारित करता है। प्रकृतिवाद के अनुसार छात्र केवल वाह्य जगत का अनुभव प्राप्त करता है किन्तु प्रयोजनवाद के अनुसार यह अनुभव सामाजिक परिवेश में किया जाता है।

प्रयोजनवादी विचारक बालक के सामाजिक व्यक्तित्व के अतिरिक्त 'मनोवैज्ञानिक व्यक्तित्व को भी महत्वपूर्ण स्थान देते हैं। किन्तु वे इस मनोवैज्ञानिक व्यक्तित्व को 'समाजीकरण'

के द्वारा सामाजिक व्यक्तित्व में परिणत करना चाहते हैं। इस कार्य को पूरा करने का दायित्व विद्यालय पर होता है जिसके लिए उसे एक सामाजिक संस्था का रूप ग्रहण करना पड़ता है। शिक्षक एक मार्ग दर्शक के रूप में विद्यालय के सामाजिक वातावरण में क्रियाशील बालकों को सामाजिक जीवन के मूल्यों एवं आदर्शों को अर्जित करने में सहायता देता है। इस प्रकार विद्यालय एवं शिक्षा दोनों बालकों के मनोवैज्ञानिक व्यक्तित्व को सामाजिक व्यक्तित्व में परिणत कर उन्हें समाज का क्रियाशील सदस्य बनाते हैं।

प्रयोजनवादी चिन्तक यह मानते हैं कि सत्य एवं मूल्य सृजनशील होते हैं। मूल्यों का निर्धारण करने में बालक सदा सक्रिय रहता है। बालक की शक्तियाँ प्राकृतिक नियमों से बंधी होती हैं। बालक अपने अनुभव के सहारे शक्तियों के द्वारा वातावरण में परिवर्तन कर सकता है। बालक का अस्तित्व केवल आंगिक अथवा शारीरिक ही न होकर मनोवैज्ञानिक भी है। इसीलिए प्रयोजनवादी बालक को पशुओं की अपेक्षा महत्तर मानते हैं। जान डीवी के अनुसार शिक्षकों को बालकों की इस मनोवैज्ञानिक स्थिति से अवगत होना चाहिए। बालकों की रूचि, क्षमता, आदतों इत्यादि की पूर्ण जानकारी शिक्षक को होनी चाहिए तभी वे सही ढंग से शिक्षा की व्यवस्था कर सकते हैं।

जॉन डीवी का विचार है कि बालक की वास्तविक शिक्षा तब होती है जब सामाजिक परिस्थितियों की चुनौतियों के कारण उसकी शक्तियाँ उद्दीप्त होती हैं । आरम्भ में बालक की शक्तियाँ अविकसित होती हैं। उसका विकास होना तब प्रारम्भ होता है जब वे अन्य लोगो के साथ सामाजिक सम्बन्ध कायम करते हैं।

4.5.4 प्रयोजनवाद और पाठ्यक्रम

प्रयोजनवादियों के लिए ज्ञान का कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है, वह तो अनुभव का उप-उत्पाद्य है तथा अनुभव को समृद्ध बनाने में सहायक होता है। अतः प्रयोजनवादी पाठ्यक्रम के अन्तर्गत ज्ञानात्मक विषयों की कोई सूची प्रस्तुत नहीं करता। इसके अतिरिक्त ज्ञान को खण्ड-खण्ड में विभक्त भी नहीं किया जा सकता, क्योंकि अनुभव अथवा क्रिया के रूप में अनेक प्रकार का ज्ञान एक साथ प्राप्त होता है। इसलिए प्रयोजनवाद सामाजिक अनुभवों के माध्यम से समग्र ज्ञान पर बल देता है। चूँकि प्रयोजनवाद किसी पूर्व निश्चित उद्देश्य अथवा मूल्य को स्वीकार नहीं करता, अतः आदर्शवादी पाठ्यक्रम की वह आलोचना करता है। आदर्शवादी पाठ्यक्रम विचार केन्द्रित होता है, जबकि प्रयोजनवादी पाठ्यक्रम अनुभव केन्द्रित। जब शाश्वत मूल्य है ही नहीं तो छात्रों की वर्तमान रूचियाँ ही मूल्यवान हो जाती हैं। अतः प्रयोजनवादी पाठ्यक्रम में बालकों की रूचियों एवं आवश्यकताओं का पूरा ध्यान रखा जाता है।

पाठ्यक्रम की इस व्यवस्था से अवगत कराने के लिए प्रयोजनवादियों ने पाठ्यक्रम के निर्माण के कुछ आधारभूत सिद्धान्त प्रस्तुत किये हैं जो निम्नलिखित हैं –

(1) उपयोगिता का सिद्धान्त

(2) बालक की रूचि का सिद्धान्त

(3) बालक के व्यवसाय, क्रिया एवं अनुभव का सिद्धान्त

(4) एकीकरण का सिद्धान्त

प्रयोजनवादियों के पाठ्यक्रम निर्माण से सम्बन्धित प्रथम सिद्धान्त उपयोगिता का सिद्धान्त है। इसके अनुसार वे पाठ्यक्रम में उन्हीं विषयों को स्थान देने की वकालत करते हैं जो बालक के भावी जीवन में काम आने वाले अनुभवों से पूर्ण हों तथा उन्हें ज्ञान तथा सफल जीवन-यापन की क्षमता प्रदान कर सकें। इस दृष्टि से पाठ्यक्रम में भाषा, स्वास्थ्य विज्ञान, शारीरिक प्रशिक्षण, इतिहास, भूगोल, गणित, विज्ञान, कृषि तथा गृह विज्ञान इत्यादि को स्थान देना चाहिए। उपयोगिता के नियम के अनुसार बालक को किसी व्यवसाय की भी शिक्षा देनी चाहिए परन्तु साथ ही यह ध्यान भी रखना चाहिये कि मानव प्रगति का लोप न हो जाय।

बालक के विकास के विभिन्न स्तरों के अनुसार उसकी रूचियाँ भी भिन्न भिन्न प्रकार की होती हैं। जैसे बाल्यावस्था में बालक खोज, रचनात्मक कार्य, कलात्मक कार्य, बातचीत इत्यादि कार्यों में अधिक रूचि लेता है, इसलिए पाठ्यक्रम का निर्माण करते समय इस बात का विशेष ध्यान रखना चाहिए।

पाठ्यक्रम में निष्क्रिय ज्ञान न होकर व्यावहारिक क्रियाओं का उल्लेख होना चाहिये। पाठ्यक्रमीय एवं पाठ्येत्तर क्रियाओं में प्रयोजनवादी कोई अन्तर नहीं करता। क्रियाएं श्रम जन्य होनी भी आवश्यक नहीं हैं। इसके स्थान पर बौद्धिक एवं कलात्मक क्रियायें भी हो सकती हैं। प्रकृतिवादी के समान ही प्रयोजनवादी भी प्रत्यक्ष प्रणाली द्वारा ज्ञान प्राप्त करने पर बल देता है।

प्रयोजनवादी विचारकों के अनुसार पाठ्यक्रम में जिन विषयों का समावेश किया जाय वे एक दूसरे से इतने अधिक सम्बन्धित रहें कि बालकों को जो ज्ञान प्राप्त हो वह उन्हें खण्डित एवं विभाजित प्रतीत न हों क्योंकि वास्तविक ज्ञान अखण्ड एवं परस्पर सम्बन्धित होता है। प्रयोजनवादियों के पाठ्यक्रम के सम्बन्ध में इस विचार की पुष्टि करते हुए रॉस महोदय ने लिखा है – 'एक विषय को दूसरे विषय से कठोरता पूर्वक अलग रखने की भावना का अन्त होना चाहिए। और बालक को अलग अलग विषयों का ज्ञान देने की अपेक्षा सभी ज्ञान प्राप्त करने हेतु प्रोत्साहित करना चाहिए।'

4.5.5 प्रयोजनवाद और शिक्षण विधि

प्रयोजनवादी शिक्षाशास्त्री प्रचीन एवं रूढ़िवादी शिक्षण पद्धतियों का कड़ा विरोध करते हुए कहते हैं कि किसी भी शिक्षण पद्वति को इसलिए स्वीकार नहीं करना चाहिए क्योंकि वह पहले से शिक्षा के क्षेत्र में प्रयुक्त होती रही है, बल्कि वे नवीन परिस्थितियों के अनुसार नवीन पद्धतियों का प्रतिपादन करते हैं। इस दृष्टि से प्रयोजनवादियों ने शिक्षण-विधि के कुछ सिद्धान्त निर्धारित किये हैं। उनका कथन है कि शिक्षण विधि ऐसी होनी चाहिए जो शिक्षा का बालक के जीवन, उसकी रूचियों, अभिरूचियों तथा उद्देश्यों से सम्बन्ध स्थापित करे। शिक्षा की प्रक्रिया का सोद्देश्य होना आवश्यक है। सच्ची शिक्षा वही है जो बालक को अपनी सोद्देश्य क्रियाओं से मिलती है । प्रयोजनवदी विचारक यह नहीं चाहते हैं कि बालक दूसरों के द्वारा दिये ज्ञान को प्राप्त करें। बल्कि इसके विपरीत वे चाहते हैं कि बालक स्वयं ही अपनी इच्छाओं, रूचियों एवं रूझानों के अनुसार किसी उद्देश्य अथवा लक्ष्य की पूर्ति के लिए ज्ञान प्राप्त करें। इस प्रकार प्रयोजनवादी शिक्षण विधि का प्रथम सिद्धान्त है। सीखने की प्रक्रिया को उद्देश्य पूर्ण होना चाहिए।

प्रयोजनवादी विचार की अपेक्षा क्रिया पर अधिक बल देते हैं। उनका विश्वास है कि बालक पुस्तकों से उतना नहीं सीखता जितना वह अपनी क्रियाओं एवं अनुभवों से सीखता है। अतः प्रयोजनवाद करके सीखने अथवा 'अनुभव द्वारा सीखने' पर विशेष महत्व देते हैं। इस सिद्धान्त का आशय यह नहीं है कि शिक्षा के साधनों में केवल व्यावहारिक कार्यों की वृद्धि की जाय किन्तु इसका तात्पर्य यह भी है कि बालक को जीवन की वास्तविक परिस्थितियों में रखकर उसे वास्तविक समस्याओं के समाधान के प्रयत्नों द्वारा पढ़ाया जाय।

प्रयोजनवादी विचारक विभिन्नता में एकता अथवा 'ज्ञान की अखण्डता' के सिद्धान्त में विश्वास करते हैं, इसलिए उनका विचार है कि शिक्षण विधि ऐसी होनी चाहिए जो विभिन्न विषयों में एकता स्थापित कर सके। प्रयोजनवाद के अनुसार एक विषय को दूसरे विषय के साथ सम्बद्ध करके पढ़ाना चाहिये और यही सर्वोत्तम विधि भी है।

उपर्युक्त सिद्धान्तों के आधार पर किलपैट्रिक ने एक नवीन शिक्षण-विधि का प्रतिपादन किया जिसे 'योजना-पद्धति' कहते हैं। यह विधि प्राचीन विधि से बिल्कुल भिन्न होती है। यह प्राचीन विधि के समान निष्क्रिय नहीं है। इसमें बालक सक्रिय रहता है। शिक्षक बालकों के सामने ऐसी परिस्थितियाँ रखता है कि बालक स्वयं समस्या का अनुभव कर सके। इसमें बालक समस्या-समाधान में सक्रिय भाग लेकर तथा एक दूसरे के सहयोग से कुछ निश्चित परिणामों तक पहुँचता है।

बोध प्रश्न –

टिप्पणी (क) – अपने उत्तर नीचे दिये गये स्थान में लिखिए।

(ख) - इकाई के अन्त में दिये गये उत्तरों से अपने उत्तर मिलाइये।

(6) प्रयोजनवाद कौन सी शिक्षण-विधि को अपनाता हैं?

....

....

....

4.5.6 प्रयोजनवाद और अनुशासन

प्रयोजनवादी विचारकों का मानना है कि अनुशासन सामाजिक वातावरण की देन है। इस वाद में अनुशासन के सन्दर्भ में वैयक्तिक दृष्टिकोण की अपेक्षा सामाजिक दृष्टिकोण को विशेष महत्व दिया जाता है। इस सम्बन्ध में जॉन डीवी का विचार है कि विद्यालय का वातावरण यदि ऐसा है, जिसमें छात्र रूचि लेता है तो अनुशासन हीनता की समस्या नहीं आयेगी। सामाजिक वातावरण का सृजन रूचिकर, सप्रयोजन एवं सामूहिक क्रियाओं से होता है। जब तक छात्र क्रियाओं में व्यस्त नहीं रहते, तब तक वे अनुशासित भी सही अर्थ में नहीं हो पायेंगे। प्रयोजनवाद के अनुसार सामाजिक अनुशासन पाठशाला की स्वतंत्र, सामूहिक तथा सोद्देश्य क्रियाओं द्वारा स्थापित किया जा सकता है। इस प्रकार की क्रियाएं बालक में अपने आपको नियंत्रित रखने की भावना उत्पन्न कर देती है। इस आत्म नियन्त्रण के पीछे समाज की स्वीकृति होती है। आत्म नियन्त्रण से बालक का नैतिक एवं चारित्रिक विकास होता है। क्रियाओं के माध्यम से ही बालकों में स्वावलम्बन, आत्मनिर्भरता, सहयोग एवं सहानुभूति इत्यादि गुणों का विकास किया जा सकता है। प्रयोजनवादी न तो दमनात्मक अनुशासन को अच्छा समझते

हैं और न प्रभावात्मक अनुशासन को ही, अपितु मुक्त्यात्मक अनुशासन के सीमित रूप का समर्थन करते हैं। वे बालकों की प्रवृत्तियों, इच्छाओं एवं इन्द्रियों की स्वतंत्रता अवश्य प्रदान करते हैं।

4.6 प्रयोजनवाद की आलोचना

प्रयोजनवादी दर्शन 'प्रगति गामी शिक्षा' के आन्दोलन के रूप में प्रस्फुटित हुआ परन्तु आज उसकी सफलता के संबंध में अनेक आशंकायें उठाई जा रही हैं। कारण स्पष्ट है कि प्रयोजनवाद ने अपने अनिश्चित उद्देश्यों से, साधन को साध्य से अधिक महत्व देकर तथा मनुष्य की मूल्यों के क्षेत्र में रचनात्मकता इत्यादि सिद्धान्तों का प्रतिपादन करके अपूर्ण विचारधारा होने का परिचय दिया है। प्रयोजनवादी दर्शन के सम्बन्ध में कुछ विचारणीय बिन्दु इस प्रकार हैं –

(1) कार्य (क्रिया) सदैव विचार से अधिक महत्वशाली नहीं हो सकता। विचार क्रिया से ही उत्पन्न नहीं होता अपितु अनेक बार विचार की परिणति क्रिया में होती है।

(2) इस दर्शन का आध्यात्मिकता में कोई विश्वास नहीं है। प्रयोजनवादी अनुभव में यथार्थ का अस्तित्व मानता है किन्तु उन व्यक्तियों का मार्ग अवरूद्ध कर देता है जो आध्यात्मिकता को कल्पना की वस्तु न मानकर अनुभव की ही वस्तु मानते हैं और जिन्हें आध्यात्मिकता की अनुभूति बराबर होती रहती है।

(3) प्रयोजनवाद में एक नकारात्मकता परिलक्षित होती है । स्थापित सिद्धान्तों एवं मूल्यों को इन्कार करने के अलावा प्रयोजनवाद ने और कुछ नहीं किया। नये सिद्धान्त एवं मूल्य स्थापित करने में प्रयोजनवाद असफल रहा।

(4) प्रयोजनवाद जीवन की सभी समस्याओं के विचार के लिए वैज्ञानिक विधि का उपयोग करता है जबकि दूसरी ओर विज्ञान के अमानुषिक विवेचन की भर्त्सना भी करता है। यह एक विरोधाभास सा दिखाई देता है। इसके अलावा जीवन के भावनात्मक एवं आध्यात्मिक प्रश्नों के विवेचन के लिए अन्य प्रकार की विधि अपेक्षित होगी।

(5) प्रयोजनवाद ने चिरन्तन मूल्यों की उपेक्षा करके शैक्षिक उद्देश्यों को निम्न स्तर पर लाकर खड़ा कर दिया है। उनके अनुसार शिक्षा का कोई निश्चित उद्देश्य नहीं होता। बिना उद्देश्यों के शिक्षा देने से तो अच्छा यही जान पड़ता है कि शिक्षा दी ही न जाय, क्योंकि सुशिक्षा एवं कुशिक्षा में उद्देश्य के आधार पर ही भेद किया जा सकता है।

(6) समस्या प्रणाली तथा प्रोजेक्ट प्रणाली से जो ज्ञान प्रदान किया जाता है, वह क्रमबद्ध एवं सुश्रृंखलित नहीं होता ।

(7) कोमल शिक्षा प्रणाली के कारण बालकों को वास्तविक जीवन जीने के लिए तैयार नहीं किया जाता। उन्हें एक कृत्रिम ख्याली दुनियाँ में रखा जाता है।

4.7 यथार्थवाद के सिद्धान्त

यथार्थवाद एक ऐसी विचारधारा है जिसका बीजारोपण मानव मस्तिष्क में अति प्राचीन काल में ही हो गया था, जबकि वह अपने चारों ओर के वातावरण की वस्तुओं से प्रभावित

होकर उन्हीं को यथार्थ मान लेता है। बटलर के अनुसार –'बहुत बड़ी संख्या में व्यक्तियों के लिए संसार निर्विवाद यथार्थ है। यदि उसकी यथार्थता के सम्बन्ध में पूछा जाय तो शीघ्र ही उत्तर प्राप्त होगा कि वास्तव में यह जगत यथार्थ है। अज्ञात क्रिया एवं उपयुक्ति के अकृत्रिम क्षणों में हम सभी जगत के वाह्य रूप को स्वीकार करते हुए यही मनोवृत्ति धारण करेंगे । यहाँ तक कि आदर्शवादी विचारक अपने अनधिकृत क्षणों में इस प्रकार की अकृत्रिमता के दोषी है। ऐसा यथार्थवादियों का कथन है ——— यथार्थवाद जैसा यह संसार है वैसा ही सामान्यतः उसे स्वीकार करता है।'

किन्तु जहाँ तक यथार्थवाद के वैज्ञानिक स्वरूप का प्रश्न है हम यह कह सकते हैं कि जिस यथार्थवादी विचारधारा का बहुत पहले मानव मस्तिष्क में अचेतन रूप से बीजारोपण हो गया था, उसका सूत्रपात 16वीं शताब्दी के अन्त में हुआ जो 17वीं शताब्दी तक पहुँचते पहुँचते एकदम स्पष्ट हो गया।

यथार्थवाद किसी एक सुगठित दार्शनिक विचारधारा का नाम न होकर उन सभी विचारों का प्रतिनिधित्व करता है जो यह मानते हैं कि वस्तु का अस्तित्व हमारे ज्ञान पर निर्भर करता है किन्तु यथार्थवाद विचारक मानते हैं कि वस्तु का स्वतंत्र अस्तित्व है, चाहे वह हमारे अनुभव में हो अथवा नहीं। वस्तु तथा उससे संबंधित ज्ञान दोनों अलग-अलग सत्तायें हैं। विश्व में अनेक ऐसी वस्तुएं हैं जिनके विषय में हमें कोई ज्ञान नहीं होता परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि वे वस्तुएं अस्तित्व में नहीं हैं। ज्ञान तो हमेशा बढ़ता जाता है। जगत का सम्पूर्ण रहस्य मानव ज्ञान की सीमा में कभी नहीं आ सकता । कहने का तात्पर्य यह है कि वस्तु की स्वतंत्र स्थिति है चाहे मनुष्य को उसका ज्ञान हो अथवा नहीं। व्यक्ति का ज्ञान उसे वस्तु की स्थिति से अवगत कराता है, परन्तु वस्तु की स्थिति का ज्ञान मनुष्य को न हो तो वस्तु का अस्तित्व नष्ट नहीं होता। यथार्थवाद के अनुसार हमारा अनुभव स्वतंत्र न होकर वाह्य पदार्थों के प्रति प्रतिक्रिया का निर्धारण करता है। अनुभव वाह्य जगत से प्रभावित है और वाह्य जगत का वास्तविक सत्ता है। यथार्थवाद के अनुसार मनुष्य को वातावरण का ज्ञान होना चाहिये। उसे यह पता होना चाहिए कि वह वातावरण को परिवर्तित कर सकता है अथवा नहीं और इसी ज्ञान के अनुसार उसे कार्य करना चाहिये।

अपने विकास क्रम में यथार्थवाद प्राचीन काल से आधुनिक काल तक अनेक रूपों में उपस्थित हुआ। प्राचीन यथार्थवाद के अनुसार सृष्टि के दो रूप थे – (1) प्राकृतिक व्यवस्था की सृष्टि, जिसमें परिवर्तन संभव है (2) दैवीय व्यवस्था की सृष्टि जिसमें परिवर्तन की कोई सम्भावना नहीं है। इस प्रकार बौद्धिकतावादी यथार्थवाद ने द्वैतवाद का समर्थन किया है। बौद्धिकतावादी यथार्थवाद के अनुसार दैवी जगत में कोई परिवर्तन नहीं होता इसलिए वहाँ पर शिक्षा का कोई प्रश्न नहीं। सीखना केवल प्राकृतिक जगत में ही संभव है, दैवीय जगत में नहीं। यथार्थवाद का नवीन रूप वैज्ञानिक यथार्थवाद है। जिसे आज यथार्थवाद के नाम से ही जान जाता है। वैज्ञानिक यथार्थवादियों ने दर्शन की समस्याओं को सुलझाने में विशेष रूचि प्रदर्शित नहीं की। उनके अनुसार यथार्थ प्रवाहमय है। यह परिवर्तनशील है और इसके किसी निश्चित रूप को जानना असंभव है। अतः वह यह परिकल्पित करता है कि 'यथार्थ मानव मन की उपज नहीं है। सत्य मानव मस्तिष्क की देन है। यथार्थ मानव-मस्तिष्क से परे की वस्तु है। उस यथार्थ के प्रति दृष्टिकोण विकसित करना सत्य कहा जायेगा।' जो सत्य यथार्थ के जितना निकट होगा वह उतना ही यथार्थ सत्य होगा।

बोध प्रश्न –

टिप्पणी (क) – अपने उत्तर नीचे दिये गये स्थान में लिखिए।

(ख) - इकाई के अन्त में दिये गये उत्तरों से अपने उत्तर मिलाइये।

(8) यथार्थवाद के 5 आधारभूत सिद्धान्त कौन से हैं?

(क) ....

(ख) ....

(ग) ....

(घ) ....

(ङ)..

4.8 भारतीय यथार्थवाद

भारतीय दर्शन में न्याय एवं वैशेषिक दर्शन यथार्थवाद के समकालीन माने जाते हैं। न्याय दर्शन के प्रवर्तक गौतम थे जो अक्षपाद के नाम से भी प्रसिद्ध थे। न्याय दर्शन में तार्किक आलोचना का आश्रय लिया गया है। अन्य सभी भारतीय दर्शन की भाँति न्याय दर्शन का उद्देश्य भी मोक्ष प्राप्ति है। किन्तु इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति आवश्यक है। न्याय दर्शन में प्रमाण का विशेष महत्व है। यह दर्शन जीवन की समस्याओं का समाधान करने के लिए प्रमाणों द्वारा किसी विषय की परीक्षा करता है। जिसके द्वारा प्रभा की उत्पत्ति होती है, उसे प्रमाण कहते हैं। प्रभा का अर्थ है – यथार्थ ज्ञान अथव यथार्थ अनुभव। न्याय दर्शन के अनुसार यथार्थ ज्ञान चार उपायों से प्राप्त किया जा सकता है, इसलिए प्रमाण भी चार माने गये हैं । यथा प्रत्यक्ष, अनुमान उपमान एवं शब्द। जो अनुभव इन्द्रियों के संयोग से प्राप्त होता है और जिसके विषय में सन्देह का अभाव होता है तथा जो यथार्थ भी होता है उसे 'प्रत्यक्ष' कहते हैं। किसी हेतु अथवा लक्षण के ज्ञान से उस हेतु को धारण करने वाले पदार्थ का ज्ञान करना 'अनुमान' कहलाता है । 'उपमान' के द्वारा नाम एवं नामी का सम्बन्ध जान जाता है। 'गवय' अथवा नील गाय, सामान्य गाय के समान होती है। इसको सुनकर जब कोई व्यक्ति गो' अर्थात सामान्य गाय के समान पशु को नीलगाय समझने लगता है तब उसे 'उपमान' द्वारा प्राप्त ज्ञान कहा जाता है। चार्वाक दर्शन में उपमान को प्रमाण स्वीकार नहीं किया गया है। 'शब्द' न्याय दर्शन के अनुसार अन्तिम प्रमाण है। शब्दों एवं वाक्यों से हम पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करते हैं। यह ज्ञान शब्द प्रमाण द्वारा होता है। इसलिए कहा गया है – आप्तोपदेशः शब्दः' अर्थात यथार्थ का ज्ञान रखने वाले पुरूष का वचन ही शब्द प्रमाण है।वैशेषिक दर्शन के प्रवर्तक महर्षि कणाद ने द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय एवं अभाव इन सात पदार्थों पर विचार किया है। न्याय एवं वैशेषिक को यहाँ यथार्थवादी कहा गया है किन्तु दोनों ही मुक्ति पर विश्वास करते हैं। अपने विवेचन में यह यथार्थवादी दृष्टिकोण अपनाते हैं, इसीलिए इन्हें यथार्थवाद कहा गया है। जैन दर्शन का स्यादवाद भी यथार्थवादी माना गया है। स्यादवाद सहिष्णुता एवं विनीतता का मार्ग है जो हमें छात्रों में जनतंत्रात्मक मनोवृत्ति का विकास करने की प्रेरणा देता है, साथ ही दूसरों के विचारों को सुनना, दूसरे के रीति रिवाजों को समझना तथा लोकतंत्र के संचालन की भी शिक्षा देता है। भारतीय यथार्थवाद

जीवन के प्रति यथार्थवादी दृष्टिकोण अपनाने का परामर्श देता है, किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि ईश्वर, आत्मा इत्यादि को यह अनावश्यक बताता है।

4.9 शिक्षा में यथार्थवाद

यथार्थवाद का जन्म सत्रहवीं शताब्दी में हुआ था। यथार्थवाद के प्रादुर्भाव के दो प्रमुख कारण थे'- प्रथम, प्राचीनकाल से चली आने वाली आदर्शवादी विचारधारा का 16वीं शताब्दी तक आडम्बरपूर्ण एवं खोखला हो जाना तथा द्वितीय, विज्ञान का विकास। सोलहवीं शताब्दी तक लगभग सभी प्राचीन तथा मध्यकालीन आदर्श महत्वहीन हो चुके थे। उनमें किसी का विश्वास न था क्योंकि वे वर्तमान मानव जीवन के लिए उपयोगी नहीं थे। वे मनुष्य की सामान्य आवश्यकताओं को पूरा करने में असमर्थ थे। वे मानसिक विकास तो कर सकते थे किन्तु मनुष्यों में क्रियाशीलता एवं व्यावहारिकता उत्पन्न नहीं कर सकते थे। प्राचीन आदर्श समय की माँग को पूरा करने में असमर्थ थे, इसलिए मनुष्य ऐसे आदर्श की माँग करने लगा जो वास्तविक जीवन व्यतीत करने में सहायक हो। परिणाम स्वरूप मध्यकाल में मठवाद एवं विद्वद्वाद के बाद पुनरूत्थान काल का जन्म हुआ।

पुनरूत्थान काल के इस युग में मनुष्य में एक ऐसी लहर उत्पन्न हो गयी कि परलोक के बजाय मानवीय गुणों का विकास करना मानव जाति का प्रधान लक्ष्य हो गया। इसके परिणामस्वरूप 'मानवतावाद' का प्रादुर्भाव हुआ और धीरे धीरे मानवतावाद सिसरोवाद में परिवर्तित हो गया क्योंकि सिसरों की लेखन शैली अपने जीवन का मुख्य लक्ष्य बन गया। इसके उपरान्त –'सुधारकाल' का जन्म हुआ। मानवतावाद एवं सुधारवाद के परिणाम स्वरूप मनुष्य 'बुद्धि' एवं 'विवेक' पर आस्था रखने लगा और इनके आधार पर सभी वस्तुओं को समझने का प्रयास करने लगा। उनके विश्वास को और अधिक दृढ़ विज्ञान के विकास ने किया जो यथार्थवाद के जन्म का दूसरा महत्वपूर्ण कारण है। कोपरनिकस, गैलीलियो, न्यूटन, जॉन केपलर, हारवीज, बेकन इत्यादि के शोधों के फलस्वरूप मानव दृष्टिकोण की संकीर्णता एवं अन्ध विश्वास नष्ट हो गये। वैज्ञानिक युग का आरम्भ हुआ और इस युग ने 'बुद्धि' एवं विवेक' को अधिक प्रधानता दी तथा मनुष्य का ध्यान वास्तविकता की ओर आकृष्ट किया। इस प्रकार भौतिक दार्शनिकता एवं वैज्ञानिक प्रवृत्ति के समावेश से यथार्थवाद का जन्म हुआ जो परलोक की सत्ता को अस्वीकार करता है। जिस प्रकार प्रकृतिवाद शिक्षा में कृत्रिमता के विरोध स्वरूप आया, उसी प्रकार यथार्थवाद ने भी पुस्तकीय एवं अनुपयुक्त पाठ्यक्रम का विरोध करते हुए शिक्षा में पदार्पण किया।

यथार्थवाद का तात्पर्य उस विचारधारा से है जो कि उस वस्तु एवं भौतिक जगत को सत्य मानती है, जिसका हम ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं। पशु, पक्षी, मानव, जल थल, आकाश इत्यादि सभी वस्तुओं का हम प्रत्यक्षीकरण कर सकते हैं, इसलिए ये सभी सत्य हैं, वास्तविक है। यथार्थवाद यद्यपि आदर्शवाद के विपरीत विचारधारा है किन्तु यह बहुत कुछ

प्रकृतिवाद एवं प्रयोजनवाद से साम्य रखती है।

4.9.1 यथार्थवाद तथा शिक्षा के उद्देश्य

मूल्यों के विषय में यथार्थवादी दृष्टिकोण व्यक्तिनिष्ठ न होकर वस्तुनिष्ठ है,इसलिए यथार्थवाद के अनुसार शिक्षा के उद्देश्य वस्तुनिष्ठ होने चाहिए, काल्पनिक नहीं। यथार्थवाद के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य बालकों को विद्वान बनाना नहीं है क्योंकि विद्वता प्रायः शाब्दिक एवं बौद्धिक स्तर तक रहती है। शैक्षिक उद्देश्य शैक्षिक मूल्य से सम्बन्धित होते हैं, जो जीवन के मूल्यों पर निर्भर हैं। जिस प्रकार ज्ञान की प्राप्ति हेतु व्यक्तिनिष्ठ दृष्टिकोण सहायक नहीं होता है, उसी प्रकार मूल्यों की प्राप्ति के लिए भी व्यक्तिनिष्ठ दृष्टिकोण की अपेक्षा वस्तुनिष्ठ दृष्टिकोण अधिक श्रेयस्कर होता है। व्यक्ति अपनी इच्छाओं, भावनाओं एवं विचारों को प्रकट करते हैं, जिनका अध्ययन करके मूल्यों का अध्ययन किया जाता है। यथार्थवाद ने शिक्षा के निम्नलिखित उद्देश्यों का निर्धारण किया है –

यथार्थवाद के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य बालक को वास्तविक जीवन की तैयारी में सहायता प्रदान करना है । वास्तविक जीवन की तैयारी का तात्पर्य बालक में उन गुणों का विकास करना है कि जब वह अपने व्यावहारिक जीवन में प्रवेश करें तो जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति का रूप और सामने आने वाली समस्याओं एवं कठिनाइयों का भली भाँति समाधान कर सके।

शिक्षा का एक अन्य उद्देश्य छात्रों को मानव समाज का पूर्ण ज्ञान देना है जिससे वह जीवन की सफलता प्राप्त कर सके। मानव प्रकृति, प्रेरणाओं, इच्छाओं, आवश्यकताओं तथा संस्थाओं को भली भाँति समझ सके।

शिक्षा का उद्देश्य छात्रों को कोई तकनीक, विज्ञान, सामान्य ज्ञान राशि तथा कलात्मक सराहना सिखाना है। उसकी शिक्षा के सभी अङ्ग परस्पर एक-दूसरे से प्रभावित होने चाहिये। शिक्षा का उद्देश्य व्यक्तियों का इस प्रकार निर्माण करना है कि वे सामाजिक संस्थाओं में अपना दायित्व निभा सकें। वे सामाजिक संस्थायें हैं- परिवार, उद्योग, राज्य, स्वास्थ्य-संरक्षण इत्यादि। फिने ने शिक्षा के दो उद्देश्य निर्धारित किये हैं – (1) भावी समाज की रूपरेखा तैयार करना (2) उक्त रूपरेखा के अनुरूप व्यक्ति तैयार करना।

यथार्थवादी विचारकों ने आध्यात्मिक धार्मिक तथा ईश्वर भक्ति से सम्बन्धित विकास को भी शिक्षा का उद्देश्य माना है। यथार्थवाद सुधार एवं पुनरूत्थान के आधार पर स्थापित अवश्य हुआ लेकिन इस विचारधारा को प्रभावित करने वाले प्रमुखतया धर्म से सम्बन्ध रखने वाले व्यक्ति थे।

यथार्थवाद सफल एवं सुखपूर्ण जीवन व्यतीत करने के योग्य बनाने का लक्ष्य तो रखता ही है लेकिन इसके साथ साथ उसका उद्देश्य प्रत्येक छात्र अथवा व्यक्ति को वह अन्तर्दृष्टि देना है, जिससे वह जीवन की इच्छाओं में चुनाव कर सके तथा अपना निर्णय दे सकें।

यथार्थवादी विचारकों के अनुसार शिक्षा का उल्लेखनीय उद्‌देश्य बालक की प्राकृतिक प्रवृत्तियों एवं क्रियाओं का स्वतंत्र विकास करना है। इसके लिए शिक्षा के द्वारा बालक में ऐसी योग्यता का विकास कर देना चाहिए कि वह अपने प्राकृतिक वातावरण पर स्वयं नियन्त्रण कर सके।

बोध प्रश्न –

टिप्पणी (क) – अपने उत्तर नीचे दिये गये स्थान में लिखिए।

(ख) - इकाई के अन्त में दिये गये उत्तरों से अपने उत्तर मिलाइये।

(9) यथार्थवादी शिक्षा के चार उद्देश्य बताइये?

(क) ....

(ख) ....

(ग) ....

(घ) ....

4.9.2 यथार्थवाद तथा पाठ्यक्रम

यथार्थवादी ज्ञान को अत्यधिक महत्व देते हैं तथा उसे शैक्षिक प्रक्रिया का अत्यन्त महत्वपूर्ण घटक मानते हैं। यथार्थवाद इस प्रचलित धारणा को पुष्ट करता है कि शिक्षा का अर्थ शिक्षार्थी द्वारा ज्ञान की प्राप्ति है। आदर्शवाद के समान यथार्थवाद भी एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक ज्ञान की संचित राशि को हस्तान्तरित करने में विश्वास करता है। यथार्थवादी दार्शनिक का विश्वास है कि शिक्षा द्वारा ज्ञान का संरक्षण तथा विकास किया जा सकता है। इसलिए यथार्थवाद के अनुसार पाठ्यक्रम विस्तृत होना चाहिए। छात्रों को उस विस्तृत पाठ्यक्रम में अपनी योग्यता के अनुसार अपने लिए विषय का चुनाव करने का अधिकार होना चाहिए। छात्र के जीवन में जो विषय सर्वाधिक उपयोगी हो, वही उसे पढ़ाना चाहिये। जिस विषय से उनका जीवन सफल हो सके और जिस विषय में वह अधिक योग्यता प्राप्त करने की सामर्थ्य रखता हो, उसे उसी विषय का अध्ययन करने की स्वतंत्रता होनी चाहिए।

छात्र के लिए कौन सा विषय अधिक उपयुक्त है, कौन सा नहीं? इसका निर्णय अकेले छात्र नहीं कर सकता है। उसे उपयुक्त पथ प्रदर्शन मिलना चाहिये। माता-पिता, अभिभावक एवं शिक्षक इस कार्य में उसकी सहायता कर सकते हैं। छात्र का पथ प्रदर्शन करने में इस बात का ध्यान रहे कि विषयों का आपस में सम्बन्ध हो साथ ही समाज की माँग का भी ध्यान रखना चाहिए। समाज की आवश्यकतायें भिन्न-भिन्न प्रकार की होती हैं, सामाजिक परिस्थितियां भी भिन्न होती हैं, अतः किसी एक विषय से काम नहीं चल सकता, इसलिए छात्र को अनेक प्रकार की परिस्थितियों के अनुकूल बनाने के लिए उसे अनेक विषयों का अध्ययन करना आवश्यक है।

यथार्थवादी विचारक अपने यथार्थवादी पाठ्यक्रम के अन्तर्गत व्यावसायिक विषयों एवं विज्ञान को मुख्य, भूगोल, कानून, राजनीति इत्यादि को गौण और साहित्य, कला, संगीत

आदि को गौणतम स्थान देते हैं। इसके अतिरिक्त वे पाठ्य विषय के अन्तर्गत मातृभाषा को भी प्रमुख स्थान देते हैं, क्योंकि इनके अनुसार वह बालकों के व्यक्तित्व के विभिन्न पहलुओं के विकास की आधारशिला है।

स्पष्ट है कि यथार्थवादी बालकों को पूर्ण जीवन की तैयारी करने के लिए उन्हें सभी विषयों को पढ़ाना चाहते हैं किन्तु महत्वपूर्ण स्थान व्यवसाय तथा विज्ञान से सम्बन्धित विषयों को ही देना चाहते हैं।संक्षेप में यथार्थवादी पाठ्य-विषय के अन्तर्गत निम्नलिखित विषय का समावेश करना चाहते हैं- यथार्थवाद ने ज्ञान के लिए वैज्ञानिक, सामाजिक, कला-कौशल, भाषा तथा साहित्य सम्बन्धी विषयों के अध्ययन पर बल दिया है। जीवन के दैनिक व्यवहार में काम आने वाली आधुनिक भाषायें तथा ज्ञानप्रद प्राचीन साहित्य, कलायें, संगीत इत्यादि विषय, कौशल से संबंधित विषय, प्राकृतिक विज्ञान जैसे भौतिक, रसायनिक, जैविक एवं वानस्पतिक इत्यादि, राजनीति विज्ञान, मनोविज्ञान, स्वास्थ्य रक्षा, व्यायाम तथा खेलकूद भ्रमण इत्यादि विषयों को पढ़ाने की वकालत करता है। इसके अतिरिक्त धर्म शिक्षा, गणित, इतिहास, भूगोल तथा नक्षत्र विज्ञान इत्यादि विषयों के लिए यथार्थवादी विचारकों ने अनुमति प्रदान की है।

4.9.2 यथार्थवाद तथा शिक्षण विधि

यथार्थवादी विचारकों ने ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से शिक्षा देने पर बल दिया है। यथार्थवाद शिक्षा की सामग्री प्रस्तुत करने पर बल देता है। इसमें यथार्थवादी तथ्यों के यथातथ्य रूप में अध्ययन करने पर बल देते हैं, इसीलिए वे शब्दजाल, पक्षपात, वैयक्तिकता आदि से दूर रहना चाहते हैं। इसके स्थान पर विषयगत भावना अथवा वस्तुनिष्ठता के लिए पूर्ण रूपेण बल देता है जिससे शिक्षण-विधि व्यावहारिक एवं उपयोगी हो। इसलिए वस्तुनिष्ठ एवं वैज्ञानिक विधि पर बल दिया जाता है। यथार्थवाद के अनुसार वस्तुनिष्ठ एवं वैज्ञानिक विधि का प्रयोग करने से न केवल तथ्यों का ज्ञान होगा अपितु शिक्षण अधिक स्वाभाविक, रूचिकर, व्यावहारिक एवं उपयोगी होगा।

यथार्थवाद अपने वस्तुनिष्ठ एवं वैज्ञानिक दृष्टिकोण के कारण आगमन एवं निगमन दोनों के संयुक्त प्रयोग पर बल देते हैं। क्योंकि ये विधियों एवं तथ्यों के सम्बन्ध में निष्कर्ष निकालने एवं निष्कर्ष को प्रमाणित करने में विशेष सहायक होती हैं।

वैज्ञानिक विधि में निरीक्षण, परीक्षण, एवं प्रयोग विधियों के उपयोग पर भी अत्यधिक बल दिया गया है। ये विधियाँ पृथक एवं संयुक्त तथा अन्य पद्धतियों की सहायक के रूप में प्रयोग की जाती हैं।

इसके साथ ही साथ स्वानुभव विधि के लिए भी यथार्थवादी अपना विचार प्रकट करते हैं। इस कारण वे बालकों को स्वयं पढ़ने के लिए उत्साहित करते हैं। जिसे स्वयं ज्ञान पद्धति अथवा ह्यूरिस्टिक पद्धति कहते हैं।

यथार्थवादी विचारक प्रत्येक वस्तु को अलग-अलग अस्तित्व देते हैं। इन अलग-अलग वस्तुओं को विभिन्न अङ्गों के रूप में वे देखते हैं और इन्हें जोड़ कर एक नया रूप देते हैं। यथार्थवादियों का विचार है कि इस संश्लेषण में ही 'वास्तविक सौन्दर्य' छिपा है। इसी प्रकार के प्रत्येक विषय को पृथक-पृथक नहीं अपितु उन्हें एक दूसरे से सम्बन्ध स्थापित करते हुए

शिक्षा देने पर यथार्थवादी बल देते हैं। इसे संश्लेषण एवं सह सम्बन्ध विधि कहा जाता है।

यथार्थवाद के लिए खण्डों का अपना महत्व है। सम्पूर्ण खण्डों का परिणाम होता है। पूर्ण बनाने में खण्ड स्वयं का अस्तित्व समाप्त नहीं कर देते। शिक्षण में भी यथार्थवाद खण्ड से आरम्भ करके छात्र को पूर्ण तक ले जाता है। वह किसी सिद्धान्त को अनेक परिकल्पनाओं में बॉट देता है। इसी प्रकार तथ्यों को सामान्य कथनों में बाँट देता है और वहीं से आरम्भ करता है। यथार्थवाद छात्रों को तर्क पूर्ण ढंग से विचार करके तथ्यों का वर्गीकरण करना सिखाता है। यदि शिक्षण-विधि का सुचारू रूप से संचालन किया जाय तो एक तथ्य से दूसरा तथ्य स्वतः निकलता चलता है और इस प्रकार शिक्षण विधि स्वतः अध्ययन की विधि बन जाती है।

4.9.3 यथार्थवाद तथा शिक्षक

यथार्थवादी विचारक आदर्शवादियों की भाँति शिक्षक को शिक्षा-प्रक्रिया में उच्चतम स्थान नहीं देते हैं किन्तु उनकी आवश्यकता एवं महत्व को स्वीकार अवश्य करते हैं। वे शिक्षक से यह आशा करते हैं कि वे बालक के समक्ष तथ्यों एवं वस्तुओं को वास्तविक रूप में ही रखें, जिससे बालक स्वयं अपनी बुद्धि से अपनी आवश्यकतानुसार ज्ञान को ग्रहण कर सकें। शिक्षक को तथ्यों एवं वस्तुओं के सम्बन्ध में छात्रों को किसी प्रकार के व्यक्तिगत राय देने से यथार्थवाद मना करता है । यथार्थवाद शिक्षक से मात्र यही चाहता है कि वे बालकों के समक्ष तथ्यों को रख दें और बालकों के लिए ऐसा स्वतंत्र वातावरण सृजित करें कि बालक स्वयं निरीक्षण करके उनके सम्बन्ध में आवश्यक निष्कर्ष प्राप्त कर सकें। यथार्थवाद के अनुसार शिक्षक के परिकल्पना की निम्नलिखित विशेषतायें होनी चाहिए –

(1) यथार्थवादी शिक्षक व्यक्तिनिष्ठता से ऊपर उठकर वस्तुनिष्ठ मनः स्थिति बनाए रखता है।

(2) वह एक वैज्ञानिक है, जिसका विज्ञान में अटूट विश्वास होता है।

(3) शिक्षक को स्वयं का दृष्टिकोण वैज्ञानिक होता है तथा छात्रों में भी वैज्ञानिक दृष्टिकोण विकसित करने का प्रयत्न करता है।

(4) यथार्थवादी शिक्षक शोध एवं अन्वेषण में विश्वास रखता है। उसकी अन्वेषण विधि वैज्ञानिक होती है।

(5) यथार्थवादी शिक्षक का विश्वास है कि वह सर्वज्ञ नहीं हो सकता। वह केवल किसी एक विशिष्ट क्षेत्र में प्रवेश करके गहराई तक अध्ययन कर सकता है।

(6) यथार्थवादी शिक्षक मनोविज्ञान में भी आस्था रखता है परन्तु केवल व्यवहारवादी एवं प्रायोगिक मनोविज्ञान में।

(7) छात्रों द्वारा अपने वातावरण के साथ सामंजस्य स्थापित कराने के लिए यथार्थवादी शिक्षक अभ्यनुकूलन सिद्धान्त का उपयोग करता है।

(8) शिक्षक छात्रों को उस ज्ञान के प्रयोग का पूर्वाभ्यास देना चाहता है जो उसे श्रमिक, उत्पादक अथवा कामगार के रूप में उपयोग में लेना पड़ेगा।

वास्तव में यथार्थवादी शिक्षक वह है जो व्यक्ति का निर्माण करे। एक व्यक्तित्व निर्माता के रूप में वह विद्यार्थी के समक्ष यथार्थ वातावरण ही प्रस्तुत करता है और बालक उसे अपनी बुद्धि

एवं आवश्यकतानुसार चुनता है।

बोध प्रश्न –

टिप्पणी (क) – अपने उत्तर नीचे दिये गये स्थान में लिखिए।

(ख) - इकाई के अन्त में दिये गये उत्तरों से अपने उत्तर मिलाइये।

(10) शिक्षक के सम्बन्ध में यथार्थवादी दृष्टिकोण क्या है?

....

....

4.9.5 यथार्थवाद तथा छात्र

यथार्थवादी विचारक शिक्षा प्रक्रिया में छात्र को 'केन्द्रीय' स्थान प्रदान करते हैं और शिक्षक से आशा करते हैं कि छात्रों के साथ प्रेम एवं सहानुभूति के व्यवहार को और उनकी शारीरिक एवं मानसिक क्षमताओं एवं रूचियों के अनुकूल उनसे कार्य कराये तथा उनमें विषयों का ज्ञान विकसित करने के लिए उन्हें उपयुक्त अवसर प्रदान करें। यथार्थवादी दार्शनिकों के अनुसार शिक्षा का मुख्य उद्देश्य यह है कि बालक अथवा छात्र की वास्तविक प्रवृत्ति को उसकी पूर्णता तक पहुँचा दिया जाये। छात्र ही शिक्षा का महत्वपूर्ण बिन्दु होता है, इसलिए सम्पूर्ण शिक्षा इस प्रकार व्यवस्थित होनी चाहिये कि वह छात्र के व्यक्तित्व में सहायक हो।

यथार्थवाद के अनुसार छात्र एक यथार्थ इकाई है और शिक्षा की प्रक्रिया में उसका आदर होना चाहिए तथा वैज्ञानिक विधियों द्वारा छात्रों का यथोचित विकास होना चाहिए। यथार्थवादी मानते हैं कि छात्र को शिक्षा प्रक्रिया में पूर्ण स्वतंत्र नहीं छोड़ा जा सकता है, इसलिए शिक्षक को उनका सहयोग करना चाहिए। यथार्थवादी विचारकों के अनुसार छात्रों की कुछ विशेषताएं होती हैं जो निम्नलिखित हैं –

(1) छात्र विवेक से ही सीखकर यथार्थ के निकट पहुँच सकता है।

(2) छात्र अपने बुद्धि के विकास के लिए अधिक से अधिक स्वतंत्रता चाहता है।

(3) छात्र तथ्यों के आधार पर ही आगे बढ़ता है क्यों कि तथ्य निश्चित होते हैं।

(4) छात्र सिद्धान्तों की अपेक्षा वास्तविक ज्ञान एवं उपयोगी व्यवहार पर ज्यादा ध्यान देता है।

(5) यथार्थवाद छात्र को यथार्थ जगत का प्राकृतिक प्राणी मानता है न कि आदर्शवादियों के समान केवल विचार की अभिव्यक्ति। इसलिए वह छात्र को देवता नहीं मानता। वह छात्र के सामाजिक सामन्जस्य तथा उसके व्यवहार को महत्व देता है।

इस प्रकार जो शिक्षक छात्र संबंधी इस संकल्पना को स्वीकार करता है, वह अपने छात्रों को दिक्- काल युक्त जगत् में उपयुक्त सम्बन्ध स्थापित करने के कार्य में संलग्न करता है। यथार्थवाद छात्रों को इस जगत से पलायन नहीं सिखाता अपितु इस जगत की वास्तविकताओं का सामना करने के लिए तैयार करता है।

4.9.6 यथार्थवाद तथा अनुशासन

विद्यालय को सुचारू रूप से संचालित करने के लिए अनुशासन की महती आवश्यकता

होती है। इसलिए अनुशासन के प्रति अधिकारियों, शिक्षकों एवं छात्रों के दृष्टिकोण का विशेष महत्व होता है। शिक्षा के अनेक दर्शनों ने इसे अपने अपने ढंग से परिभाषित किया है। जहाँ तक यथार्थवाद का प्रश्न है तो यह दर्शन 'मृदु शिक्षा' में विश्वास नहीं करता। शिक्षा श्रम-जन्य कार्य है तथा उसे गम्भीरता के साथ करने की आवश्यकता है। शिक्षा द्वारा एक विशिष्ट योजना के अनुरूप छात्रों के व्यक्तित्व का निर्माण किया जाता है।शिक्षा उस क्षण की प्रतीक्षा नहीं करती जब छात्र में सीखने की सहज रूचि उत्पन्न होगी। शिक्षा की तात्कालिक अनिवार्यता है। मूल्यवान क्षण यदि चला गया तो वह वापस नहीं आता। शिक्षा प्राप्त करने के लिए छात्र को अनुशासित रहना ही होगा तथा आवश्यकतानुसार शिक्षक का भी सहयोग लेना होगा।

यथार्थवादी विचारक दमनात्मक अनुशासन का विरोध तथा अन्तः प्रेरित अनुशासन का समर्थन करते हैं, जिसे आत्मानुशासन कहा जाता है। इस विचारधारा के अनुसार अनुशासन हेतु प्रेम एवं सहानुभूति आवश्यक है। इसमें शिक्षक के व्यवहार को विशेष महत्व दिया गया है ताकि छात्र उनके साथ आत्मीय सम्बन्ध स्थापित कर आत्मानुशासन विकसित कर सकें।

यथार्थवादी विचारक मुक्त्यात्मक अनुशासन का समर्थन करते हैं। मुक्त्यात्मक, अनुशासन का तात्पर्य ऐसे अनुशासन से है जो दमन, भय, दण्ड इत्यादि पर आधारित न होकर प्रेम, स्वतंत्रता एवं सहानुभूति पर आधारित होता है। यथार्थवादियों के अनुसार बालकों को अपने विकास के लिए पूर्ण स्वतंत्रता मिलनी चाहिये तभी वे अपनी जन्मजात रूचियों एवं प्रकृतियों के अनुरूप अपना विकास कर सकेंगें। भौतिक वातावरण पर यथार्थवाद अधिक बल देता है जिसके कारण वस्तुनिष्ठता के आधार पर अनुशासन स्थापित करने का प्रयत्न यथार्थवादी करते हैं। चूँकि व्यक्ति भी भौतिक जगत का एक अङ्ग है अतः व्यक्ति को भौतिक नियमों का पालन करना आवश्यक है। इस विचार से यथार्थवादी व्यक्ति को प्रकृति के अधीन समझने लगता है, जहाँ पर अनुशासन का आधार 'प्राकृतिक परिणाम' होता है। बालक के अनैतिक एवं अप्राकृतिक कार्यों के लिए उसे स्वयं दण्ड न देकर प्रकृति के ऊपर छोड़ देना चाहिए। प्रकृति स्वयं उसे दण्ड देगी। यह दण्ड सुधार एवं लाभ की दृष्टि से होगा, ऐसा यथार्थवादी विचारक मानते हैं किन्तु यथार्थवादी बालकों को पूर्णतया प्राकृतिक परिणामों के अधीन नहीं छोड़ना चाहते, अपितु उनमें सामाजिक नियमों के अनुसार अनुशासन की स्थापना के पक्षधर हैं।

बोध प्रश्न –

टिप्पणी (क) – अपने उत्तर नीचे दिये गये स्थान में लिखिए।

(ख) - इकाई के अन्त में दिये गये उत्तरों से अपने उत्तर मिलाइये।

(11) अनुशासन के सम्बन्ध में यथार्थवादी दर्शन का विचार क्या है?

....

....

....

4.10 भारतीय शिक्षा तथा यथार्थवाद

भारतीय शिक्षा पर एक विहंगम दृष्टि डालने से ज्ञात होता है कि यथार्थवाद शिक्षा में उपेक्षित नहीं रहा। सामान्यतः यह कहा जाता है कि प्राचीन भारतीय शिक्षा पूर्णरूपेण धार्मिक एवं आदर्शात्मक थी और संसार से उसका कोई सम्बन्ध नहीं था, जबकि यह असत्य है क्योंकि प्राचीन भारत में जहाँ एक ओर कर्मकाण्ड, यज्ञ विधान इत्यादि की शिक्षा दी जाती थी, वहीं दूसरी ओर आयुर्वेद एवं धनुर्वेद जैसे व्यावसायिक विषयों की भी शिक्षा दी जाति थी। एक ओर ब्रह्मचारी ब्राह्मण आरण्यक, उपनिषद इत्यादि दार्शनिक ग्रन्थों का पारायण करते थे तो दूसरी ओर वे अपने परिश्रम से आश्रम के आस-पास की भूमि को शस्य श्यामला बनाते थे। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि प्राचीन काल में भी व्यावहारिक विषयों पर बल दिया जाता था।

प्राचीन काल की इस परम्परा को मध्य युग में भी निभाने का प्रयत्न किया गया। आधुनिक युग की शिक्षा व्यवस्था में भी यथार्थवाद का पुट दिखाई देता है। यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगा कि अन्य देशों के भाँति भारतीय शिक्षा में भी यथार्थवाद का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। शिक्षा के उद्देश्य, पाठ्यक्रम,शिक्षण विधि, शिक्षक, शिक्षार्थी, विद्यालय, अनुशासन इत्यादि की यथार्थवादी व्याख्या एक क्रान्तिकारी परिवर्तन है। इन परिवर्तनों के कारण ही आज शिक्षा अधिक से अधिक मानव एवं समाज के जीवन की उन्नति में सहायक हो सका है। आज अधिकांश भारतीयय विश्वविद्यालयों में व्यावायिक एवं तकनीकी शिक्षा की व्यवस्था है। समय की माँग के अनुरूप देश में कानून, चिकित्सा, इंजीनियरिंग, अध्यापक प्रशिक्षण, कृषि इत्यादि की उच्च शिक्षा प्रदान की जा रही है। बहुद्देशीय विद्यालयों की स्थापना यथार्थवादी शिक्षा के मार्ग में एक प्रभावशाली कदम है। ये विद्यालयों तथा छात्रों को समाज के उपयोगी बनाने का प्रयास करते हैं। आज अधिकांश विद्यालयों में पाठ्यक्रम के सम्बन्ध में यथार्थवादी दृष्टिकोण ही अपनाया जाता है क्योंकि आज छात्रों के सम्मुख विषयों की अधिकता एवं निर्वाचन क्षेत्र का विस्तार इस बात की पुष्टि करता है कि भारतीय विश्वविद्यालयों में समाज की आवश्यकता के अनुरूप छात्रों को बहुधन्धी बनाने का प्रयास किया जा रहा है।

शिक्षण विधि में भी वैज्ञानिक पद्धति का अनुसरण कियाय जाने लगा है जिसके परिणाम स्वरूप विभिन्न प्रकार के विज्ञानों को पाठ्यक्रम में महत्वपूर्ण स्थान दिया जाने लगा और अध्ययन में आगमन पद्धति का अत्यधिक प्रयोग किया जाने लगा। साथ ही जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति एवं मानव को अधिकाधिक सुखमय बनाने के लिए वैज्ञानिक शोधों को विशेष प्रोत्साहन दिया जाने लगा। इस प्रोत्साहन के फलस्वरूप विज्ञान के क्षेत्र में भारत ने इतनी उन्नति की कि आज के युग को विज्ञान के युग के नाम से संबोधित किया जाने लगा।

4.11 सारांश

उपरोक्त विवरण में हमने देखा कि किस प्रकार प्रयोजनवाद क्रिया एवं क्रिया से प्राप्त अनुभवों पर विशेष बल देती है। यह विचारधारा इस प्रकार का शिक्षा दर्शन प्रस्तुत करती है जो बालक के व्यावहारिक जीवन को सफल बनाने के लिए तैयार करने पर विशेष बल देता है। प्रयोजनवादी शिक्षा सामाजिक मूल्यों और शिक्षा की लोकतांत्रिक प्रक्रिया में विशवास करती है। प्रयोजनवादी शिक्षा का कोई विशिष्ट उद्देश्य निर्धारित नहीं करते। उनके अनुसार शिक्षा

के उद्देश्य बदलते रहते हैं। पाठ्यक्रम के निर्धारण के सम्बन्ध में यह दर्शन उपयोगिता एवं व्यावहारिकता के सिद्धान्त पर अधिक बल देता है। जहाँ तक शिक्षण विधियों का प्रश्न है यह दर्शन करके सीखने' तथा 'स्वानुभव से सीखने' का समर्थन करती है। इसके अतिरिक्त 'योजना पद्धति' पर यह दर्शन विशेष महत्व देता है। प्रयोजनवादी मानते हैं। कि विद्यालय सामाजिक अनुभवों की प्रयोगशाला है इसलिए विद्यालयों में सामाजिक अनुशासन स्थापित किया जान चाहिए। प्रयोजनवाद के शिक्षा में इन नवीन योगदानों के कारण उसे आधुनिक युग के शिक्षा का मुख्य दर्शन कहा जाता है।

यथार्थवादी विचारधारा इन्द्रिय गोचर वस्तु, भौतिक जगत को यथार्थ मानती है। यथार्थवाद का शिक्षा पर गहरा प्रभाव पड़ा जिसके परिणामस्वरूप यथार्थवादी शिक्षा के अनेक रूपों का विकास हुआ जिनमें से मानवतावादी यथार्थवाद, सामाजिक यथार्थवाद, ज्ञानेन्द्रिय यथार्थवाद तथा वैज्ञानिक यथार्थवाद का प्रमुख स्थान है। यद्यपि यथार्थवादी शिक्षा के विभिन्न रूपों के समर्थकों ने शिक्षा के विभिन्न अंगों की भिन्न भिन्न रूप से व्याख्या की है किन्तु सभी शिक्षा को व्यावहारिक जीवन को सुखी एवं समृद्ध बनाने पर बल देते हैं और इसीलिए वे पाठ्यक्रम में वैज्ञानिक विषयों को केन्द्रीय स्थान प्रदान करते हैं। वास्तव में आज के वैज्ञानिक युग में यथार्थवादी विचारधारा का अपना विशेष महत्व है क्योंकि इसने न केवल पाठ्यक्रम में वैज्ञानिक दृष्टिकोण का विकास कर विज्ञान की उन्नति में सहायता प्रदान की अपितु आज विश्व का कोई ऐसा देश न होगा जिसकी सम्पूर्ण शिक्षा प्रणाली यथार्थवाद से प्रभावित न हुई हो।

4.12 अभ्यास कार्य

1. 'प्रयोजनवाद, आदर्शवाद तथा प्रकृतिवाद की मध्यावस्था है।' विवेचना करें।
2. शिक्षा के क्षेत्र में प्रयोजनवाद से हम भारत की प्रचलित शिक्षा-प्रणाली के सुधार करने में किस प्रकार लाभ उठा सकते है?
3. 'प्रयोजनवाद शाश्वत मूल्यों में विश्वास नहीं करता'। क्या आप सहमत हैं? तर्क दीजिए।
4. प्रयोजनवादी विधि में वैयक्तिक अनुशासन की आवश्यकता नहीं पड़ती है। स्पष्टीकरण दीजिये।
5. 'विश्व की प्रगति उन सत्यों पर आधारित है जो प्रयोग द्वारा सिद्ध किये गये हैं'। विवेचना कीजिए।
6. शिक्षा में यथार्थवाद का उदय कैसे हुआ? विवेचना कीजिए।
7. यथार्थवाद की सार्वभौमिक शिक्षा को स्पष्ट कीजिए।
8. 'पूर्व एवं उदार शिक्षा वही है जो व्यक्ति को शांत एव्रं युद्धकाल के सभी सार्वजनिक एवं व्यक्तिगत कार्यों की चतुरता, औचित्य एवं उदारता के साथ करने के योग्य बना देती है।' विवेचना कीजिए।

9. सामाजिकतावादी यथार्थवाद क्या है? यह ज्ञानेन्द्रिय यथार्थवाद से कैसे भिन्न है? समझाइये।

10. यथार्थवाद के अनुसार मानवमूल्यों की प्राप्ति कैसे कर सकता है? स्पष्ट कीजिए।

4.13 बोध प्रश्नों के उत्तर

1. प्रयोजनवाद किसी शाशवत मूल्य, आदर्श अथवा सत्य में विशवास नहीं करता है। उसके अनुसार मूल्य, आदर्श एवं सत्य मानव अनुभव के परिवर्तन के साथ-साथ बदलते रहते हैं और इस प्रकार मूल्य मानव क्रिया का परिणाम है।

2. प्रयोजनवाद अनेक सत्ताओं एवं तत्वों के आधार पर विश्व की व्याख्या करता है। इसलिए वह बहुत्ववादी है।

3. प्रयोजनवाद के अनुसार शिक्षा एक 'सामाजिक प्रक्रिया' है जो व्यक्ति में सामाजिक कुशलता का विकास करती है।

4. प्रयोजनवाद के अनुसार शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य 'सामाजिक कुशलता' तथा 'सामाजिक पुनर्निर्माण' है।

5. आदर्शवाद शिक्षा प्रक्रिया में शिक्षक को केन्द्रीय स्थान देता है और उसकी भूमिका को विशेष महत्व देता है। प्रयोजनवाद यद्यपि शिक्षा प्रक्रिया में शिक्षक को केन्द्रीय स्थान नही देता किन्तु उसे सामाजिक वातावरण के सृजन के लिए आवश्यक मानता है।

6. प्रयोजनवाद 'करके सीखने', 'अनुभव द्वारा सीखने', तथा 'सह संबंध' पर विश्वास करने के कारण 'योजना पद्धति' को अपनाता है।

7. आदर्शवाद 'प्रभावात्मक अनुशासन' पर बल देता है जबकि प्रयोजनवाद 'सीमित मुक्तयात्मक अनुशासन' का पक्षधर है।

8. (1) प्रत्यक्ष जगत ही वास्तविक है।
   (2) वर्तमान जीवन की आवश्यकता ही प्रमुख मूल्य बन जाती है।
   (3) स्थूल जगत, व्यक्ति एवं समाज में विश्वास।
   (4) बहुतत्ववादी भावना।
   (5) वस्तु का अस्तित्व ही सत्य है।

9. (1) जीवन को सुखी एवं सफल बनाना।
   (2) जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति ।
   (3) व्यावहारिक कुशलता प्राप्त करना ।
   (4) बालकों को मानव समाज का पूर्ण ज्ञान देना ।

10. (1) शिक्षक पथ प्रदर्शक एवं सहायक के रूप में ।

(2) स्वतंत्र वातावरण के निर्माणक के रूप में ।

(3) व्यक्तित्व के निर्माणक के रूप में ।

(4) शिक्षकों का प्रशिक्षित होना आवश्यक है ।

11. (1) प्रभावात्मक एवं मुक्त्यात्मक अनुशासन के समन्वित स्वरूप का समर्थन ।

(2) दमनात्मक अनुशासन का विरोध ।

(3) आत्मानुशासन पर बल ।

कुछ उपयोगी पुस्तकें :

* डॉ. राम शकल पाण्डेय : शिक्षा की दार्शनिक एवं समाजशास्त्रीय पृष्ठभूमि
* डॉ. राम शकल पाण्डेय : शिक्षा दर्शन
* एस. पी. चौबे : भारतीय शिक्षा दर्शन
* रमन बिहारी लाल : शिक्षा दर्शन
* एल. के. ओड़ : शिक्षा की दार्शनिक पृष्ठभूमि
* आर. आर. रथ : शिक्षा का दार्शनिक आधार
* रमा शुक्ला : शिक्षा का दार्शनिक आधार
* Breed, F.S. : Education & the New Realism
* Clayton, A.S. : Emergent Mind & Education
* Holt, B.E. : The New Realism
* Whitehead : Aims of Education & other Essays
* Reichenbeek : The Rise of Scientific Philosophy
* Wild : Introduction to Realistic Philosophy
* Broudy, H.S. : Building a Philosophy of Education
* Brubacher, J.S. : Modern Philosophies of Education
* Butler : Four Philosophies
* Lodge, R. : Philosophy of Education
* Rusk, R : Philosophical Bases of Education
* Chaube, S.P. : Some Foundations of Education

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

UGED-102

शिक्षा के दार्शनिक एवं सामाजिक आधार

खण्ड

2

प्रमुख शिक्षाशास्त्री

इकाई-5	
प्लेटो एवं रूसो	81
इकाई-6	
जॉन डीवी, माण्टेसरी एवं फ्रोबेल	97
इकाई-7	
स्वामी विवेकानन्द एवं श्री अरविन्द घोष	118
इकाई-8	
रवीन्द्र नाथ टैगोर एवं महात्मा गाँधी	132

विशेषज्ञ समिति

प्रो0 एस0पी0 गुप्ता	निदेशक, शिक्षा विद्या शाखा, उ0प्र0रा0ट0मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
प्रो0 राम शकल पाण्डेय	पूर्व आचार्य,शिक्षाशास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
प्रो0 हरिकेश सिंह	आचार्य, शिक्षा संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

परिमापक

डॉ0 सरोज पाण्डेय	वरिष्ठ उपाचार्य एन0सी0ई0आर0टी0, नयी दिल्ली

सम्पादक

प्रो0 राम शकल पाण्डेय	पूर्व आचार्य, शिक्षाशास्त्र विभाग इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

लेखक

डॉ0 यू0 एन0 तिवारी	प्रवक्ता, शिक्षा विद्या शाखा, उ0प्र0रा0ट0मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

© उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

सर्वाधिकार सुरक्षित। इस पाठ्य-सामग्री का कोई भी अंश उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति लिए बिना, मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

UGED-102 शिक्षा के दार्शनिक एवं सामाजिक आधार

खण्ड 1- शिक्षा के दार्शनिक आधार

इकाई-1 शिक्षा, दर्शन एवं शिक्षा -दर्शन

इकाई-2 प्रकृतिवाद

इकाई-3 आदर्शवाद

इकाई-4 प्रयोजनवाद तथा यथार्थवाद

खण्ड 2- प्रमुख शिक्षाशास्त्री

इकाई-5 प्लेटो एवं रूसो

इकाई-6 जॉन डीवी, माण्टेसरी एवं फ्रोबेल

इकाई-7 स्वामी विवेकानन्द एवं श्री अरविन्द घोष

इकाई-8 रवीन्द्र नाथ टैगोर एवं महात्मा गाँधी

खण्ड 3- दार्शनिक दृष्टिकोण से शैक्षिक समस्याएँ

इकाई-9 शिक्षा में व्यक्ति एवं समाज

इकाई-10 धर्म और शिक्षा

इकाई-11 शैक्षिक मूल्य

इकाई-12 स्वतंत्रता तथा अनुशासन

खण्ड 4- शिक्षा का सामाजिक आधार

इकाई-13 शिक्षा में समाजशास्त्र का योगदान तथा बालक का समाजीकरण

इकाई-14 संस्कृति और शिक्षा

इकाई-15 विद्यालय तथा समुदाय

इकाई-16 शिक्षा और सामाजिक परिवर्तन

खण्ड परिचय -2 प्रमुख शिक्षा शास्त्री

पाशचात्य शिक्षा जगत के इतिहास में प्लेटो को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। वह न केवल दर्शन एवं राजनीति के क्षेत्र में बल्कि शिक्षा के क्षेत्र में भी महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। इस प्रकार अट्ठारहवीं शताब्दी के महापुरूषों में रूसो का नाम बहुत सम्मान के साथ लिया जाता है। रूसो क्रान्तिकारी विचारवाला युग प्रवर्तक प्रकृतिवादी, दार्शनिक एवं महान शिक्षाशास्त्री था। शिक्षा के क्षेत्र में प्लेटो ने आदर्शवादी विचारधारा का समर्थन किया जबकि रूसो प्रकृतिवादी था। इकाई 5 में प्लेटो एवं रूसो के शिक्षा दर्शन अर्थात् शिक्षा का अर्थ उद्देश्य, पाठ्यक्रम, शिक्षणविधि एवं अनुशासन एवं शिक्षक के विषय में वर्णन किया गया है।

जान डीवी, माण्टेसरी एवं फ्रोबेल नामक छठी इकाई में इन तीनों के शैक्षिक विचारों का वर्णन किया गया है। शिक्षा एवं दर्शन के क्षेत्र में जान डीवी के योगदान को जन्म जन्मान्तर याद किया जाता रहेगा । आधुनिक युग में शिक्षा एवं दर्शन में डिवी के योगदान की बराबरी कोई अन्य शिक्षाशास्त्री नहीं कर सकता। उन्नीसवीं एवं बीसवीं शताब्दी में मान्टेसरी ने न केवल एक चिकित्सक के रूप में बल्कि एक प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री के रूप में भी विश्व को जो योगदान दिया वह अतुलनीय है। किंडर गार्टन पद्धति के जन्मदाता फ्रेडरिक फ्रोबेल शिक्षा जगत के वह ज्वाजल्यमान नक्षत्र हैं जिन्होंने अपना समस्त जीवन काल शिक्षा के लिए समर्पित कर दिया।

शिक्षा के क्षेत्र में विवेकानन्द एवं अरविन्द घोष का योगदान अपूर्ण है। पश्चिम के भौतिकवाद को भारत के अध्यात्मवाद में समन्वित कर स्वामी जी ने परतन्त्र भारतवासियों को उन्नति एवं स्वतंत्रता का मार्ग दिखाया है। शिक्षा के क्षेत्र में श्री अरविन्द का जीता जागता योगदान है। पाण्डिचेरी में स्थित अरविन्द आश्रम जिसे आज अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त है। इकाई 7 में विवेकानन्द एवं अरविन्द का शिक्षा दर्शन अर्थात शिक्षा का अर्थ, उद्देश्य, पाठ्यक्रम, शिक्षणविधि, अनुशासन एवं शिक्षक के विषय में वर्णन किया गया है।

इकाई 8 के अन्तर्गत टैगोर एवं गाँधी के विचारों का वर्णन किया गया है। रविन्द्र नाथ टैगोर न केवल एक महान कवि थे वरन् एक बड़े शिक्षक, दार्शनिक एवं कलाकार भी थे। वे भारत की आत्मा के सुरसृष्टा तथा भारतीय संस्कृति के गायक थे। इसी प्रकार महात्मा गाँधी युगपुरूष थे। उन्होंने भात के लोगां की ही नहीं बल्कि मानव प्राणी की जो अमूल्य सेवा की उसके कारण उनको युगों युगों तक याद किया जाता रहेगा। शिक्षा के क्षेत्र में टैगोर एवं गांधी जी ने जो विचार प्रस्तुत किया, उससे शिक्षा को एक नई दिशा मिली। इस इकाई में टैगोर एवं गाँधी जी के शिक्षा दर्शन अर्थात शिक्षा का अर्थ, उद्देश्य, पाठ्यक्रम, शिक्षण विधि, अनुशासन एवं शिक्षण के विषय में वर्णन किया गया है।

इकाई-5 प्लेटो एवं रूसो

संरचना

5.1 प्रस्तावना

5.2 उद्देश्य

5.3 **प्लेटो** – जीवन परिचय

5.3.1 प्लेटो का शिक्षा दर्शन

5.3.1.1 शिक्षा का अर्थ

5.3.1.2 शिक्षा का उद्देश्य

5.3.1.3 पाठ्यक्रम

5.3.1.4 शिक्षण विधि

5.3.1.5 अनुशासन

5.3.1.6 शिक्षक

5.3.1.7 शिक्षा दर्शन का मूल्यांकन

5.4 **रूसो** – जीवन परिचय

5.4.1 रूसो के शैक्षिक विचार

5.4.1.1 शिक्षा का अर्थ

5.4.1.2 निषेधात्मक शिक्षा

5.4.1.3 शिक्षा का उद्देश्य

5.4.1.4 पाठ्यक्रम

5.4.1.5 शिक्षण विधि

5.4.1.6 अनुशासन

5.4.1.7 शिक्षक

5.4.1.8 शैक्षिक विचारों का मूल्यांकन

5.5 सारांश

5.6 अभ्यास कार्य

5.7 बोध प्रश्नों का उत्तर

5.1 प्रस्तावना

पाश्चात्य शिक्षा के इतिहास में प्लेटो को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। वह न केवल दर्शन एवं राजनीति के क्षेत्र में बल्कि शिक्षा के क्षेत्र में भी महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं । प्लेटो के दर्शन को आज भी उतना ही महत्व दिया जाता है, जितना हजारों वर्ष पूर्व दिया जाता था। प्लेटो के आदर्शों और विचारों से मानव की पीढ़ी दर पीढ़ी प्रभावित होती रही है।

अठ्ारहवीं शताब्दी के महान पुरूषों में रूसों का नाम बहुत सम्मान के साथ लिया जाता है। रूसो क्रान्तिकारी विचार वाला युग प्रवर्तक, प्रकृति वादी दार्शनिक एवं महान शिक्षाशास्त्री था। रूसो ने शिक्षा के क्षेत्र में जो क्रान्ति पैदा की उसे आने वाली पीढ़ियों ने मान्यता प्रदान किया। उनके शिक्षा सम्बन्धी विचार आज भी प्रेरणा और पथ प्रदर्शन के स्रोत हैं।

शिक्षा के क्षेत्र में प्लेटो ने आदर्शवादी विचारधारा का समर्थन किया, जबकि रूसो प्राकृतिवाद था। शिक्षा के क्षेत्र में तो रूसो ने एक नई जागृति पैदा कर दी। इस इकाई में प्लेटो एवं रूसो के शिक्षा दर्शन अर्थात शिक्षा का अर्थ, उद्देश्य, पाठ्यक्रम, शिक्षणविधि, अनुशासन एवं शिक्षक के विषय में वर्णन किया गया है।

5.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप इस योग्य हो जायेंगे कि –

- प्लेटो एवं रूसो के शिक्षा-दर्शन का विश्लेषण कर सकेंगे।
- प्लेटो एवं रूसो के शिक्षा के अर्थ एवं उद्देश्य की व्याख्या कर सकेंगे।
- प्लेटो एवं रूसों की शिक्षण विधि को विश्लेषित कर सकेंगे।
- प्लेटो तथा रूसो द्वारा बताये गये अनुशासन का विश्लेषण कर सकेंगे।
- प्लेटो तथा रूसो के शिक्षक सम्बन्धी विचारों की विवेचना कर सकेंगे।

5.3 प्लेटो – जीवन परिचय

प्लेटो का जन्म लगभग 427 ई0 पू0 एथेन्स में हुआ था। इनके पिता का नाम एरिस्टोन और माता का नाम पेरिक्टोन था। प्लेटो के माता – पिता उच्च्व कुलीन और धनिक वर्ग के थे। प्लेटो बचपन से ही बहुत प्रतिभाशाली थे। साहित्य में भी प्लेटो की रूचि थी। इसीलिए उन्होंने ग्रीक साहित्य विशेषकर कविता का अध्ययन किया और कई कविताएं लिखीं। प्लेटो के प्रारम्भिक शिक्षा के विषय में अधिक ज्ञात नहीं हैं। 20 वर्ष की अवस्था में प्लेटो सुकरात के पास आये और 8 वर्ष तक सुकारात के प्रिय शिष्य बने रहे। 399 ई0 पू0 में जब सुकरात को मृत्युदण्ड दिया गया, तब प्लेटो की आत्मा विद्रोह कर उठी, इसलिए प्लेटो ने एथेन्स में रहना निरर्थक समझा। अतः प्लेटो ने 399 ई0 पू0 में एथेन्स छोड़ दिया। इस दौरान उन्होंने मिश्र, मेगारा, इटली आदि देशों का भ्रमण किया और विभिन्न विद्वानों से मिलकर ज्ञान प्राप्त किया।

10 वर्ष तक विदेश भ्रमण करने के पश्चात प्लेटो एथेन्स वापस आया, और अपनी विश्व प्रसिद्ध शिक्षण संस्था 'अकेडिमी' की स्थापना की । इसी शिक्षण संस्था में वह आजीवन शिक्षण कार्य करता रहा। यहीं पर प्लेटो ने अधिकांश लेखन कार्य भी किया। 347 ई0 पू0 में प्लेटो की मृत्यु हो गई ।

5.3.1 प्लेटो का शिक्षा-दर्शन –

प्लेटो का शिक्षा दर्शन उनकी दार्शनिक विचारधारा से प्रभावित है। ये विचार उनकी दो प्रमुख

कृतियों – 'दि रिपब्लिक' एवं 'दि लाज' में मिलते हैं अन्य संवादों में भी कुछ विचार मिलते हैं, परन्तु उपर्युक्त दोनों पुस्तकों में शिक्षा के सम्बन्ध में विस्तृत वर्णन किया गया है। प्लेटो शिक्षा को 'एक महान वस्तु' मानते हुए अपनी पुस्तक 'दि लाज' में कहा है कि –शिक्षा प्रथम तथा श्रेष्ठत्तम वस्तु है, जिसे सर्वोत्तम व्यक्ति ही प्राप्त कर सकते हैं।

प्लेटो की दोनों पुस्तकों को पढ़ने से ज्ञात होता है कि प्लेटो के शैक्षिक विचारों में एकरूपता नहीं है। 'दि रिपब्लिक' में प्लेटो ने कहा है कि अज्ञानता ही सभी बुराइयों का आधार है, किन्तु 'दि लाज' में वह अज्ञानता को अधिक बुरा नहीं मानते। प्लेटो ने 'दि रिपब्लिक' की रचना अपने यौवन काल में की, जबकि 'दि लाज' की रचना वृद्धावस्था में। इससे स्पष्ट होता है कि ज्यों-ज्यों प्लेटो के विचारों में परिपक्वता आती गयी, वह अपने शिक्षा सम्बन्धी विचार बदलता गया। किन्तु प्लेटो ने शिक्षा की महत्ता सदैव स्वीकार किया और शिक्षा को ही समाज के कल्याण का आधार माना है।

5.3.1.1 शिक्षा का अर्थ -

प्लेटो ने शिक्षा को नैतिक प्रशिक्षण की एक प्रक्रिया माना है, जिससे व्यक्ति की प्रवृत्तियों में सुधार किया जा सकता है। यहाँ प्रश्न उठता है कि क्या नैतिकता की शिक्षा दी जा सकती है? अर्थात क्या सद्‌गुण को सिखाया जा सकता है? प्लेटो का मानना था कि नैतिकता या सद्‌गुण सिखाया जा सकता है। प्लेटो ने चार सद्‌गुणों – बुद्धिमत्ता, संयम, साहस एवं न्याय को माना है। प्लेटो के अनुसार इन्हीं सद्‌गुणों को प्रशिक्षित करने की प्रक्रिया ही शिक्षा है।

प्लेटो के अनुसार संयम एवं साहस का विकास अभ्यास से होता है, क्योंकि ये दोनों सदगुण आदतजन्य हैं। प्रारम्भिक जीवन के उचित नियन्त्रण से ही आदत एवं अभ्यास सम्भव है। आदत एवं अभ्यास के द्वारा ही बुद्धित्व विकसित होता है और इसी बुद्धि तत्व पर बुद्धिमत्ता एवं न्याय आधारित होता है। प्लेटो का मानना है कि इन्हीं सद्‌गुणों का विकास शिक्षा करती है। प्लेटो ने अपनी अन्तिम पुस्तक 'दि लाज' में लिखा है कि – 'शिक्षा से मेरा अभिप्राय उस प्रशिक्षण से है जो बालकों में उचित आदतों के निर्माण द्वारा सद्‌गुणों को उत्पन्न करता है। यह प्रशिक्षण हमें यह योग्यता प्रदान करता है कि हम उस वस्तु से सदा घृणा करें, जिससे हमें घृणा करनी चाहिए, और उस वस्तु से प्रेम करें, जिससे वास्तव में प्रेम करना चाहिए। मेरी दृष्टि में इसके प्रशिक्षण को वास्तविक शिक्षा कहा जायेगा'।

5.3.1.2 शिक्षा का उद्देश्य –

प्लेटो ने शिक्षा के असीम शक्ति को स्वीकार किया और शिक्षा को 'लौकिक प्रणाली का एक आवश्यक कार्य' माना। प्लेटे शिक्षा के द्वारा व्यक्ति के आदर्श व्यक्तित्व का निर्माण करके उसे इस योग्य बनाना चाहते हैं कि वह राज्य के हित में अपना जीवन अर्पण कर दें। संक्षेप में प्लेटो के शिक्षा के उद्देश्य निम्निलिखित हैं –

1. राज्य की एकता की रक्षा करना –

सोफिस्टों के प्रभाव के कारण यूनान में व्यक्तिवाद का उदय हुआ, जिससे राज्य की सुरक्षा खतरे में पड़ गयी। प्लेटो ने व्यक्तिवाद का विरोध किया और राज्य की सार्वभौम सत्ता का समर्थन किया । प्लेटो के अनुसार शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य सहयोग तथा सहकारिता की भावना उत्पन्न करना है, ताकि व्यक्तियों में सामूहिक जीवन की स्थापना हो सके। प्लेटो ने स्पष्ट कहा है कि व्यक्ति राज्य के लिए है। इसलिए व्यक्ति

को, राज्य के लिए अपने वैयक्तिक हितों का बलिदान कर देना चाहिए।

2. नागरिकता के गुणों का विकास करना –

अच्छे राज्य के निर्माण के लिए अच्छे नागरिकों की आवश्यकता होती है। अतः नागरिकों का निर्माण करना शिक्षा का मुख्य कार्य है। प्लेटो ने मानव जीवन में नागरिकता के गुणों का विकास करना एक आवश्यक सद्‌गुण माना है। इसीलिए उनके विचार में शिक्षा का मुख्य उद्देश्य है कि इस सद्‌गुण को विकसित करने के लिए युवकों में धैर्य, साहस, उत्साह, त्याग, न्यायप्रियता, सत्य प्रियता, क्रियाशीलता, सैनिक कुशलता आदि गुणों का विकास करना है।

3. विवेक का विकास करना –

प्लेटो के अनुसार विवेक ही सामाजिक व्यवस्था की नींव है। यह विवेक प्रत्येक शिशु में सुसुप्तावस्था विद्यमान रहता है। अतः शिक्षा का उद्देश्य इस विवेक को सुसुप्तावस्था से जागृत अवस्था में लाना है, क्योंकि विवेक से ही व्यक्ति का जीवन नियन्त्रित हो सकता है। प्लेटो व्यक्ति में विवेक का विकास करना चाहते थे, ताकि व्यक्ति में तृष्णा का एकाधिकार न हो सके।

4. सत्यं, शिवं एवं सुन्दरम् के प्रति आस्था उत्पन्न करना -

प्लेटो ने शाश्वत मूल्यों – सत्यम्, शिवम्, एवं सुन्दरम् के प्रति आस्था उत्पन्न करना शिक्षा का उद्देश्य माना है। उसके अनुसार ये गुण परमात्मा के गुण हैं, इसलिए परमात्मा से साक्षात्कार के लिए इन गुणों का साक्षात्कार आवश्यक है। जन्म के समय शिशु इन्द्रियों का ह्रास होता है, परन्तु धीरे-धीरे उसमें सत्य, शिव एवं सुन्दर के प्रति प्रेम उत्पन्न करना चाहिए।

5. शारीरिक एवं मानसिक विकास -

प्लेटो ने शिक्षा के उद्देश्यों में एक उद्देश्य शारीरिक एवं मानसिक विकास माना है, क्योंकि प्लेटो ने व्यक्ति के विकास में शरीर एवं मन दोनों की महत्ता को स्वीकार किया है। इस सम्बन्ध में प्लेटो ने कहा है कि – 'क्या मैं यह कहने में सही नहीं हूँ कि उत्तम शिक्षा वह है, जो शरीर एवं मन को विकसित करने का सबसे अधिक प्रयास करती है।

6. संतुलित व्यक्तित्व का निर्माण -

प्लेटो के अनुसार शिक्षा का एक प्रमुख उद्देश्य – मनुष्य में संतुलित व्यक्तित्व का निर्माण करना भी है। अच्छा व्यक्तित्व संतुलित होता है तथा 'स्व' के नियन्त्रण में रहता है। स्वनियन्त्रित व्यक्ति परिधि के अनुसार व्यवहार करने की क्षमता रखता है। परिस्थिति से समायोजन की योग्यता शिक्षा से ही आती है।

7. सामंजस्य पूर्ण जीवन व्यतीत करने के लिए तैयार करना -

प्लेटो के अनुसार विद्यालय मानवीकरण एवं समाजीकरण करने वाला साधन है। इसीलिए उन्होंने माना है कि शिक्षा का प्रमुख कार्य है, बालकों को सामंजस्य पूर्ण जीवन बिताना सिखाये। प्लेटो ने अपनी पुस्तक 'दि रिपब्लिक' में कहा है कि – 'सच्ची शिक्षा जो कुछ भी हो, वह मनुष्यों को एक दूसरे के साथ अपने सम्बन्धों में सभ्य एवं मानवीय बनाने

की प्रवृत्ति रखेगी।

5.3.1.3 पाठ्यक्रम

पाशचात्य शिक्षा के इतिहास में प्लेटो ही प्रथम व्यक्ति था जिसने पाठ्यक्रम पर व्यवस्थित विचार प्रकट किया। प्लेटो ने पाठ्यक्रम निर्धारित करते समय बालक की क्रियाओं का ध्यान रखा ओर तीन सिद्धान्तों का सहारा लिया – (1) समानता (2) योग्यता एवं अभिक्षमता तथा (3) आवश्यकता का सिद्धान्त ।

प्रथम सिद्धान्त के अनुसार सभी बालकों को समान शिक्षा दी जाय और स्त्री एवं पुरूष में कोई अन्तर न किया जाय। दूसरे सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक बालक की शिक्षा उसकी शक्ति, योग्यता एवं अभिक्षमता के अनुसार हो तथा तीसरे सिद्धान्त के अनुसार व्यक्ति एवं राज्य की आवश्यकता को ध्यान में रख कर शिक्षा दी जाये। प्लेटो द्वारा निर्धारित पाठ्यक्रम निम्न प्रकार हैं –

1. शैशवकाल -

जन्म से 3 वर्ष तक की अवधि को शैशव काल कहा जाता है। इस समय बालक का विकास तीव्र गति से होता है। इस समय उन्हें पौष्टिक भोजन देना चाहिए और उनके पालन पोषण एवं स्वास्थ्य पर विशेष ध्यान देना चाहिए। इनके समक्ष उत्तम शैक्षिक एवं सामाजिक वातावरण प्रस्तुत करना चाहिए और सुख-दुख की परिस्थितियों से यथा सम्भव बचाना चाहिए।

2. नर्सरी –

3 वर्ष से 6 वर्ष की अवस्था को नर्सरी शिक्षा की अवस्था कहा जाता है। इसी समय बालकों की शिक्षा प्रारम्भ करनी चाहिए। शिक्षा की दृष्टि से यह अवस्था बहुत महत्वपूर्ण होती है, इसलिए इस समय बालकों को खेलकूद, परियों की कहानियों एवं सामान्य मनोरंजन की शिक्षा देनी चाहिए।

3. प्राथमिक शिक्षा –

प्लेटो के अनुसार यह शिक्षा 6 वर्ष से 13 वर्ष तक की होती है। इस समय बालक एवं बालिकाओं की शिक्षा अलग अलग होनी चाहिए । इस काल में शिक्षा के दो कार्य होते हैं – (1) बालकों एवं बालिकाओं की अनियन्त्रित क्रियाओं को नियंत्रित करना तथा (2) उनमें समन्वय स्थापित करना। इसलिए इस अवस्था में बालकों को संगीत, खेलकूद, व्यायाम, गणित, नृत्य, धर्म तथा काव्य की शिक्षा देनी चाहिए।

4. माध्यमिक शिक्षा -

13 वर्ष से 16 वर्ष तक की अवस्था माध्यमिक शिक्षा की अवस्था होती है। इस अवस्था में बालकों को वाद्य संगीत, धार्मिक गीत, कविता, गणित, ज्यामिति, भाषा साहित्य, कला तथा उच्च ज्योतिष आदि की शिक्षा प्रदान करनी चाहिए।

5. सैनिक शिक्षा –

इस काल को 'व्यायामकाल की शिक्षा' अथवा 'जिम्नास्टिक शिक्षा' का काल भी कहा जाता है।

यह काल 16 से 20 वर्ष की अवस्था का काल है। इस काल की शिक्षा का उद्देश्य राज्य के लिए हृष्ट पुष्ट नागरिक व सैनिक तैयार करना है। इसलिए इस अवस्था में व्यायाम, खेलकूद, घुड़सवारी, युद्ध कला, शस्त्र संचालन, सैन्य संचालन, व्यूह रचना आदि की शिक्षा दी जानी चाहिए।

6. उच्च शिक्षा एवं आगे की शिक्षा -

20 वर्ष से 30 वर्ष तक की शिक्षा उच्च शिक्षा होगी। इस अवधि की शिक्षा के लिए 20 वर्ष की अवस्था में छात्रों के ज्ञान की जाँच हो, और जो छात्र जाँच में उत्तीर्ण हों, उन्हें ही यह शिक्षा मिले। इस काल की शिक्षा में छात्रों को अंकगणित, रेखागणित, संगीत, नक्षत्र विज्ञान आदि की शिक्षा देनी चाहिए। 30 वर्ष की अवस्था से ऊपर की शिक्षा को आगे की शिक्षा कहते हैं। इस समय उच्च शिक्षा प्राप्त छात्रों की परीक्षा होगी और जो छात्र उत्तीर्ण होंगे वे 5 वर्ष आगे तक अध्ययन करेंगे। इस समय के पाठ्यक्रम में दर्शनशास्त्र, मनोविज्ञान, समाजशास्त्र, राजनीति, न्याय एवं शिक्षाशास्त्र मुख्य विषय थे। 35 से 50 वर्ष की अवधि में शिक्षा को व्यावहारिक रूप दिया गया। इस समय नागरिक राज्य की सेवा शासक के रूप में करेंगे तथा राज्य एवं समाज के नेता होंगे, इसलिए उनके लिए दर्शन, न्याय, राजनीति, समाजशास्त्र आदि का विस्तृत एवं गूढ़ अध्ययन आवश्यक है। 50वर्ष की अवस्था में वे पदमुक्त हो सकते हैं और अपना जीवन, चिन्तन, मनन, एवं ध्यान में लगायेंगे तथा शिवम् का जीवन व्यतीत करेंगे।

5.3.1.4 शिक्षण विधि –

प्लेंटो ने जिन शिक्षण विधियों का समर्थन किया है वे निम्नलिखित हैं –

1. तर्क या वाद-विवाद विधि -

इस विधि की शुरूआत सुकरात द्वारा हुयी थी, परन्तु इस विधि का श्रेष्ठतम रूप प्लेटो की शिक्षा में ही दिखाई देता है। इस विधि का अर्थ बताते हुए बॉयड ने कहा है कि – 'अपने शाब्दिक अर्थ में यह विचारवान व्यक्तियों का वाद विवाद या तर्कयुक्त स्पष्टीकरण है।'

2. सुकराती विधि -

प्लेटो की यह शिक्षण विधि उसके गुरू सुकरात के नाम से प्रसिद्ध है। यह एक प्रकार की प्रश्नोत्तर विधि है। जिसमें कोई भी शिक्षण कार्य क्रमशः उदाहरण, परिभाषा, और परिणाम के सोपानों से होकर पूरा होता है। यह विधि व्याख्या की अपेक्षा रोचक होती है। क्योंकि इसमें शिक्षक एवं छात्रों के बीच अन्तर्क्रिया चलती रहती है जिससे विद्यार्थी सदैव क्रियाशील बना रहें।

3. प्रयोग विधि -

इस विधि से प्लेटो बच्चों को अस्त्र संचालन, उनको उठाना तथा रखना सिखाता है। इसी प्रकार संगीत शिक्षण में भी बाद्य यन्त्रों के संचालन के साथ-साथ स्वर और ताल साधने की क्रिया का अभ्यास कराना चाहिए।

4. वार्तालाप विधि -

इस विधि को प्रश्नोत्तर विधि का ही एक अंग कहा जाता है। सुकरात प्लेटो और आगे चलकर अरस्तू की तर्क एवं वाद विवाद के समय वार्तालाप किया करते थे। वर्तमान समय में उच्च शिक्षा में यही

विधि माध्यम बन गई है।

5. स्वाध्याय विधि -

इस विधि का प्रयोग प्लेटो 50 वर्ष की अवस्था के बाद करता है। अपनी पारिवारिक सामाजिक और प्रसासनिक दायित्वों से मुक्त होने के बाद लोगों के लिए यही एक ऐसा साधन है, जिसके द्वारा वे अपने वास्तविक स्वरूप को समझ सकेंगे और परम सत्य के समीप पहुँच सकेंगे।

6. खेल विधि -

प्लेटो ने खेल विधि को नर्सरी शिक्षा के लिए सबसे उपयुक्त विधि कहा है। क्योंकि खेल के मैदान में बच्चे जब भी एक दूसरे से मिलते हैं, उन्हें आनन्द प्राप्त होता है। इसी खेल द्वारा ही वह अपने हृदय के गुण एवं दोष को व्यक्त कर देते हैं, इसलिए उनके गुणों को विकसित करने तथा उन्हें ठीक से ज्ञान देने के लिए उनकी स्वाभाविक भूख को शान्त करना आवश्यक होता है।

7. अनुकरण विधि -

प्लेटो ने अनुकरण विधि का भी समर्थन किया है, परन्तु यह विधि विशेषकर दासों की शिक्षा के लिए है । वर्तमान समय में इस विधि का प्रयोग छोटे बच्चों की शिक्षण-विधि में अधिक होता है।

5.3.1.5 अनुशासन -

प्लेटो अनुशासन पूर्ण जीवन में विश्वास करते थे। इसी लिए उन्होंने कहा है कि बालक को नियन्त्रण में रखना चाहिए और नियन्त्रण में रखने के लिए आवश्यकता पड़ने पर उसे दण्ड भी दिया जाना चाहिए। दण्ड एवं पुरस्कार में प्लेटो का विश्वास था और वह इन्हें अनुशासन के लिए आवश्यक मानते थे। प्लेटो ने बतलाया कि आत्मानुशासन के लिए शरीर और मन दोनों का नियन्त्रण आवश्यक है। इसीलिए प्लेटो ने शिक्षाा को पाठ्यक्रम की शारीरिक एवं मानसिक नियन्त्रण को दृष्टि में रखते हुए निर्धारित किया है, प्लेटो का विचार है कि 'चाहे युद्धकाल हो या शान्तिकाल, प्रत्येक को अपने नेता का अनुगमन करना चाहिए।' अर्थात नेता या बड़ों की आज्ञा का पालन करना सब का कर्तव्य है। इसी प्रकार शिक्षक की आज्ञा मानना छात्रों का कर्तव्य है। इससे स्पष्ट होता है कि प्लेटो दमनात्मक अनुशासन में विश्वास करते थे।

5.3.1.6 शिक्षक -

प्लेटो स्वयं शिक्षक था, इसलिए उसने अपने आदर्शों और गुणों को सामने रखकर शिक्षक के गुणों एवं कर्तव्यों को निर्धारित किया है। प्लेटो ने दार्शनिकों को समाज का कर्णधार माना है। इन्हीं दार्शनिकों में शिक्षक को भी सम्मिलित किया जाता है। इस दृष्टि से प्लेटो ने शिक्षक को समाज में बहुत ऊँचा स्थान प्रदान किया है। प्लेटों के अनुसार शिक्षक को योग्य, आदर्श गुणों से युक्त और अनुभवी होना चाहिए। ताकि वह शिक्षा के कार्य का संपादन ठीक प्रकार से कर सकें।

5.3.1.7 शिक्षा-दर्शन का मूल्यांकन -

प्लेटो के शिक्षा-दर्शन में निम्नलिखित दोष दिखाई देते हैं –

1. प्लेटो ने शिक्षा पर राज्य के पूर्ण नियन्त्रण की बात कही है जो शैक्षिक संस्थाओं एवं पाठ्यक्रम इत्यादि की स्वतंत्रता में बाधक हैं।

2. प्लेटो ने अपनी शिक्षा योजना में श्रमिकों या उत्पादक वर्ग के लिए किसी प्रकार की शिक्षा का प्रावधान नहीं किया ।
3. प्लेटो की शिक्षा योजना सिर्फ उच्च वर्ग के लोगों के लिए थी, उसने दासों की शिक्षा का समर्थन नहीं किया।
4. प्लेटों ने गणित की शिक्षा पर अधिक बल दिया है और व्यावहारिक कला एवं साहित्य में विशेष रूचि नहीं दिखाई ।
5. प्लेटो का समान बालक और समान शिक्षा सिद्धान्त से वैयक्तिक प्रतिभा का ह्रास होता है।

उपर्युक्त दोषों के बावजूद प्लेटो का शिक्षा दर्शन उच्च कोटि का है। संक्षेप में प्लेटो के शिक्षा दर्शन में निम्नलिखित गुण दिखाई देता है –

1. प्लेटो का शिक्षा दर्शन समानता के सिद्धान्त पर आधारित है। प्लेटो ने बालक एवं बालिकाओं की एक समान शिक्षा का समर्थन करके इस सिद्धान्त की पुष्टि कर दी ।
2. प्लेटो के अनुसार शिक्षा की व्यवस्था करना राज्य का सर्वप्रथम एवं महत्वपूर्ण कर्तव्य है।
3. प्लेटो ने शिक्षा को व्यक्ति के नैतिक प्रशिक्षण हेतु आवश्यक मानते हुए उसके आध्यात्मिक पक्ष पर बल दिया है।
4. प्लेटो ने व्यक्तित्व के सामंजस्यपूर्ण विकास पर बल दिया है।
5. प्लेटो द्वारा सत्यम् , शिवम् एवं सुन्दरम् का समन्वय किया गया और उसकी प्राप्ति का साधन शिक्षा को बताया गया।

बोध प्रश्न –

टिप्पणी (क) – अपने उत्तर नीचे दिये गये स्थान में लिखिए।

(ख) - इकाई के अन्त में दिये गये उत्तरों से अपने उत्तर मिलाइये।

(1) प्लेटो ने कितने सद्‌गुण माने है?

....

....

....

(2) प्लेटो के शिक्षा के तीन उद्देश्य बताइये ।

(क) --

(ख) --

(ग) --

(3) प्लेटो के तीन शिक्षण विधि का नाम बताइये।

(क) --

(ख) --

(ग) --

(4) प्लेटो किस प्रकार के अनुशासन का समर्थन करते थे?

---

(5) प्लेटो के अनुसार शिक्षक को कैसा होना चाहिए?

5.4 रूसो – जीवन परिचय

रूसो का जन्म सन 1712 ई0 में जेनेवा नगर के एक गरीब परिवार में हुआ। उसके पिता एक घडीसाज थे। रूसो के जन्म के तुरन्त बाद ही उसकी माँ का निधन हो गया। रूसो का पालन पोषण उसकी चाची ने किया। पिता रूसो के पालन पोषण पर अधिक ध्यान नहीं दे पाता था। इसलिए रूसों दिन भर इधर उधर घूमता और प्राकृतिक सौन्दर्य का आनन्द लेता था। धीरे-धीरे उसका प्रकृति प्रेम बढ़ता गया और प्राकृतिक दृश्यों से प्रेम करने लगा। रूसो विद्यालय की शिक्षा की ओर आकृष्ट न हो सका। क्योंकि उस समय विद्यालय की शिक्षा में बनावटीपन एवं कठोरता अधिक थी। 10 वर्ष तक रूसो इधर उधर की शिक्षा प्राप्त करता रहा। उसके बाद 12 वर्ष की अवस्था में एक व्यापारी के वहाँ काम करने लगा किन्तु व्यापारी के कठोर व्यवहार के कारण वहाँ से वह हट गया। इसी बीच समाज ने रूसो पर झूठा आरोप लगाकर दण्ड देने का निर्णय किया। इससे उसका हृदय आक्रोश से भर गया और कुछ दिनों बाद फ्रांस चला गया।

फ्रांस पहुँच कर रूसो बीमार पड़ गया। बीमारी के दौरान उसकी रूचि साहित्य की ओर बढ़ी और वह अध्ययन प्रेमी हो गया। उसने प्लेटो, एडीसन, पोप, लाक, मान्टेन, वाल्टेयर आदि विद्वानों के ग्रन्थों को पढ़ा और उन्हें पढ़कर बहुत प्रभावित हुआ। रूसो पर प्लेटो की 'दि रिपब्लिक' और डीफो की 'राबिन्सन क्रूसो' नामक ग्रन्थ का अमिट प्रभाव पड़ा। रूसो लेखक बनना चाहता था, परन्तु लाक द्वारा लिखित 'शिक्षा सम्बन्धी कुछ विचार' पढ़कर उसने शिक्षक बनने का निश्चय किया। उसने दो बालकों को पढ़ाना भी शुरू किया लेकिन इसे निभा न सका। अपनी आर्थिक कठिनाइयों के कारण रूसो विभिन्न व्यवसायों को अपनाता और छोड़ता रहा। अन्त में उसने लेख लिखना प्रारम्भ किया, जिसमें उसे अभूतपूर्ण सफलता मिली। रूसो के अंतिम दिन अत्यधिक कष्टमय रहे । वह सन 1766 से 1768 तक इग्लैण्ड, जेनेवा एवं फ्रांस आदि देशों में गया और अन्त में 1778 में रूसों की मृत्यु हो गयी। रूसो की मृत्यु के 15 वर्ष बाद फ्रांस की राज्य क्रान्ति के अवसर पर उसे महान व्यक्ति तथा क्रान्तिकारी होने का गौरव प्रदान किया गया।

5.4.1 रूसो के शैक्षिक विचार –

रूसो प्रकृतिवादी विचारधारा का समर्थक था। इसी कारण उसके शैक्षिक विचारों में उसके दार्शनिक विचारों की छाप दिखाई देती है। रूसो रूढ़िवादी और सविधिक शिक्षा का विरोधी था। रूसो का कहना

था कि रूढ़िवादी एवं सविधिक शिक्षा मनुष्यों द्वारा बनाई हुई है, इसलिए यह अच्छी नहीं है। उसने कहा है कि प्रत्येक वस्तु विधाता के वहाँ से अच्छी आती है। लेकिन मनुष्य उससे छेड़छाड़ करके उसे दूषित बना देता है। इसलिए बालक की शिक्षा समाज में न होकर प्राकृतिक वातावरण में होना चाहिए। इस प्रकार रूसों ने प्राकृतिक शिक्षा को ही सबसे अधिक महत्वपूर्ण माना है। और उसी के अनुसार शिक्षा का अर्थ उद्देश्य, पाठ्यक्रम, शिक्षण विधि एवं अनुशासन आदि के विषय में विचार व्यक्त किया है।

रूसो ने शिक्षा सम्बन्धी विचार अपने महान ग्रन्थ 'एमील' (Emile – 1762) में व्यक्त किया है। इसे 'शिक्षा' (Education) सम्बन्धी शोध ग्रन्थ के नाम से भी जाना जाता है।

5.4.1.1 शिक्षा का अर्थ -

यद्यपि रूसो ने प्राकृतिक शक्तियों के स्वतंत्र विकास को ही शिक्षा माना है, फिर भी बाह्य शिक्षण की प्रक्रिया को आवश्यक बुराई की संज्ञा देते हुए कम महत्व नहीं दिया गया है। रूसो का मानना था कि बगैर शिक्षा के व्यक्ति का पूर्ण विकास नहीं हो सकता है। उसके अनुसार शिक्षा बाहर से लादी जाने वाली वस्तु नहीं है। रूसो सच्ची शिक्षा उसे मानता है, जो व्यक्ति के अन्दर से उत्पन्न होती है, और यह व्यक्ति की अन्तर्निहित शक्तियों की अभिव्यक्ति है। एक दूसरे स्थान पर रूसों ने लिखा है कि बालक की स्वाभाविक शक्तियों तथा योग्यताओं के आन्तरिक विकास का नाम ही शिक्षा है।

प्रकृति, मानव एवं पदार्थ को रूसों ने शिक्षा का स्रोत बतलाया है। रूसो का प्रकृति द्वारा शिक्षा से आशय यह है कि बालक को उसकी स्वाभाविक प्रवृत्तियों एवं आवश्यकताओं के अनुसार शिक्षा दी जानी चाहिए तभी बालक के विभिन्न अंगों एवं शक्तियों का विकास हो सकता है। रूसो का मानव द्वारा शिक्षा से आशय यह है कि व्यक्ति सामाजिक प्राणी होने के कारण किसी न किसी समाज एवं समूह का सदस्य होता है, और उस पर समाज एवं समूह के अन्य सदस्यों का प्रभाव पड़ता है। रूसों के अनुसार यही प्रभाव मानव द्वारा प्राप्त शिक्षा है। इसी प्रकार व्यक्ति अपनी परिस्थिति में उपस्थित पदार्थों के सम्पर्क से जो ज्ञान एवं सूचना प्राप्त करता है, वह पदार्थ द्वारा प्राप्त शिक्षा हुई। प्रथम दोनों प्रकार की शिक्षा को रूसो प्राकृतिक शिक्षा से निम्न माना है। इसके बावजूद रूसो का मानना है कि बालकों की पूर्ण शिक्षा के लिए तीनों प्रकार की शिक्षा में सामंजस्य होना चाहिए । इस प्रकार रूसो प्राकृतिक शिक्षा को ही महत्व दिया है।

5.4.1.2 निषेधात्मक शिक्षा –

रूसों ने शिक्षा के दो रूप बताये हैं - (1) निश्चयात्मक शिक्षा एवं (2) निषेधात्मक शिक्षा। अपने समय में प्रचलित शिक्षा को रूसो ने निश्चयात्मक शिक्षा माना और कहा कि 'मैं निश्चयात्मक शिक्षा उसे कहता हूँ जो समय से पूर्व ही मस्तिष्क को परिपक्व बनाना चाहती है। और बालक को प्रौढ़ व्यक्तियों के कर्तव्य सिखलाती है। रूसों ने निश्चयात्मक शिक्षा का विरोध किया, उसका कहना था कि यह शिक्षा बालक का सिर्फ बौद्धिक विकास करती है और उसके शारीरिक एवं अन्य शक्तियों के विकास की ओर ध्यान नहीं देती। निश्चयात्मक शिक्षा का विरोध करते हुये रूसों ने लिखा है कि 'उस क्रूर शिक्षा के विषय में हम क्या सोंचे जो वर्तमान को अनिश्चित भविष्य पर बलि दे देती है। बालक पर तरह तरह के बन्धन लाद देती है, उस काल्पनिक सुख के लिए जो वह कदाचित कभी न भोगेगा, बहुत पहले से दुखी बनाकर दी जाती है। इसीलिए रूसों इस शिक्षा व्यवस्था को बदलना चाहता था और इसके विपरीत चलने का सुझाव दिया। रूसों ने कहा है कि 'शिक्षा में जितने भी सिद्धान्त हैं। उनके विपरीत काम करो, तभी तुम हमेशा सही कार्य कर सकोगे।

रूसो ने निश्चयात्मक शिक्षा का विरोध तथा निषेधात्मक शिक्षा का समर्थन एवं प्रचार किया। निषेधात्मक शिक्षा का अर्थ स्पष्ट करते हुये रूसो ने लिखा है कि – 'मैं निषेधात्मक शिक्षा उसे कहता हूँ जो प्रत्यक्ष रूप से ज्ञान देने से पूर्ण उन अंगों को जो इसके साधन हैं,पूर्ण बनाने और इन्द्रियों के उचित अभ्यास द्वारा विवेक का मार्ग तैयार करने का प्रयास करती है। निषेधात्मक शिक्षा समय को मूर्खता या आलस्य में व्यतीत नहीं करती, वरन इससे बहुत दूर रहती है। यह गुण प्रदान नहीं करती, दुर्गुण से बचाती है। यह सत्य का ज्ञान नहीं कराती, त्रुटियों से रक्षा करती है। यह बालक को सत्य की ओर जाने के लिए प्रेरित करती है जबकि वह उसको समझने की आयु प्राप्त कर लेता है तथा गुण को ग्रहण करने की प्रेरणा देती है। जबकि उसको पहचानने एवं उसके प्रति प्रेम करने की क्षमता प्राप्त कर लेती है।

इस प्रकार निषेधात्मक शिक्षा में बालक को किसी प्रकार का नया ज्ञान नहीं दिया जाता है, बल्कि उसे समाज की बुराइयों और पापों से बचाया जाता है। इसी प्रकार की बात मुनरों ने कहा है। उसके अनुसार निषेधात्मक शिक्षा में गुण या सत्य के सिद्धान्तों का शिक्षण शामिल नहीं है, बल्कि इसमें कमियों के विरूद्ध मस्तिष्क का बचाव किया जाता है।

5.4.1.3 शिक्षा के उद्देश्य –

रूसों के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य बालक को स्वयं जीवन के लिए तैयार करना तथा मनुष्य बनाना है न कि किसी विशेष कार्य के लिए तैयार करना। इससे पहले कि बालक अपने माता-पिता के व्यवसाय को करे, प्रकृति व्यक्ति को मनुष्य बनाना चाहती है। रूसो का कहना है कि मैं बालक को बताना चाहता हूँ कि कैसे जीवन व्यतीत करना है। मेरे बताने के बाद वह मनुष्य बनेगा, न्यायाधीध, पादरी, सैनिक नहीं। वह वैसा ही बनेगा जैसा मनुष्य को आवश्यकता होने पर होना चाहिए। भाग्य के सहारे उसकी स्थिति बनाने का प्रयास नहीं होगा, क्योंकि वह हमेशा अपनी स्थिति में रहेगा। इस प्रकार रूसो बालक को मनुष्य बनाने के लिए शिक्षा देना चाहता है।

रूसों ने शिक्षा के उद्देश्यों का निरूपण बाल विकास की विभिन्न अवस्थाओं के अनुसार किया है। उसका कहना है कि शैशवावस्था में बालक की शारीरिक शक्ति की वृद्धि करना शिक्षा का उद्देश्य होना चाहिए। इसलिए बालकों को खेल कूद, व्यायाम आदि का पर्याप्त अवसर देना चाहिए। बाल्यावस्था में शिक्षा का उद्देश्य ज्ञानेन्द्रियों का विकास करना होना चाहिए। इस अवस्था में शिक्षा को इन्द्रियों का उचित प्रयोग करके ज्ञान के द्वारा खोलने चाहिए। किशोरावस्था में शिक्षा का उद्देश्य उपयोगी तथा व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त करने में सहायता देना है, जिससे बालक अपनी व्यवहारिक आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके। युवावस्था में शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति का भावात्मक विकास करना है। इस सम्बन्ध में रूसो का कहना है कि हमने उसके शरीर ज्ञानेन्द्रियों तथा बुद्धि का विकास कर लिया है, अब उसे सिर्फ हृदय प्रदान करना शेष है। रूसो इस अवस्था में सामाजिक, नैतिक एवं धार्मिक भावना जाग्रत करना चाहता था। पारिवारिक अवस्था में शिक्षा का उद्देश्य बालक को जीवित रहने की कला का ज्ञान प्रदान करना होना चाहिए।जीवन का अर्थ सांस लेना नहीं है, बल्कि कर्म करना है।

5.4.1.4 पाठ्यक्रम –

शिक्षा के उद्देश्यों की भाँति रूसो ने पाठ्यक्रम का निर्धारण भी विकास की विभिन्न अवस्थाओं के अनुसार किया है। शैशवावस्था के सम्बन्ध में रूसों ने कहा है कि 'बालक को बालक समझकर ही शिक्षा

दी जाय, प्रौढ़ समझकर नहीं'। इसलिए शैशवावस्था के पाठ्यक्रम में बालक के शारीरिक विकास करने वाली क्रियाओं को स्थान देना चाहिए। जैसे खेलने कूदने, दौड़ने-धूपने एवं प्राकृतिक वातावरण का अनुभव कराना चाहिए। बाल्यावस्था के पाठ्यक्रम में भी रूसो ने शारीरिक शिक्षा को स्थान नहीं दिया। उसने कहा कि इस अवस्था में बालक को ज्ञानेन्द्रियों की सहायता से स्वयं अनुभव करने का अवसर देना चाहिए। इसके लिए खेलना, कूदना, तैरना, उठना, बैठना, देखना, सुनना, नापना, तौलना, विभिन्न अंगों और ज्ञानेन्द्रियों का उपयोग करने की पूर्ण स्वतंत्रता देनी चाहिए। किशोरावस्था के लिए रूसो ने कहा कि अब बालकों के लिए पाठ्यक्रम निर्धारित किया जा सकता है। रूसो के अनुसार इस अवस्था में बालक को परिश्रम, निर्देश एवं अध्ययन के लिए पर्याप्त अवसर देना चाहिए। इसके लिए रूसो ने प्राकृतिक विज्ञान, गणित, भाषा, सामाजिक विज्ञान, संगीत, लकड़ी का कार्य तथा किसी व्यवसाय को पाठ्यक्रम में रखने की बात कही। युवावस्था में बालक की शिक्षा इस प्रकार हो ताकि उसमें सामाजिक, नैतिक एवं धार्मिक भावना का विकास हो। इसके लिए बालकों को नैतिक शिक्षा, इतिहास, पौराणिक कथाएं तथा हितोपदेश की कहानियाँ पढ़ानी चाहिए। इसके अतिरिक्त बालकों को धर्म, सौन्दर्यानुभूति, व्यायाम, कला, संगीत एवं यौन शिक्षा भी देनी चाहिए।

5.4.1.5 शिक्षण विधि –

रूसो ने बालक की शिक्षा हेतु जिन शिक्षण विधियों का समर्थन किया वे निम्नलिखित हैं –

1. स्वानुभव द्वारा सीखना –

पुस्तकीय शिक्षा के विरूद्ध होने के कारण रूसो ने इसका विरोध किया। रूसो बालक को पुस्तकों द्वारा नहीं, बल्कि अनुभव द्वारा सिखाना चाहता है। उसका कहना था 'बारह वर्ष तक बालक को किसी प्रकार की पुस्तकीय शिक्षा नहीं दी जायगी ताकि उसको यह पता न चले कि पुस्तक क्या वस्तु है।' एक अन्य स्थान पर रूसो ने लिखा है कि 'मैं पुस्तकों से घृणा करता हूँ, क्योंकि पुस्तकें हमें उसी वस्तु के विषय में बताती हैं जिसे हम नहीं जानते । इसीलिए रूसों ने स्वानुभव द्वारा सीखने पर बल दिया, इसके लिए रूसो वास्तविक वस्तुओं द्वारा शिक्षा देने की विधि का समर्थन किया है।

2. करके सीखना –

रूसों रटने की विधि के विरूद्ध था । रूसो का कहना है कि 'बालक की विवेकशक्ति का विकास करो, स्मरण शक्ति का नहीं।' इसीलिए रूसो न उस समय की शिक्षण विधियों की आलोचना की और उसके स्थान पर क्रिया द्वारा सीखने का समर्थन किया। रूसो का विचार है कि बालक को शब्दों द्वारा मिले हुए ज्ञान की अपेक्षा स्वयं क्रिया द्वारा सीखा हुआ ज्ञान अधिक स्थायी होता है।

3. अन्वेषण विधि –

इस विधि को स्वयं खोज प्रणाली के नाम से भी जान जाता है। इस विधि में शिक्षक का ज्ञान एवं निर्देश कोई विशेष महत्व नहीं रखता । इस विधि में बालक को कुछ सीधे बतलाने की अपेक्षा, उनमें जिज्ञासा पैदा की जाती है और उस अनुसार वातावरण दे दिया जाता है, बालक उसका परिणाम स्वयं निकालने का प्रयास करते हैं । रूसो ने इस विधि का समर्थन इसलिए किया कि जिससे बालकों का मानसिक विकास हो सके।

4. निरीक्षण विधि –

रूसो शाब्दिक शिक्षा का विरोधी था, वह चाहता था कि बालक निरीक्षण के द्वारा वस्तुओं का अध्ययन करें। इस विधि द्वारा वस्तुओं का प्रत्यक्ष अनुभव होता है। इस विधि से प्राप्त ज्ञान मस्तिष्क में स्थायी होता है। इसलिए बालक को वस्तुओं के निरीक्षण का अधिक से अधिक अवसर देना चाहिए।

5.4.1.6 अनुशासन –

प्रकृतिवादी रूसो बालक को अनुशासित करने के लिए उसे अधिक से अधिक स्वतंत्रता देना चाहता था । उसका कहना है कि केवल स्वतंत्र वातावरण से ही बालक की प्राकृतिक शक्तियों का विकास हो सकता है। इसलिए बालक पर बन्धनों का सर्वथा अभाव होना चाहिए, क्योंकि बंधन बालक के विकास में सहायक न होकर बाधक होते हैं। रूसो का विचार है कि बालक की तर्क एवं विचारशक्ति अपरिपक्व होने के कारण दण्ड एवं दण्ड के कारण को नहीं समझ पाता। इस लिए उससे तर्क करने के बजाय उसे अपना कार्य करने एवं उसके परिणामों को भोगने दिया जाय। रूसो ने लिखा है कि बालकों को कभी भी दण्ड नहीं दिया जान चाहिए बल्कि अपने कार्यों के परिणाम स्वरूप उन्हें प्रकृति द्वारा दण्ड अपने आप मिलने देना चाहिए। इस प्रकार रूसो प्राकृतिक परिणामों द्वारा अनुशासन में विशवास करता है। इसके अनुसार यदि बालक प्रकृति के विरूद्ध कार्य करता है, तो प्रकृति उसे दण्ड देगी अर्थात वह जैसा करता है वैसा ही फल मिलता है। यह प्राकृतिक दण्ड की व्यवस्था है और बालक इसी से अनुशासन सीखेगा।

5.4.1.7 शिक्षक –

रूसो परम्परागत शिक्षा प्रणाली का विरोधी है। प्राचीन पद्धति में शिक्षकों को बहुत महत्व प्राप्त था। रूसों ने इसे समाप्त कर दिया। वह बालक को शिक्षा का केन्द्र बनाया और उसके मनोवैज्ञानिक विकास पर बल दिया। वह शिक्षक को बालक का सहायक मानता था। ऐसा सहायक जो उसे आदर्श वातावरण दे सके और ऐसी परिस्थिति का निर्माण कर सके जिसमें बालक का स्वयं प्राकृतिक विकास हो सके। रूसो चाहता था कि शिक्षक अपनी इच्छा से नहीं बच्चों की इच्छा से पढ़ाने के लिए तत्पर रहे। वह सिर्फ सूचना देने वाला ही नहीं बल्कि बालकों के सभी प्रकार के विकास में सहायता करने वाला हो।

5.4.1.8 रूसो के शैक्षिक विचारों का मूल्यांकन –

रूसो के विचारों की आलोचना निम्नलिखित आधारों पर की जाती है –

(1) रूसो के प्रकृति शब्द के प्रयोग में एकरूपता का अभाव है। उसने स्वयं इस शब्द का प्रयोग विभिन्न स्थानों पर विभिन्न प्रकार से किया है।

(2) बारह वर्ष तक बालकों के लिए पुस्तकीय शिक्षा का विरोध करना अव्यावहारिक प्रतीत होता है।

(3) बालकों को आत्मविकास के लिए पूर्ण रूप से स्वतंत्र छोड़ देना उचित प्रतीत नहीं होता।

(4) रूसो का प्राकृतिक परिणामों का सिद्धान्त त्रुटिपूर्ण है, क्योंकि कभी कभी प्रकृति बहुत कठोर एवं घातक हो जाती है।

(5) रूसों का निषेधात्मक शिक्षा का सिद्धान्त दोषपूर्ण है। क्योंकि यह समाज, परिवार, शिक्षक, शिक्षालय एवं पुस्तक की उपेक्षा करता है।

उपर्युक्त दोषों के बावजूद रूसो के शैक्षिक विचारों में अनेक गुण भी हैं जैसे –

(1) रूसों ने बालक को शिक्षा का केन्द्र बिन्दु माना, फलस्वरूप शिक्षा बाल केन्द्रित हो गयी।

(2) बालक की विशेषताओं, आवश्यकताओं एवं स्तर के अनुकूल पाठ्यक्रम की बात की जिससे पाठ्यक्रम में विभिन्नता एवं विविधता का समावेश हुआ।

(3) विकास की अवस्थाओं पर ध्यान केन्द्रित करने से शिक्षा अधिक मनोवैज्ञानिक हो गयी।

(4) रूसो ने अपने शिक्षा व्यवस्था में, हाथ, मस्तिष्क एवं हृदय की शिक्षा पर बल दिया।

(5) रूसों ने औद्योगिक एवं व्यावसायिक शिक्षा का सूत्रपात किया।

बोध प्रश्न –

टिप्पणी (क) – अपने उत्तर नीचे दिये गये स्थान में लिखिए।

(ख) - इकाई के अन्त में दिये गये उत्तरों से अपने उत्तर मिलाइये।

(6) रूसो के अनुसार बालक की शिक्षा कहाँ होनी चाहिए?

....

....

....

(7) रूसो ने शिक्षा के कितने स्रोत बताये हें?

....

....

....

(8) रूसो ने निश्चयात्मक शिक्षा किसे कहा है?

....

....

....

(9) रूसो ने शिक्षा के उद्देश्यों का निर्धारण किस प्रकार किया है?

....

....

....

(10) रूसो के दो मुख्य शिक्षण विधि का नाम बताइये?

क)..

ख)..

(11) रूसो किस प्रकार के अनुशासन में विश्वास करता था?

....

....

....

5.5 सारांश

इस इकाई में प्लेटो एवं रूसो के शिक्षा दर्शन अर्थात शिक्षा का अर्थ, उद्देश्य, पाठ्यक्रम शिक्षण विधि, अनुशासन एवं शिक्षक को स्पष्ट किया गया है। प्लेटो एवं रूसो के शिक्षा दर्शन से ज्ञात होता है कि प्लेटो ने शिक्षा को नैतिक प्रशिक्षण की प्रक्रिया माना और उसका उत्तरदायित्व राज्य पर रखा। प्लेटो ने अपने विचारों से शिक्षा को अत्यधिक प्रभावित किया, जिसके कारण वर्तमान युग में भी वे प्रेरणा के स्रोत बन गये हैं। रूसो ने शिक्षा को स्वाभाविक प्रक्रिया कहा और बालक की स्वाभाविक शक्तियों एवं योग्यताओं के आन्तरिक विकास को शिक्षा का उद्देश्य बताया। पाठ्यक्रम में उसने बाल विकास की विभिन्न अवस्थाओं को ध्यान में रखकर पाठ्य विषयों को स्थान दिया। रूसो स्वतंत्रता एवं प्राकृतिक परिणामों के सिद्धान्त द्वारा अनुशासन स्थापित करना चाहता था। प्लेटो की भाँति रूसो के शैक्षिक विचारों का प्रभाव भी हमारी वर्तमान शिक्षा के सभी क्षेत्रों में दिखाई देता है।

5.6 अभ्यास कार्य

1. प्लेंटो के शिक्षा दर्शन की विवेचना कीजिए।
2. प्लेटो के शिक्षा के उद्देश्यों की व्याख्या कीजिए।
3. प्लेटो के शिक्षा विधि की विवेचना कीजिए।
4. रूसो के शैक्षिक विचार की चर्चा कीजिए ।
5. रूसो की निषेधात्मक शिक्षा की विवेचना कीजिए ।
6. रूसो के शिक्षा के उद्देश्यों की व्याख्या कीजिए ।
7. रूसो के शिक्षण विधि की विवेचना कीजिए ।

5.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

1. चार-बुद्धिमत्ता, संयम, साहस एवं न्याय

2.(क) राज्य की एकता की रक्षा करना।

(ख) नागरिकता के गुणों का विकास करना

(ग) सत्यम् शिवम् एवं सुन्दरम् के प्रति आस्था उत्पन्न करना।

3.(क) तर्क या वाद-विवाद विधि ।

(ख) सुकराती विधि

(ग) वार्तालाप विधि ।

4. दमनात्मक अनुशासन का

5. योग्य, आदर्श एवं अनुभवी

6. प्राकृतिक वातावरण में

7. तीन-प्रकृति, मानव एवं पदार्थ

8. जो समय से पूर्व ही मस्तिष्क को परिपक्व बनाना चाहती है और बालक को प्रौढ़ व्यक्तियों के कर्तव्य सिखलाती है।

9. बाल विकास की विभिन्न अवस्थाओं के अनुसार

10. (क) स्वानुभव द्वारा सीखना

(ख) करके सीखना

11. प्राकृतिक परिणामों द्वारा अनुशासन ।

इकाई -6 जान डीवी, माण्टेसरी एवं फ्रेडरिक फ्रोबेल

संरचना

6.1 प्रस्तावना

6.2 उद्देश्य

6.3 **जॉन डीवी** - जीवन परिचय

6.3.1 डीवी के शैक्षिक विचार

6.3.1.1 शिक्षा का अर्थ

6.3.1.2 शिक्षा के उद्देश्य

6.3.1.3 पाठ्यक्रम

6.3.1.4 शिक्षण विधि

6.3.1.5 अनुशासन

6.3.1.6 शिक्षक

6.3.1.7 मूल्यांकन

6.4 **मेरिया माण्टेसरी** - जीवन परिचय

6.4.1 माण्टेसरी के शैक्षिक विचार

6.4.1.1 शिक्षा का अर्थ

6.4.1.2 शिक्षा के उद्देश्य

6.4.1.3 पाठ्यक्रम

6.4.1.4 माण्टेसरी की शिक्षा पद्धति

6.4.1.5 शिक्षण विधि

6.4.1.6 मूल्यांकन

6.5 **फ्रेडरिक फ्रोबेल** - जीवन परिचय

6.5.1 फ्रोबेल के शैक्षिक विचार

6.5.1.1 शिक्षा के उद्देश्य

6.4.1.2 पाठ्यक्रम

6.4.1.3 शिक्षण विधि

6.4.1.4 अनुशासन

6.4.1.5 शिक्षक

6.5.1.6 मूल्यांकन

6.6 सारांश

6.7 अभ्यास कार्य

6.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

6.1 प्रस्तावना

शिक्षा एवं दर्शन के क्षेत्र में जान डीवी के योगदान को जन्म जन्मान्तर याद किया जाता रहेगा। आधुनिक युग में शिक्षा एवं दर्शन में डीवी के योगदान की बराबरी कोई अन्य शिक्षा शास्त्री नहीं कर सकता है। डीवी के विचारों ने प्राचीन परम्पराओं को अन्त कर शिक्षा के स्वरूप को बदल दिया। जान डीवी को उन दार्शनिकों एवं शिक्षाशास्त्रियों की श्रेणी में रखा जाना चाहिए, जिन्होंने दार्शनिक विचारों को अपने समय की आवश्यकताओं के अनुसार बनाया है।' इस आधार पर यह आशा की जाती है कि डीवी के विचार, जिसका अध्ययन आज तो हो ही रहा है, भविष्य में भी होता रहेगा।

उन्नीसवीं एवं बीसवीं शताब्दी में माण्टेसरी ने न केवल एक चिकित्सक के ह्रप में बल्कि एक प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री के रूप में भी विश्व को जो योगदान दिया, वह अतुलनीय है। माण्टेसरी ने बालशिक्षा के क्षेत्र में नई खोज करके एक शिक्षा पद्धति का प्रतिपादन किया, जो आज माण्टेसरी पद्धति के नाम से प्रसिद्ध है। ई0 एम0 स्टेंडिंग के शब्दों में डॉ0 मेरिया माण्टेसरी के साथ शिक्षा के क्षेत्र में एक नई और शक्तिशाली उत्तेजना आयी। कोई भी सभ्य देश ऐसा नहीं है, जहाँ उनके सिद्धान्तों का प्रभाव न पड़ा हो।

किंडर गार्टन पद्धति के जन्मदाता फ्रेडरिक फ्रोबेल शिक्षा जगत के वह जाज्वल्यमान नक्षत्र हैं जिन्होंने अपना समस्त जीवन बाल शिक्षा के लिए समर्पित कर दिया। फ्रोबेल के विषय में रस्क ने कहा है कि 'फ्रोबेल की गणना बच्चों से प्रेम करने वालों में,शिक्षा में खेलविधि का आविर्भाव करने वालों में तथा बच्चों के लिए किंडर गार्टन जैसी संस्था के संस्थापक के रूप में की जाती है।' शिक्षा के क्षेत्र में जान डीवी मेरिया माण्टेसरी एवं फ्रेडरिक फ्रोबेल ने एक नई क्रान्ति उत्पन कर दी। इस इकाई में डीवी, माण्टेसरी एवं फ्रोबेल के शैक्षिक विचारों का वर्णन किया गया है।

6.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप इस योग्य हो जायेंगे कि-

- डीवी माण्टेसरी एवं फ्रोबेल के शिक्षा के अर्थ एवं उद्देश्य की विवेचना कर सकेंगे।
- डीवी, माण्टेसरी एवं फ्रोबेल के शिक्षाविधि का विश्लेषण कर सकेंगे।
- डीवी, माण्टेसरी एवं फ्रोबेल द्वारा बनाये गये अनुशासन की तुलना कर सकेंगे।
- डीवी, माण्टेसरी एवं फ्रोबेल के शिक्षक सम्बन्धी विचारों की विवेचना कर सकेंगे।

6.3 जॉन डीवी - जीवन परिचय

अमेरिका के प्रयोजनवादी, दार्शनिक एवं शिक्षाशास्त्री जान डीवी का जन्म सन् 1859 में वरमाण्ट के बरलिंगटन नामक नगर में हुआ। डीवी का प्रारम्भिक जीवन माता-पिता की सुखद छाया में बीता। प्रारम्भिक शिक्षा समाप्त करने के बाद डीवी ने वरमाण्ट विद्यालय में प्रवेश लेकर 1878 में 19 वर्ष की आयु में बी0 ए0 की उपाधि प्राप्त की। सन् 1882 में जान हापकिन्स विश्वविद्यालय से पी-एच0डी0 की उपाधि प्राप्त की।

डीवी ने अपना जीवन शिक्षण कार्य से शुरू किया, वह मिशीगन विश्वविद्यालय में दर्शनशास्त्र के प्रवक्ता बने और सन् 1894 में शिकागों विश्वविद्यालय के दर्शनशास्त्र के प्रवक्ता बने और सन् 1894 में शिकागो विश्वविद्यालय के दर्शनशास्त्र विभाग के अध्यक्ष बनकर 1902 तक कार्य किया। यहाँ डीवी ने दर्शनशास्त्र के साथ शिक्षाशास्त्र का भी शिक्षणकार्य किया। सन् 1904 में शिकागो छोड़कर डीवी कोलम्बिया विश्वविद्यालय में प्रोफेसर के रूप में 1930 तक कार्य किया। कोलम्बिया विश्वविद्यालय में डीवी ने शिक्षा सम्बन्धी अनेक प्रयोग किये और शिक्षा के अनेक दार्शनिक सिद्धान्त बनाये। अब तक डीवी को शिक्षा और दर्शन के क्षेत्र में अभूतपूर्व ख्याति प्राप्त हुई। वह सुदूर यूरोप एवं एशिया में जाना जाने लगा। सन् 1931 में डीवी ने टर्की जाकर 'टर्की की शैक्षिक व्यवस्था' में अपना योगदान दिया। इसके बाद डीवी ने चीन, रूस आदि देशों में जाकर अपने विचारों का प्रसार किया। डीवी ने अन्तिम दम तक शिक्षा जगत की सेवा का व्रत निभाया और सन् 1952 में अपना शरीर त्याग दिया।

उनकी सबसे महत्वपूर्ण कृति डिमोक्रेसी एण्ड एजुकेशन है। इसके अतिरिक्त हाउ वी थिंक, स्कूल एण्ड सोसायटी तथा चाइल्ड एण्ड दी करीक्यूलम आदि हैं।

6.3.1 डीवी के शैक्षिक विचार

डीवी के शैक्षिक विचार उसके प्रयोजनवादी दार्शनिक विचारों पर आधारित हैं। इसलिए शिक्षा के विभिन्न पक्षों पर उसकी दार्शनिक विचार-धारा की झलक दिखाई देती है।

6.3.1.1 शिक्षा का अर्थ

डीवी ने शिक्षा के अर्थ के विषय में निम्नलिखित पाँच धारणाएं व्यक्त की हैं-

1- **शिक्षा अनुभवों के पुनर्निमाण की प्रक्रिया है** - डीवी का विचार है कि व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अपने अनुभव के आधार पर कुछ कार्य करता है। किन्तु उसकी आवश्यकताओं में परिवर्तन होने के कारण उसे प्रतिदिन नये अनुभव प्राप्त होते हैं। व्यक्ति अपने पूर्व अनुभवों के द्वारा नये अनुभव में परिवर्तन करके आवश्यकता की पूर्ति हेतु पुनः अनुभव का निर्माण करता है। अनुभवों के इसी निर्माण की प्रक्रिया को डीवी ने शिक्षा कहा है। अनुभव निर्माण की यह प्रक्रिया निरन्तर चलती रहती है। इस सम्बन्ध में डीवी ने लिखा है कि- 'शिक्षा अनुभवों के पुनर्निमाण एवं पुनर्संगठन की प्रक्रिया है।'

2- **शिक्षा स्वयं जीवन है**-डीवी के अनुसार शिक्षा स्वयं जीवन है, न कि जीवन के लिए तैयारी। डीवी ने अपनी पुस्तक में लिखा है कि शिक्षा जीवन के लिए अति आवश्यक है, क्योंकि शिक्षा के बगैर जीवन की प्रगति नहीं हो सकती। डीवी का विचार है कि व्यक्ति की विभिन्न आवश्यकताएं

उसकी वर्तमान जीवन से सम्बन्धित होती हैं। इसलिए बालकों की शिक्षा में उसके भविष्य की अपेक्षा वर्तमान को अधिक महत्व देना चाहिए।

3- **शिक्षा एक सामाजिक प्रक्रिया है-** डीवी के अनुसार शिक्षा एक सामाजिक प्रक्रिया है, क्योंकि बालक की शिक्षा की उचित व्यवस्था सामाजिक वातावरण में ही की जा सकती है। बालक अपनी सभ्यता और संस्कृति की शिक्षा समाज में रहकर ही प्राप्त करता है। उसकी शक्तियों का विकास एवं चरित्र का निर्माण भी सामाजिक वातावरण में ही होता है।

4- **शिक्षा विकास है-** व्यक्ति अपने जीवन में विभिन्न प्रकार की क्रियाएं प्रतिक्रियाएं एवं अनुभवों का निर्माण करता रहता है यही क्रियाएं एवं अनुभव व्यक्ति का विकास करती है। इसलिए डीवी ने कहा है कि बालक का विकास ही शिक्षा है। उसके अनुसार शिक्षा बालक की शक्तियों एवं क्रियाओं का मार्ग दर्शन करते हुए उचित विकास की ओर ले जाती है। इसलिए शिक्षा विकास है।

5- **शिक्षा मार्ग-दर्शन है –** डीवी के अनुसार बालक के कार्यों में मार्ग दर्शन करना ही शिक्षा है। बालकों क अन्तर्निहित शक्तियों योग्यताओं, रूचियों का इस प्रकार मार्ग दर्शन करना चाहिए जिससे बालकों के आदर्श व्यक्तित्व का निर्माण हो सके। इस प्रकार शिक्षा मार्ग-दर्शन है। शिक्षा की परिभाषा करते हुए डीवी ने कहा है कि –'शिक्षा उन सब शक्तियों के विकास का नाम है जिसके द्वारा मनुष्य में अपने वातावरण पर नियन्त्रण रखने तथा अपनी समस्त शक्तियों के विकास का सामर्थ्य उत्पन्न हो।

6.3.1.2 शिक्षा के उद्देश्य -

डीवी का विचार है कि शिक्षा के उद्देश्य नहीं होते हैं। उद्देश्य केवल व्यक्तियों के होते हैं, और व्यक्तियों के उद्देश्य बहुत अधिक भिन्न होते, क्योंकि उनकी ह्रचियों एवं योग्यताओं में भिन्नता होती है। किस बालक की शक्तियाँ और रूचियाँ क्या होगी तथा वे किस ओर विकसित होगी, यह पहले से नहीं कहा जा सकता इसलिए शिक्षा के उद्देश्य भी पहले से निश्चित नहीं किये जा सकते बल्कि यह तो वर्तमान आवश्यकताओं के आधार पर निश्चित होना चाहिए। इस दृष्टि से डीवी ने शिक्षा के निम्नलिखित उद्देश्य बताये हैं-

1- **तात्कालिक उद्देश्य –** प्रयोजनवादी होने के कारण डीवी किसी पूर्व निर्धारित उद्देश्य को नहीं मानते। वे कहते हैं कि 'शिक्षा का तात्कालिक उद्देश्य हमेशा होगा और जहाँ तक क्रिया शिक्षा प्रद होगी, वहाँ तक वह उस लक्ष्य को प्राप्त करेगी।'

2- **गतिशील एवं अनुकूलन योग्य मन का निर्माण करना–**डीवी के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य 'एक गतिशील अनुकूलन योग्य मन का विकास करना है, जो सभी स्थितियों में साधन सम्पन्न तथा साहस युक्त हो, ऐसा मन जिसमें अज्ञात भविष्य में मूल्यों के निर्माण करने की शक्ति हो।' इस उद्देश्य के लिए डीवी का विचार था कि हमें पूर्व निर्धारित मूल्यों या उद्देश्य का विरोध करना

चाहिए, क्योंकि मूल्य और आदर्श व्यक्ति के अनुभवों से बनते हैं। इसलिए डीवी शिक्षा के द्वारा ऐसे मन का निर्माण करना चाहते हैं, जो नये मूल्यों एवं आदर्शों का निर्माण कर सके।

3- **अनुभवों का पुनर्निर्माण** — व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए कोई न कोई कार्य अवश्य करता है, इस कार्य से वह कुछ ज्ञान प्राप्त करता है, जिसके द्वारा वह अपने पूर्व अनुभवों में परिवर्तन तथा नये अनुभव का निर्माण करता है। अनुभवों के निर्माण एवं पुनर्निर्माण की प्रक्रिया चलती रहती है। डीवी ने इसे ही अर्थात् अनुभवों के पुनर्निर्माण को शिक्षा एवं शिक्षा का उद्देश्य बताया है और कहा है कि 'शिक्षा अनुभवों के निरन्तर पुनर्निर्माण एवं पुनर्सगङ्गन की एक प्रक्रिया है।

4- **वातावरण के साथ समायोजन** — डीवी के अनुसार 'शिक्षा की प्रक्रिया समायोजन की एक सतत् प्रक्रिया है, जिसका प्रत्येक अवस्था में उद्देश्य होता है-विकास को क्षमता प्रदान करना।' इसलिए उसने शिक्षा का उद्देश्य वातावरण के साथ समायोजन करना माना है।

5- **सामाजिक कुशलता** — डीवी के अनुसार शिक्षा का एक अन्य महत्वपूर्ण उद्देश्य ऐसा सामाजिक वातावरण तैयार करना है, जिससे बालक समाज के सभी कार्यों में आवश्यकतानुसार भाग ले सके, और सामाजिक कुशलता प्राप्त कर सके। सामाजिक कुशलता के द्वारा ही बालक के व्यक्तित्व का विकास होता है। इसलिए शिक्षा का यह उद्देश्य होना चाहिए कि वह व्यक्ति को सामाजिक ह्रप से कुशल बनाये। डीवी ने सामाजिक, कुशलता को बड़े व्यापक ह्रप मे प्रस्तुत किया। उसने इसके अन्तर्गत सात प्रकार की क्षमताओं एवं योग्यताओं की अपेक्षा की है- (1) उत्तम स्वास्थ्य (2) समाज संचालन के नियमों का पूर्व ज्ञान (3) योग्य गृहस्थ (4) व्यावसायिक योग्यता (5) आदर्श नागरिकता (6) अवकाश काल के सदुपयोग की योग्यता (7) नैतिकता एवं चरित्र।

6.3.1.3 पाठ्यक्रम -

डीवी ने प्रचलित पाठ्यक्रम की आलोचना करते हुए कहा कि इससे शिक्षा वास्तविक जीवन से दूर होती जा रही है। डीवी ने पाठ्यक्रम को व्यक्ति एवं समाज की आवश्यकताओं से सम्बद्ध करने पर बल किया और पाठ्यक्रम निर्माण के लिए निम्नलिखित सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया-

1- **उपयोगिता का सिद्धान्त** — डीवी का कथन है कि 'मानव की आधारभूत सामान्य समस्याएं जैसे - भोजन, आवास, वस्त्र, घर की सजावट और उत्पादन, विनिमय तथा उपभोग सम्बन्धी होती हैं।' जीवन का उद्देश्य इन्हीं समस्याओं का समाधान करना होता है, इसलिए पाठ्यक्रम इस प्रकार होना चाहिए, जो इनसे सम्बन्धित कार्य करने के लिए प्रेरित करें। डीवी का विचार है कि पाठ्यक्रम व्यक्ति एवं समाज की उपयोगिता के अनुसार होना चाहिए, ताकि व्यक्ति के जीवन की वास्तविक समस्याओं का समाधान हो सके।

2- **रूचि का सिद्धान्त** — डीवी के अनुसार पाठ्यक्रम का निर्माण बालक की रूचियों के अनुसार करना चाहिए। उसने बालकों की चार प्रकार की रूचियाँ बताई हैं-बातचीत करने की रूचि, खोज की रूचि रचना करने की रूचि तथा कलात्मक अभिव्यक्ति की रूचि। इन रूचियों के आधार पर कार्य करने से बालक का विकास होता है। इसीलिए डीवी ने प्रारम्भिक कक्षाओं के पाठ्यक्रम को

इन्हीं पर आधारित करने को कहा है। अतः इनके पाठ्यक्रम में भाषा, गणित, विज्ञान, भूगोल, इतिहास, काष्ठकला, सिलाई, चित्रकला, संगीत आदि का समावेश होना चाहिए।

3- **सामाजिक अनुभव का सिद्धान्त** – डीवी के अनुसार पाठ्यक्रम बालक के सामाजिक जीवन तथा सामाजिक क्रियाओं पर आधारित होना चाहिए, अर्थात पाठ्यक्रम में ऐसे विषय होने चाहिए जो बालकों को सामाजिक अनुभव कराने में सहायक हो, क्योंकि बालक सामाजिक प्राणी है, वह समाज में जन्म लेता है और समाज में ही उसका पालन पोषण होता है।

4- **क्रियाशीलता का सिद्धान्त** – डीवी पुस्तकों से प्राप्त अव्यावहारिक एवं निष्क्रिय ज्ञान के विरोधी थे, इसीलिए उन्होंने क्रियाशीलता पर बल दिया। इस सिद्धान्त के अनुसार पाठ्यक्रम में उन क्रियाओं का समावेश किया जाय, जो बालक को अधिक से अधिक क्रियाशील रख सके। डीवी ने लिखा है कि-'यहाँ अब समस्या यह है कि बालक के लिए व्यवसाय, अभिव्यक्ति, वार्तालाप, रचना, और प्रयोग सम्बन्धी क्रियाओं को प्रर्याप्त मात्रा में उपलब्ध कराया जाय, जिससे उसकी नैतिक तथा बौद्धिक वैयक्तिकता का हनन न हो।'

5- **सहसम्बन्ध का सिद्धान्त-** डीवी का विचार है कि पाठ्यक्रम के विषयों का अलग-अलग ज्ञान नहीं प्रदान करना चाहिए। बल्कि सभी विषयों को सम्बन्धित करके एकीकृत रूप में पढ़ाया जाना चाहिए। इस दृष्टि से पाठ्यक्रम में जिन विषयों का चयन किया जाय, उनमें आपस में सम्बन्ध होना चाहिए।

6- **बाल केन्द्रित पाठ्यक्रम** – डीवी के अनुसार पाठ्यक्रम का संगङ्गन बालक को केन्द्र मानकर करना चाहिए, अर्थात् पाठ्यक्रम का संगठन बालकों की आयु, योग्यता, शक्ति, रूचि एवं आवश्यकता को ध्यान में रखकर करना चाहिए। इससे बालक उन विषयों को शीघ्रता एवं सरलता से सीख सकेंगे।

7- **लचीलेपन का सिद्धान्त** – डीवी का कहना है कि वैयक्तिक भिन्नता के कारण प्रत्येक बालक की रूचियों एवं आवश्यकताओं में भिन्नता होती है। इसलिए पाठ्यक्रम का संगठन इस प्रकार हो जिससे सभी को अपनी व्यक्तिगत रूचि, योग्यता और आवश्यकता के अनुसार ज्ञानार्जन का अवसर मिले । डीवी ने कहा है कि परिस्थिति के अनुसार पाठ्यक्रम में परिवर्तन लाकर इसे लचीला बनाया जाना चाहिए, उसमें किसी प्रकार की दृढ़ता, रूढ़िवादिता एंव अपरिवर्तनशीलता नहीं होनी चाहिए।

6.3.1.4 शिक्षण विधि -

डीवी ने अपनी पुस्तक 'हाऊ वी थिंक (How we think) एवं 'इन्ट्रेस्ट एण्ड एफर्ट इन एजूकेशन' (Interest and Effort in Education) में शिक्षण विधि के विषय में लिखा है कि 'वही शिक्षण विधि उपयोगी है, जिसमें बालक सक्रिय रहे, स्वयं अनुभव करें, स्वयं सीखे और ज्ञान को सही अर्थ में प्राप्त करे।' इन्ही बातों को ध्यान मे रखकर डीवी ने निम्नलिखित शिक्षण विधि का समर्थन किया

है-

1- **क्रिया द्वारा सीखना –** डीवी ने क्रिया द्वारा सीखने की विधि का प्रतिपादन करते हुए कहा है कि शिक्षण-विधि ऐसी हो, जो बालक के जीवन, क्रिया एवं पाठ्य विषयों में सम्बन्ध स्थापित करे। सम्बन्ध स्थापित करने के लिए क्रियाओं को केन्द्र बनाकर शिक्षा देना आवश्यक है। सभी पाठ्यविषयों को क्रियाओं द्वारा इस प्रकार सम्बन्धित कर देना चाहिए कि बालक क्रियाओं द्वारा ही समस्त ज्ञान प्राप्त कर सके।

2- **स्वयं अनुभव द्वारा सीखना –** डीवी का विचार है बालकों को स्वयं अनुभव द्वारा शिक्षा देनी चाहिए। बालकों का पाठ्यक्रम पहले से निश्चित नही होना चाहिए। बल्कि उन्हें क्रियाओं का चुनाव करने के लिए स्वतन्त्र कर देना चाहिए। बालकों पर शिक्षक का किसी प्रकार का दबाव एवं नियन्त्रण नहीं होना चाहिए। इससे बालक तथ्यों का स्वयं अनुभव करेगा और ज्ञान प्राप्त करेगा।

3- **प्रयोग विधि –** डीवी के मतानुसार किसी भी वस्तु, तथ्य एवं विचार को तब तक नहीं माना जाता, जब तक वह प्रयोग द्वारा सिद्ध नहीं हो जाता। इसी प्रकार यदि बालकों को शिक्षा प्रदान करना है, तो प्रयोग द्वारा उसकी सत्यता का परीक्षण करना आवश्यक है। इस प्रकार डीवी ने प्रयोग विधि का भी समर्थन किया है।

4- **सहसम्बन्ध विधि** – डीवी का कहना है कि बालकों को सहसम्बन्ध विधि से शिक्षा देनी चाहिए क्योंकि विभिन्न विषयों का ज्ञान अलग-अलग न देकर समन्वित रूप में देना अच्छा होता है।

उपरोक्त सभी विधियों का समन्वय डीवी द्वारा प्रस्तावित और किलपैट्रिक द्वारा व्यवस्थित योजनाविधि में किया गया है।

6.3.1.5 अनुशासन -

डीवी ने दण्डात्मक अनुसासन का विरोध तथा सामाजिक अनुशासन का समर्थन किया। उसने कहा कि अनुशासन सामाजिक जीवन के आधार पर उत्पन्न होता है। डीवी ने सामूहिक एवं सहकारी जीवन' का सिद्धान्त प्रस्तुत किया और कहा कि 'कार्य को करने से कुछ परिणाम निकलते हैं। यदि इन कार्यों को सामाजिक एवं सहकारी ढंग से किया जाय तो अपने ढंग का अनुशासन पैदा होता है।' इससे स्पष्ट है कि स्वतन्त्र रूप से कार्य करने पर स्वाभाविक अनुशासन उत्पन्न होता है। इसलिए बालकों को स्वतन्त्र एवं सामूहिक रूप से क्रिया करने का अवसर देकर स्वाभाविक अनुशासन उत्पन्न कराना चाहिए, ताकि उनमें नागरिकता के गुण पैदा हो, चरित्र का निर्माण हो और नैतिक गुणों का विकास हो।

डीवी के अनुसार अनुशासन एक प्रकार का आन्तरिक विकास है। डीवी का कहना है कि यदि विद्यालय का सम्पूर्ण कार्य बालकों की स्वाभाविक रूचि एवं प्रवृत्ति के अनुसार हो तो अनुशासन की सभ्यता ही नहीं उत्पन्न होगी। इससे अनुशासन की भावना उनमें स्वतः आ जायेगी। इसलिए शिक्षक को चाहिए कि वह ऐसा वातावरण प्रस्तुत करे जिससे बालक स्वतन्त्रता का अनुभव करे और अपनी रूचि के अनुसार

उसे सामाजिक और सहकारी ढंग से कार्य करने का अवसर मिले।

6.3.1.6 शिक्षक -

शिक्षा के क्षेत्र में डीवी ने शिक्षक को महत्वूपर्ण स्थान प्रदान किया है। वह शिक्षक को समाज का सेवक मानता है। शिक्षक का कार्य विद्यालय में ऐसा सामाजिक वातावरण उत्पन्न करना है, जिससे बालक के सामाजिक व्यक्तित्व का विकास हो सके। उसका कार्य बालकों को उपदेश देना या आज्ञा देना नहीं है, बल्कि बालकों का पथ प्रदर्शन करना है। इसलिए डीवी ने कहा है कि शिक्षक को सक्रिय संयोजक, निरीक्षक और पथ-प्रर्दशक होना चाहिए। शिक्षक को चाहिए कि वह उनका सक्रिय रूप से निरीक्षण करे और आवश्यकता पड़ने पर उनकी मदद करे।

सामाजिक दृष्टि से डीवी ने शिक्षक को ईश्वर का प्रतिनिधि माना है। उसने अपनी पुस्तक 'एजूकेशन आफ टुडे' (Education of Today) में लिखा है कि 'शिक्षक सदैव ईश्वर का पैगम्बर है। वह ईश्वर के सच्चे राज्य में प्रवेश कराने वाला है।'

6.3.1.7 मूल्यांकन -

डीवी के शैक्षिक विचारों का अध्ययन करने के पश्चात् यह कहा जा सकता है कि वह आधुनिक युग का महान विचारक, दार्शनिक एवं शिक्षाशास्त्री था। डीवी ने शिक्षा का नया अर्थ बताया कि शिक्षा स्वयं जीवन है। उसने शिक्षा के तात्कालिक उद्देश्य का समर्थन किया और स्वयं अनुभव को ज्ञान का आधार बताया। डीवी ने शिक्षण विधि में क्रियाशीलता पर बल दिया और कहा कि बालकों की शिक्षा वैयक्तिक भिन्नता को ध्यान में रखकर दी जानी चाहिए।

डीवी के विचारों का प्रभाव है कि अमेरिका तथा विश्व के प्रगतिशील देशों में शिक्षाशास्त्र पर नई-नई पुस्तकें लिखी जा रही हैं और शिक्षा की सस्याओं पर शोध हो रहा है डीवी के विचारों का प्रभाव इतना अधिक पड़ा कि आज शिक्षा भविष्य के जीवन की तैयारी नहीं बल्कि 'शिक्षा स्वयं जीवन है।' इसे स्वीकार किया जा रहा है।

बोध प्रश्न

टिप्पणी : क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिये गये स्थान का प्रयोग कीजिए।

ख) अपने उत्तर को इकाई के अन्त में दिये गये उत्तरों से मिलान कीजिए।

(1) डीवी ने शिक्षा के विषय में कितनी धारणाएं बतायी हैं

....

....

(2) डीवी ने शिक्षा के तीन उद्देश्य बताइये

(क)...

(ख)...

(ग)..

(3) डीवी ने पाठ्यक्रम को किससे सम्बद्ध करने पर बल दिया है।

....

....

(4) डीवी के अनुसार कौन सी शिक्षण विधि उपयोगी होती है?

....

....

(5) डीवी ने किस प्रकार के अनुशासन पर बल दिया?

....

....

(6) डीवी के अनुसार शिक्षक कैसा होना चाहिए ?

....

....

6.4 माण्टेसरी - जीवन परिचय

डॉ0 मेरिया माण्टेसरी का जन्म सन् 1870 में इटली के रोम नगर में अत्यन्त सम्पन्न परिवार में हुआ था। मेरिया माण्टेसरी 24 वर्ष की अवस्था में रोम विश्वविद्यालय से चिकित्साशास्त्र में एम0डी0 (डाक्टर आफ मेडिसिन) की उपाधि प्राप्त करने वाली प्रथम महिला की उपाधि प्राप्त करने के पश्चात् माण्टेसरी रोम विश्वविद्यालय के चिकित्सा विभाग में सहायक चिकित्सक पद पर कार्य करने लगीं।

चिकित्सा जगत में आने पर माण्टेसरी ने अपना कार्य मन्द बुद्धि एवं विकलांग बालकों की चिकित्सा से प्रारम्भ किया। यहाँ पर उन्हें एक अनुभव हुआ कि विकलांगों और मन्द बुद्धि बालकों की मानसिक अयोग्यता का मूल कारण चिकित्सा का अभाव नहीं है, अपितु उचित शिक्षा व्यवस्था का अभाव है। उनका विचार था कि यदि, मन्द बुद्धि बालकों को उचित अवसर और शिक्षण विधि के साथ प्रशिक्षित किया जाय, तो वे सामान्य बुद्धि के बालकों के स्तर पर लाये जा सकते हैं।

जिस समय माण्टेसरी अपना प्रयोग कर रही थीं, उसी समय कुछ अन्य मानवशास्त्री भी मन्दबुद्धि एवं पिछड़े बालकों की समस्याओं का मनोवैज्ञानिक अध्ययन कर रहे थे। इनके नाम थे-एडवर्ड सेग्विन, डॉ0 इटार्ड तथा सर्गी। अपने अनुभवों तथा सोग्विन द्वारा लिखित 'पेडागाजिकल ट्रीटमेन्ट', सर्गी द्वारा लिखित 'साइन्टिफिक पेडागाजी' और डॉ0 इटार्ड द्वारा लिखित मन्द बुद्धि बालकों से सम्बन्धित साहित्य के आधार पर एक नई शिक्षण पद्धति का प्रतिपादन किया, जिसे माण्टेसरी शिक्षा पद्धति कहा गया। इटली सरकार ने माण्टेसरी की कुशलता एवं रूचि को देखकर उन्हें विकलांग बालकों के एक स्कूल की

निर्देशिका, अध्यक्षा नियुक्त किया। यहाँ पर उन्होंने अपने शिक्षण पद्धति का प्रयोग करके यह निष्कर्ष निकाला कि यदि विकलांग और मन्द बुद्धि बालकों को इस नई विधि से शिक्षा दी जाय तो वे भी सामान्य बालकों की भाँति शिक्षा प्राप्त कर सकते हैं।

सन् 1907 में इटली सरकार ने माण्टेसरी को बाल-गृह (Children house) नामक संस्था का अध्यक्ष नियुक्त कर दिया। यहीं पर माण्टेसरी ने यह निष्कर्ष निकाला कि 3 वर्ष का सामान्य बालक 6 वर्ष के मन्द बुद्धि बालक के बराबर होता है। यदि इस पद्धति का प्रयोग सामान्य बालकों के लिए किया जाय, तो वे अपने स्तर से आगे जा सकते हैं। अल्प समय में ही इस पद्धति को इतनी सफलता मिली कि वह सम्पूर्ण विश्व के लिए एक उदाहरण बन गयीं। अपनी शिक्षण विधि की सफलता के कारण विश्व के कोने-कोने में वह व्याख्यान देने के लिए आमन्त्रित की जाने लगी। सन् 1913 में माण्टेसरी की प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय व्याख्यानमाला तैयार हुई। सन् 1919 में लन्दन में इन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय प्रशिक्षण शिविर का उद्घाटन किया। सन् 1939 में वह भारत आयी और यहाँ कश्मीर, अहमदाबाद तथा पूना में प्रशिक्षण शिविर के संगठन में सराहनीय भूमिका निभायीं। यहाँ उन्होंने 10 वर्ष के अमूल्य समय का योगदान किया। यहाँ से स्वदेश जाकर सन् 1952 में इन्होंने हमेशा के लिए इस संसार से विदा ले लिया।

6.4.1 माण्टेसरी के शैक्षिक विचार -

डॉ0 मेरिया माण्टेसरी चिकित्सिका होते हुए भी एक शिक्षाशास्त्री के रूप में असाधारण ख्याति प्राप्ति की। वह अपने समकालीन विद्वानों के विचारों तथा स्वयं के प्रयोगों एवं अनुभवों के आधार पर शिक्षा के प्राचीन सिद्धान्तों को नया रूप देने में सफल हुई। माण्टेसरी पर रूसो, पेस्टालाजी, फ्रोबेल आदि विद्वानों का विशेष प्रभाव पड़ा। इसीलिए उन्हीं की तरह माण्टेसरी ने भी शिक्षा को विकास की प्रक्रिया माना है।

संक्षेप में माण्टेसरी के शिक्षा सम्बन्धी विचार इस प्रकार हैं-

6.4.1.1 शिक्षा का अर्थ -

साधारणतः लोग शिक्षा का अर्थ शिक्षण से लगाते हैं, जिससे एक शिक्षक अपने अर्जित ज्ञान को छात्रों को देने का प्रयास करता है और छात्र उसे उसी रूप में लेने हेतु बाध्य होता है। माण्टेसरी इस प्रक्रिया को शिक्षा नहीं मानती है, बल्कि इससे विपरित वह शिक्षा को उस सहयोग का रूप देना चाहती है, जो बच्चों के मनोवैज्ञानिक विकास में योगदान करता हो। यहाँ मनोवैज्ञानिक विकास का तात्पर्य बालकों के मानसिक स्तर, उसकी रूचि और अवस्था सम्बन्धी व्यापार से है। शिक्षा के सम्बन्ध में माण्टेसरी ने लिखा है कि 'बालकों के जीवन के सामान्य विकास के लिए दी जाने वाली सक्रिय सहायता को ही शिक्षा समझना चाहिए।'

माण्टेसरी के विचारों से स्पष्ट होता है कि शिक्षा द्वारा ही बालकों का शारीरिक मानसिक एवं सामाजिक विकास सम्भव है। ये गुण प्रत्येक प्राणी के लिए सामान्य है, इसलिए इसका विकास करने वाली प्रक्रिया ही शिक्षा कही जा सकती है।

6.4.1.2 शिक्षा का उद्देश्य -

माण्टेसरी ने शिक्षा को बाल विकास का साधन मानते हुए शिक्षा के निम्नलिखित उद्देश्य बताये

हैं-

1- **जन्मजात शाक्तियों का विकास –** माण्टेसरी के अनुसार प्रत्येक बालक में कुछ जन्मजात शक्तियाँ होती हैं। शिक्षा का उद्देश्य बालकों की जन्मजात शक्तियों का विकास करना है। माण्टेसरी ने अपनी पुस्तक 'दि डिस्कवरी आफ दि चाइल्ड' में कहा है कि 'शिक्षा का उद्देश्य बालक की अन्तर्निहित शक्तियों का विकास करना है।'

2- **समविकास का उद्देश्य –** माण्टेसरी ने शिक्षा का उद्देश्य बालक की शारीरिक, बौद्धिक, भावात्मक, सामाजिक, नैतिक एवं चरित्र हर प्रकार का विकास करना माना है।

3- **जीवनोपयोगी कुशलता का विकास-** माण्टेसरी शिक्षा द्वारा बालक का शारीरिक, बौद्धिक, भावात्मक, सामाजिक, नैतिक आदि का विकास इसलिए करना चाहती थी, ताकि, बालक अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके और कुशलता के साथ जीवन यापन कर सके। इससे वह अपना एवं समाज दोनों का कल्याण करने में समर्थ हो सकेगा।

4- **कर्मेन्द्रियों एवं ज्ञानेन्द्रियों का प्रशिक्षण –** माण्टेसरी के अनुसार उपुर्यक्त सभी उद्देश्यों की पूर्ति तभी हो सकती है, जब बालक की कर्मेन्द्रियाँ एवं ज्ञानेन्द्रियाँ ठीक प्रकार से कार्य करें। इस दृष्टि से शिक्षा का एक मुख्य उद्देश्य बालक की कर्मेन्द्रियों एवं ज्ञानेन्द्रियों का विकास करना है। इसी कारण माण्टेसरी ने अपनी शिक्षण विधि में इन्द्रिय प्रशिक्षण को महत्वपूर्ण माना है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि माण्टेसरी शिक्षा द्वारा बालक के अन्तर्निहित शक्तियों का विकास करना चाहती थी, इसीलिए उन्होंने लिखा है कि 'यदि किसी शैक्षिक कार्य को प्रभावशाली होना है, तो वह वही होगा, जो बालक की वैयक्तिकता के पूर्व विकास में सहायक होगा।''

6.4.1.3 पाठ्यक्रम

पाठ्यक्रम के विषय में माण्टेसरी ने कहा है कि –

1- पाठ्यक्रम बालक की नैसर्गिक योग्यताओं, रूचियों एवं आवश्यकताओं के अनुसार हो।

2- पाठ्यक्रम बालक की मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाला हो।

3- पाठ्यक्रम में वातावरण की प्रधानता हो्।

4- पाठ्यक्रम ऐसा हो, जिससे बालक को सम्पूर्ण जगत का ज्ञान प्राप्त हो।

5- बालकों पर किसी निश्चित पाठ्यक्रम का बन्धन न हो।

उपरोक्त बातों का ध्यान में रखकर माण्टेसरी ने अपनी शिक्षण-विधि में क्रियात्मक एवं रचनात्मक खेल, प्रकृति, निरीक्षण, विषयत्रयी [(3Rs.)- अर्थात् लिखना, पढ़ना, गणित], संगीत, नृत्य, चित्रकला, और कर्मेन्द्रियों एवं ज्ञानेन्द्रियों के विकास पर बल दिया है।

6.4.1.4 माण्टेसरी की शिक्षा-पद्धति -

माण्टेसरी एक व्यावहारिक शिक्षाशास्त्री थीं। उन्होंने जिस शिक्षा पद्धति का प्रतिपादन किया वह माण्टेसरी पद्धति के नाम से सुप्रसिद्ध है। माण्टेसरी की शिक्षा पद्धति को अच्छी प्रकार समझने के लिए

माण्टेसरी पद्धति के आधारभूत सिद्धान्त को समझना आवश्यक है।

शिक्षा पद्धति के आधारभूत सिद्धान्त-माण्टेसरी ने अपनी शिक्षापद्धति को कुछ सिद्धान्तों पर आधारित किया। वे इस प्रकार हैं-

1- **स्वाभाविक विकास का सिद्धान्त** – माण्टेसरी के अनुसार शिक्षा विकास की प्रक्रिया है, जो स्वाभाविक रूप से चलती है। इसलिए शिक्षा का कार्य बालक को विघ्न रहित वातावरण प्रदान करना है जिससे बालक स्वतः ही विकास की ओर अग्रसर हो जाय।

2- **स्वतन्त्रता का सिद्धान्त** – स्वतन्त्रता के अभाव में बालक की स्वाभाविक शक्तियों एवं रूचियों का विकास कुंठित हो जाता है, इसीलिए माण्टेसरी ने कहा है कि बालक को अपने विचारों, भावनाओं, संवेगों, रूचियों, योग्यताओं और क्षमताओं के अनुसार विकसित होने की पूर्ण स्वतन्त्रता मिलनी चाहिए। प्राकृतिक एवं स्वतन्त्र वातावरण में ही बालक में स्वावलम्बन, आत्म संयम, आत्म सम्मान, आत्म विश्वास और आत्म निर्भरता जैसे गुणों का विकास हो सकता है। बालक की स्वतन्त्रता में शिक्षक द्वारा किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप अवांछनीय है।

3- **वैयक्तिकता के विकास का सिद्धान्त** – वैयक्तिक भिन्नता के कारण प्रत्येक बालक अपनी बुद्धि, शक्ति, क्षमता, रूचि एवं आवश्यकता के अनुसार विकास करता है। इसलिए शिक्षक का कार्य है कि वह बालक की वैयक्तिक भिन्नताओं के अनुसार वातावरण प्रदान करे और बोलक को स्वाभाविक ढंग से विकसित होने के लिए छोड़ दे अर्थात सिक्षक को प्रत्येक बालक के विषय में अलग-अलग जानकारी रखनी चाहिए और इसी अनुसार उसके विकास में सहायता करनी चाहिए।

4- **खेल एवं क्रिया द्वारा शिक्षा का सिद्धान्त** – माण्टेसरी का विचार है कि बालक की खेल में स्वाभाविक रूचि होती है। इसलिए बालकों की शिक्षा खेल द्वारा होनी चाहिए। खेल से बालक क्रियाशील रहता है, स्वतन्त्रता का अनुभव करता है और आनन्द प्राप्त करता है। इसीलिए माण्टेसरी ने अपनी शिक्षा पद्धति में खेल को अत्यधिक महत्व दिया है। माण्टेसरी ने बालकों के खेल हेतु कुछ शैक्षिक यन्त्रों का निर्माण किया है, जिनसे खेलकर बालक वर्णमाला रेखागणित, गणित आदि विषयों का ज्ञान तो प्राप्त करते ही हैं, ज्ञानेन्द्रियों का प्रशिक्षण भी होता है।

5- **आत्म शिक्षा का सिद्धान्त** – माण्टेसरी का विचार है कि प्रत्येक बालक में स्वयं कार्य करने की क्षमता होती है। जब वह स्वयं कार्य करके बगैर शिक्षक की सहायता से ज्ञान प्राप्त करता है, तो वह अधिक स्थायी एवं लाभप्रद होता है। आत्मशिक्षा में बालक शिक्षक की बगैर सहायता के शिक्षाणोपकरण के साथ खेलते हुए और कार्य करते हुए स्वयं शिक्षा प्राप्त करता है। इसलिए माण्टेसरी का कहना है कि शिक्षक का बालक की क्रियाओं में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए।

6- **ज्ञानेन्द्रियों के प्रशिक्षण का सिद्धान्त** – माण्टेसरी पूर्व के विद्वानों, रूसो, पेस्टालाजी, हरबर्ट और फ्रोबेल के विचारों, से प्रभावित थीं और उन्हीं की भांति ज्ञानेन्द्रियों को 'ज्ञान का द्वार'

माना। माण्टेसरी ने अपनी शिक्षा पद्धति में इन्द्रियों के प्रशिक्षण पर बल दिया। माण्टेसरी के अनुसार 3 वर्ष से 7 वर्ष की आयु के बीच ज्ञानेन्द्रियाँ विशेष रूप से क्रियाशील रहती हैं इसलिए इस समय बालक की ज्ञानेन्द्रियों के प्रशिक्षण पर ध्यान देना चाहिए।

7- **मांसपेशियों के प्रशिक्षण का सिद्धान्त –** माण्टेसरी का विचार है कि हमारी समस्त शारीरिक एवं मानसिक क्रियाएं हमारी मांसपोशियों पर निर्भर करती हैं। इसलिए बालक की मांसपेशियों अथवा कर्मेन्द्रियों का उचित विकास होना चाहिए ताकि बालक उनका ठीक ढंग से उपयोग कर सके। बालकों का लिखना, पढ़ना बोलना, चलना, उठना, बैठना, दौड़ना आदि सभी मासपेशियों पर ही निर्भर होता है। इसीलिए माण्टेसरी विद्यालयों में विभिन्न प्रकार के शिक्षणोपरकरण से इसके अभ्यास की व्यवस्था की गयी है।

8- **सामाजिकता का सिद्धान्त –** सामाजिक प्राणी होने के कारण बालकों में सामाजिकता की भावना होना आवश्यक है। इसलिए माण्टेसरी ने सामाजिक प्रशिक्षण पर भी बल दिया। वह विद्यालय को समाज का लघुरूप मानती थी और कहती थीं कि बालकों में सामूहिकता की प्रकृति होती है, जिसके कारण वह अन्य बालकों के साथ मिल जुलकर खेलता और कार्य करता है, तथा विभिन्न प्रकार का ज्ञान प्राप्त करता है। उत्तरदायित्व की भावना का विकास करता है और अपने अन्दर सामाजिक गुणों का विकास करता है।

6.4.1.5 शिक्षण विधि -

माण्टेसरी की शिक्षण विधि को तीन भागों में बांटा जा सकता है-

1- कर्मेन्द्रियों की शिक्षा

2- ज्ञानेन्द्रियों की शिक्षा

3- भाषा एवं अन्य विषयों की शिक्षा

1- **कर्मेन्द्रियों की शिक्षा –** माण्टेसरी पद्धति के विद्यालय जिन्हें बच्चों का घर कहा जाता है, में 3 वर्ष से 7 वर्ष तक के बालक शिक्षा प्राप्त करते हैं। इन बालकों को सर्वप्रथम कर्मेन्द्रियों की शिक्षा दी जाती है। कर्मेन्द्रियों की शिक्षा के लिए विद्यालय का वातावरण ऐसा बना दिया जाता है। जिसमें बालक अपने जीवन से सम्बन्धित सभी दैनिक कार्य कर सके जैसे- हाथ-मुँह धोना, कपड़े उतारना, कपड़े साफ करना, फर्नीचर लगाना, अपने सामानों को सही स्थान पर सजाकर रखना, भोजन परोसना, वर्तन साफ करना आदि। इन कार्यों में बच्चों को आनन्द मिलता है और उनकी कर्मेन्द्रियों का विकास होता है तथा उन्हें प्रशिक्षण मिलता है।

ज्यों-ज्यों बालकों की कर्मेन्द्रियां विकसित होती जाती हैं उनमें व्यावहारिक कुशलता आती जाती है। ये कुशल एवं शिष्ट होते जाते हैं और अपने से छोटों और बड़ों के साथ व्यवहार करना सीख जाते हैं।

2- **ज्ञानेन्द्रियों की शिक्षा-** माण्टेसरी ने विभिन्न प्रयोगों के अधार पर यह निष्कर्ष निकाला कि बाल्यवस्था में ज्ञानेन्द्रियां ही शिक्षा का आधार होती है। इसलिए इनका प्रशिक्षण बालकों की शिक्षा के लिए अनिवार्य है। माण्टेसरी ने अपनी शिक्षण विधि में ज्ञानेन्द्रियों के प्रशिक्षण पर अत्यधिक बल दिया है। माण्टसरी ने कहा है कि एक समय में केवल एक ही इन्द्रिय का प्रशिक्षण हो। उन्होंने विभिन्न ज्ञानेन्द्रियों (सुनना, छूना, देखना, चखना और सूंघना) के लिए अलग-अलग प्रकार के शैक्षिक उपकरणों का सहारा लिया है, जिनमें से कुछ इस प्रकार हैं-

1- छिद्र वाले तख्ते- जिस पर भिन्न-भिन्न माप के छिद्र होते हैं। इन छिद्रों में बालक, गुटकों को बैठाने का प्रयास करते हैं।

2- लकड़ी के बेलनाकार टुकड़े – जो बालकों को आकार का ज्ञान कराते हैं।

3- आयताकार घन – विभिन्न आकारों वाली ईंट घन होते हैं, जिनसे बालक खेलते हैं और उन्हें सजाते हैं।

4- आयताकार टुकड़े – जो छोटे – बड़े होते हैं इनसे बालकों को ऊंचाई एवं लम्बाई का ज्ञान कराया जाता है।

5- लकड़ी के अक्षर – जिसे हाथ घुमाकर बालकों को अक्षर ज्ञान कराया जाता है।

6- रंगीन टिकियाँ – जो लकड़ी की बनी हुई विभिन्न बजनों में होती हैं। इनसे हल्कापन, भारीपन के साथ ही रंगों का ज्ञान कराया जाता है।

7- ज्यामितीय आकृति के टुकड़े – त्रिभुज, शंकु, प्रिज्म आदि के द्वारा विभिन्न प्रकार के आकार का ज्ञान बालकों को होता है।

8- चिकनी एवं खुरदुरी सतह की मेजें – जिनसे चिकने एवं खुरदुरे का ज्ञान हाथ घुमाकर कराया जाता है।

9- विभिन्न वस्तु एवं द्रवों से भरी बोतलें – जिनसे बालकों को स्वाद का ज्ञान कराया जाता है।

10- घंटियाँ बजाकर बेलनाकार ध्वनि बाक्स – जिनमें बालकों को मधुरता कोमलता, कठोरता आदि ध्वनियों का ज्ञान कराया जाता है।

3- **भाषा एवं अन्य विषयों की शिक्षा -** माण्टेसरी ने अपने विद्यालय में ज्ञानेन्द्रियों के विकास के साथ ही भाषा के विकास की भी योजना बनायी है। उनका विचार है कि शिक्षा के उपकरणों से खेलते-खेलते उनके हाथ सध जाते हैं और पेंसिल एवं कलम पकड़ना आसान हो जाता है। इसलिए बालक को पहले लिखना सिखाना चाहिए। उसके बाद पढ़ना। लिखते-लिखते बालक पढ़ना तो स्वयं सीख जाता है। लिखना सीखाने के लिए पहले बालकों को पेंसिल एवं कलम पकड़ना सिखाया जाता है उसके बाद अक्षरों का ज्ञान प्राप्त करने के लिए बालकों को लकड़ी के अक्षरों पर अंगुली रखवाया जाता है, ताकि वह अक्षरों की आकृति से परिचित हो जाय। उगलियाँ रखते समय बालक अक्षरों का उच्चारण भी करता रहता है। इस प्रकार वह अक्षर लिखने के साथ उच्चारण करना भी सीख जाता है।

माण्टेसरी विधि में गणित की शिक्षा का कार्य बड़े ही मनोवैज्ञानिक ढंग से कराया जाता है। इसके लिए संख्या सूचक छड़े, सीढ़ियाँ एवं गोलियाँ होती हैं। सीढ़ी इस प्रकार होती है कि उसे दस भाग किये जा सकते हैं। इन उपकरणों से बालक गिनती गिनता,जोड़ना एव घटाना आसानी से सीख जाते हैं।

कला की शिक्षा में बच्चे अपनी रूचि के अनुसार विभिन्न प्रकार की आकृतियाँ बनाते हैं और उसमें रंग भरते हैं। समय-समय पर बच्चों को हस्तकला की भी शिक्षा दी जाती है जिसमें वे घर, ग्राम एवं सड़कों आदि का आकार बनाना सीखते हैं।

बालक अपने विद्यालय की बागवानी और पशुपक्षियों के पालन द्वारा प्राकृतिक विज्ञान का ज्ञान प्राप्त करते हैं। इस प्रकार अपने विद्यालय में इन्हें अपने वातावरण तथा दैनिक जीवन की सम्पूर्ण आवश्यक वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त होता रहता है, साथ ही दूसरे विषयों के साथ सम्बन्ध की भी जानकारी हो जाती है।

6.4.1.6 मूल्यांकन -

माण्टेसरी के शैक्षिक विचारों में निम्नलिखित गुण दिखाई देते हैं-

1- माण्टेसरी शिक्षा पद्धति वैज्ञानिक होने के कारण अनुभव एवं निरीक्षण पर बल देती है।

2- उपकरणों द्वारा शिक्षा देने के कारण माण्टेसरी शिक्षण विधि बच्चों के लिए बहुत उपयुक्त है।

3- माण्टेसरी शिक्षा पद्धति में बालक के व्यक्तित्व के पूर्ण विकास पर बल दिया जाता है।

4- माण्टेसरी ने अपनी शिक्षा व्यवस्था में ज्ञानेन्द्रियों की शिक्षा पर अधिक बल दिया है।

5- माण्टेसरी ने आत्मशिक्षा पर बल दिया है।

6- माण्टेसरी शिक्षा व्यवस्था खेलविधि पर आधारित है।

7- माण्टेसरी वाह्य अनुशासन की अपेक्षा आत्म अनुशासन पर अधिक बल देती है।

माण्टेसरी के शिक्षा व्यवस्था की आलोचना निम्नलिखित आधार पर की जाती है।

1- माण्टेसरी शिक्षा पद्धति से बालकों के अन्दर सामाजिक गुणों का विकास नहीं हो पाता है।

2- माण्टेसरी शिक्षा पद्धति में शिक्षा प्राप्त करने में बहुत समय लगता है।

3- माण्टेसरी पद्धति अधिक खर्चीली होने के कारण लागू नहीं हो पाती है।

4- माण्टेसरी पद्धति तीव्र बुद्धि बालकों के लिए लाभकारी नहीं होता।

5- माण्टेसरी शिक्षा पद्धति वैज्ञानिक अधिक है, मनोवैज्ञानिक कम।

उपर्युक्त दोषों के बावजूद माण्टेसरी के योगदान को शिक्षा जगत भुला नहीं सकता। पूर्व माध्यमिक शिक्षा के बालकों हेतु एक वैज्ञानिक शिक्षण विधि का प्रतिपादन करके मेरिया माण्टेसरी ने शिक्षा जगत का भला किया है।

बोध प्रश्न

टिप्पणी : क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिये गये स्थान का प्रयोग कीजिए।

ख) अपने उत्तर को इकाई के अन्त में दिये गये उत्तरों से मिलान कीजिए।

(7) माण्टेसरी ने शिक्षा को क्या माना है।

....

....

(8) माण्टेसरी ने अपने शिक्षणविधि में किसे महत्वपूर्ण माना है।

....

....

(9) माण्टेसरी शिक्षा पद्धति के तीन आधारभूत सिद्धान्त बताइये?

(क) ....

(ख) ....

(ग) ....

(10) माण्टेसरी पद्धति के विद्यालय में कितने वर्ष के बालक शिक्षा प्राप्त करते हैं।

....

....

6.5 फ्रेडरिक फ्रोबेल - जीवन परिचय

फ्रेडरिक विलियम अगस्त फ्रोबेल का जन्म जर्मनी के ओबेरवेस बाक नामक एक छोटे से गाँव में हुआ था। बचपन में ही उसकी माँ का देहान्त हो गया तथा उसके पिता ने दूसरी शादी कर ली और फ्रोबेल के पालन-पोषण में कोई रूचि नहीं ली। जब फ्रोबेल को अपने पिता तथा विमाता से कोई प्यार न मिला तो वह दुखी होकर जंगलों में घूमने लगा। इससे उसके हृदय में प्रकृति के प्रति अनुराग उत्पन्न हो गया। जब फ्रोबेल 10 वर्ष का हुआ तो उसके मामा ने उसकी दयनीय स्थिति देखकर उसे विद्यालय में भेजा, परन्तु उसका पढ़ाई में मन नहीं लगा। 15 वर्ष की आयु में उसके मामा ने उसे जीविको पार्जन हेतु एक बन रक्षक के यहाँ भेज दिया, वहाँ भी उसका मन नहीं लगा। लेकिन यहाँ पर फ्रोबेल ने प्रकृति का अच्छा अध्ययन किया और इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि प्रकृति के नियमों में एकता है। 18 वर्ष की आयु मे फ्रोबेल को जैना विश्वविद्यालय भेजा गया, किन्तु धनाभाव के कारण उसे वह विश्वविद्यालय भी छोड़ना पड़ा। इसके बाद उसने फ्रेंकफोर्ट में ग्रूनर द्वारा संचालित एक स्कूल में शिक्षण कार्य किया। अपने अनुभवों से फ्रोबेल इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि बालकों को रचनात्मक एवं कियात्मक अभिव्यक्ति का अवसर दिया जाना चाहिए। सन् 1808 में वह पेस्टालाजी द्वारा स्थापित स्कूल 'वरडन' गया, जहाँ उसने अध्ययन-अध्यापन का कार्य किया। सन् 1816 में फ्रोबेल ने कीलहाउ में एक स्कूल खोला, लेकिन आर्थिक कठिनाइयों के

कारण उसे बन्द कर देना पड़ा।

सन् 1826 में फ्रोबेल ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'मनुष्य की शिक्षा' (Education of Man) प्रकाशित की, तथा अपने विचारों को क्रियान्वित करने के लिए 'किण्डर गार्टन' नाम से ब्लैकेन वर्ग में एक स्कूल खोला जिसको उसने बालक उद्यान बनाया और खिलौनों उपकरणों आदि के द्वारा बालकों को शिक्षा प्रदान करना आरम्भ किया। इस स्कूल को आश्चर्य जनक सफलता मिली, फलस्वरूप विभिन्न स्थानों पर किण्डर गार्टन स्कूल खुल गये। सन् 1851 में सरकार ने फ्रोबेल को क्रान्तिकारी मानकर सभी किण्डर गार्टन स्कूलों को बन्द कर दिया। इससे फ्रोबेल को इतना कष्ट हुआ कि सन् 1853 में उसका स्वर्गवास हो गया।

6.5.1 फ्रोबेल के शैक्षिक विचार -

छोटे बालकों को शिक्षा देने के लिए नई शिक्षण विधि का प्रतिपादन सर्वप्रथम फ्रोबेल ने किया। फ्रोबेल का मानना था कि बालकों के अन्दर विभिन्न सदगुण होते हैं। हमें उन सद्गुणों का विकास करना चाहिए ताकि वह चरित्रवान बनकर राष्ट्र के कार्यों में सफलतापूर्वक भाग ले सके।

फ्रोबेल का विश्वास था कि जैसे एक बीज में सम्पूर्ण वृक्ष छिपा रहता है, उसी प्रकार प्रत्येक बालक में एक पूर्ण व्यक्ति छिपा रहता है अर्थात बालक में अपने पूर्व विकास की सम्भावनायें निहित होती हैं। इसलिए शिक्षा का यह दायित्व है कि बालक को ऐसा स्वाभाविक वातावरण प्रदान करे, जिससे बालक अपनी आन्तरिक शक्तियों का पूर्ण विकास स्वयं कर सके। फ्रोबेल का कहना है कि जिस प्रकार उपयुक्त वातावरण मिलने पर एक बीज बढ़कर पेड़ बन जाता है, उसी प्रकार उपयुक्त वातावरण मिलने पर बालक भी पूर्ण व्यक्ति बन जाता है।

फ्रोबेल ने बालक को पौधा, स्कूल को बाग तथा शिक्षक को माली की संज्ञा देते हुए कहा है कि विद्यालय एक बाग है, जिसमें बालक रूपी पौधा शिक्षक ह्रपी माली की देखरेख में अपने आन्तरिक नियमों के अनुसार स्वाभाविक रूप से विकसित होता रहता है। माली की भाँति शिक्षक का कार्य अनुकूल वातावरण प्रस्तुत करना है, जिससे बालक का स्वाभाविक विकास हो सके।

6.5.1.1 शिक्षा का उद्देश्य -

फ्रोबेल का विचार है कि संसार की समस्त वस्तुओं में विभिन्नता होते हुए भी एकता निहित है। ये सभी वस्तुएं अपने आन्तरिक नियमों के अनुसार विकसित होती हुई उस एकता (ईश्वर) की ओर जा रही है। अतः शिक्षा द्वारा व्यक्ति को इस योग्य बनाया जाय कि वह इस विभिन्नता में एकता का दर्शन कर सके। फ्रोबेल का यह भी विचार है कि बालक की शिक्षा में किसी प्रकार का हस्तक्षेप न करके उसके स्वाभाविक विकास हेतु पूर्ण अवसर देना चाहिए, ताकि अपने आपको, प्रकृति को तथा ईश्वरीय शक्ति को पहचान सके।

संक्षेप में फ्रोबेल के अनुसार शिक्षा के निम्नलिखित उद्देश्य होने चाहिये-

1- बालक के व्यक्तित्व का पूर्ण विकास करना।

2- बालक का वातावरण एवं प्रकृति से एकीकरण स्थापित करना।

3- बालक के उत्तम चरित्र का निर्माण करना।

4- बालक का आध्यात्मिक विकास करना।

5- बालकों को उनमें निहित दैवीय शक्ति का आभास कराना।

6.5.1.2 पाठ्यक्रम -

फ्रोबेल ने पाठ्यक्रम निर्माण के कुछ सिद्धान्त बताये हैं जैसे-

1- पाठ्यक्रम बालक की आवश्यकताओं के अनुसार होनी चाहिए।

2- पाठ्यक्रम के विषयों में परस्पर एकता स्थापित होनी चाहिए।

3- पाठ्यक्रम क्रिया पर आधारित होनी चाहिए।

4- पाठ्यक्रम में प्रकृति को महत्वपूर्ण स्थान मिलना चाहिए।

5- पाठ्यक्रम में धार्मिक विचारों को भी स्थान मिलना चाहिए।

उपर्युक्त सिद्धान्तों को ध्यान में रखकर फ्रोबेल ने पाठ्यक्रम में प्रकृति अध्ययन, धार्मिक निर्देशन, हस्त व्यवसाय, गणित, भाषा, एवं कला आदि विषयों को प्रमुख रूप से रखा। उसने इस बात पर बल दिया कि पाठ्यक्रम के सभी विषयों में एकता का सम्बन्ध अवश्य होना चाहिए। क्योंकि यदि पाठ्यक्रम के विषयों में एकता का सम्बन्ध नहीं होगा, तो शिक्षा के उद्देश्य को प्राप्त नहीं किया जा सकता।

6.5.1.3 शिक्षण विधि -

फ्रोबेल ने अपनी शिक्षण-विधि को निम्नलिखित सिद्धान्तों पर आधारित किया है-

1- **आत्मक्रिया का सिद्धान्त** –फ्रोबेल बालक को व्यक्तित्व का विकास करना चाहते थे, इसलिए उन्होंने आत्म क्रिया के सिद्धान्त पर बल दिया। आत्म क्रिया से फ्रोबेल का तात्पर्य उस क्रिया से था, जिसे बालक अपने आप तथा अपनी रुचि के अनकूल स्वतन्त्र वातावरण में करके सीखता है। फ्रोबेल ने बताया कि आत्मक्रिया द्वारा बालक परिस्थितियों पर विजय प्राप्त करता है और वातावरण को अपने अनुकूल बनाता है। इसलिए बालक की शिक्षा आत्म क्रिया द्वारा अर्थात् उसको करके सीखने देना चाहिए।

2- **खेल द्वारा शिक्षा का सिद्धान्त** –फ्रोबेल पहला शिक्षाशास्त्री था, जिसने खेल द्वारा शिक्षा देने की बात कही। इसका कारण उसने यह बताया कि बालक खेल में अधिक रूचि लेता है। फ्रोबेल के अनुसार बालक की आत्म क्रिया खेल द्वारा विकसित होती है। इसलिए बालक को खेल द्वारा सीखाया जाना चाहिए, ताकि बालक के व्यक्तित्व का विकास स्वाभाविक रूप से हो सके।

3- **स्वतन्त्रता का सिद्धान्त** – फ्रोबेल के अनुसार स्वतन्त्र रूप से कार्य करने से बालक का विकास होता है और हस्तक्षेप करने या बाधा डालने से उसका विकास अवरूद्ध हो जाता है। इसलिए उसने इस बात पर बल दिया कि शिक्षक को बालक के सीखने में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए, बल्कि वह केवल एक सक्रिय निरीक्षक के रूप में कार्य करे।

4- **सामाजिकता का सिद्धान्त** – व्यक्ति एक सामाजिक प्राणी है। समाज से अलग व्यक्ति का कोई अस्तित्व नहीं है। इसलिए उसे इसलिए फ्रोबेल ने सामूहिक खेलों एवं सामूहिक कार्यों पर बल दिया, जिससे बालकों में खेलते – खेलते परस्पर प्रेम, सहानुभूति, सामूहिक सहयोग आदि सामाजिक गुणों का किास सरलता पूर्वक हो सके।

6.5..1.4 अनुशासन -

फ्रोबेल ने दमनात्मक अनुशासन का विरोध किया और कहा कि आत्मानुशासन या स्वानुशासन ही सबसे अच्छा अनुशासन होता है। इसलिए बालकों को आत्म क्रिया करने की पूर्ण स्वतन्त्रता मिलनी चाहिए, जिससे बालक में स्वयं ही अनुशासन में रहने की आदत पड़ जाय। फ्रोबेल के अनुसार बालक के साथ प्रेम एवं सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार करना चाहिए तथा उसे आत्मक्रिया करने का पूर्ण अवसर प्रदान करना चाहिए।

6.5.1.5 शिक्षक -

फ्रोबेल के अनुसार शिक्षक को एक निर्देशक, मित्र एवं पथ प्रदर्शक होना चाहिए। उसने शिक्षक की तुलना उस माली से की है, जो उद्यान के पौधों के विकास में मदद करता है। जिस तरह शिक्षक के निर्देशन में बालक का विकास होता है। फ्रोबेल का विचार है कि शिक्षक को बालक के कार्यों में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए, बल्कि उसका कार्य सिर्फ बालक के कार्यों का निरीक्षण करना है और उसके विकास हेतु उपयुक्त वातावरण प्रदान करना है।

6.5.1.6 मूल्यांकन -

शिक्षा जगत में फ्रोबेल का महत्वपूर्ण स्थान है। बालक को पौधे से तुलना करके, फ्रोबेल ने बालक के स्वविकास की बात कही वह पहला व्यक्ति था, जिसने प्राथमिक स्कूलों के अमानवीय व्यवहार के विरूद्ध आवाज उठाई और एक नई शिक्षण विधि का प्रतिपादन किया। उसने आत्मक्रिया स्वतन्त्रता, सामाजिकता तथा खेल के माध्यम से स्कूलों की नीरसता को समाप्त किया। संसार में फ्रोबेल ही पहला व्यक्ति था जिसने अल्पायु बालकों की शिक्षा के लिए एक व्यवहारिक योजना प्रस्तुत किया। उसने शिक्षकों के लिए कहा कि वे बालक की आन्तरिक शक्तियों के विकास में किसी प्रकार का हस्तक्षेप न करें, बल्कि प्रेम एवं सहानुभूति पूर्वक व्यवहार करते हुए बालकों को पूरी स्वतन्त्रता दें। शिक्षा के क्षेत्र में इस प्रकार का परिवर्तन लाने के लिए फ्रोबेल को हमेशा याद किया जायेगा।

बोध प्रश्न

टिप्पणी : क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिये गये स्थान का प्रयोग कीजिए।

ख) अपने उत्तर को इकाई के अन्त में दिये गये उत्तर से मिलान कीजिए।

(11) फ्रोबेल ने बालक को किस रूप में संज्ञा दी है?

....

(12) फ्रोबेल के अनुसार पाठ्यक्रम किस प्रकार आधारित होना चाहिए।

....

....

(13) फ्रोबेल के अनुसार कौन सा अनुशासन सबसे अच्छा होता है?

....

....

(14) फ्रोबेल ने शिक्षक की तुलना किससे की है?

....

....

6.6 सारांश

इस इकाई में डीवी, माण्टेसरी एवं फ्रोबेल के शैक्षिक विचारों को स्पष्ट किया गया है। इनके शिक्षा सम्बन्धी विचारों से ज्ञात होता है कि डीवी ने शिक्षा को स्वयं जीवन कहा और शिक्षा के तात्कालिक उद्देश्य का सर्मथन किया। उन्होंने शिक्षण विधि में क्रिया पर बल दिया। वे शिक्षा व्यवस्था में शिक्षक को महत्वपूर्ण स्थान देकर, वैयक्तिक भिन्नता के आधार पर शिक्षा देने की बात करते हैं। माण्टेसरी ने शिक्षा को विकास की प्रक्रिया मानकर कर्मेन्द्रियों एवं ज्ञानेद्रियों के प्रशिक्षण को शिक्षा का उद्देश्य बताया। माण्टेसरी ने अपनी शिक्षा पद्धति में क्रियात्मक एवं रचनात्मक खेल पर बल दिया, इसीकारण बालक को मुख्य एवं शिक्षक को गौण स्थान दिया। कुछ आलोचकों ने उनकी शिक्षा पद्धति के कुछ दोष बताये हैं, लेकिन विभिन्न गुणों एवं विशेषताओं के कारण माण्टेसरी शिक्षा पद्धति दिन प्रतिदिन लोकप्रिय होती जा रही है। फ्रोबेल ने बालक के स्वविकास पर बल दिया और प्राथमिक शिक्षा के क्षेत्र में एक नई शिक्षण विधि का प्रतिपादन किया, जिसमें आत्मक्रिया, स्वतन्त्रता, सामाजिकता एवं खेल पर बल दिया। उसने स्वानुशासन का समर्थन किया और शिक्षकों के सम्बन्ध में कहा कि उन्हें बालकों का निर्देशक, मित्र एवं पथ प्रदर्शक होना चाहिए।

6.7 अभ्यास कार्य

1- डीवी के शैक्षिक विचारों का विश्लेषण कीजिए।

2- डीवी के शिक्षा के उद्देश्यों की विवेचना कीजिए।

3- डीवी के शिक्षण विधि की चर्चा कीजिए।

4- माण्टेसरी के शैक्षिक विचारों की विवेचना कीजिए।

5- माण्टेसरी के शिक्षा के उद्देश्यों की व्याख्या कीजिए।

6- माण्टेसरी शिक्षा पद्धति की विवेचना कीजिए।

7- फ्रोबेल के शैक्षिक विचारों की विवेचना कीजिए।

8- फ्रोबेल के शिक्षण विधि का विश्लेषण कीजिए।

6.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

1- पांच-शिक्षा अनुभवों का पुनर्निर्माण, शिक्षा स्वयं जीवन है, सामाजिक प्रक्रिया, शिक्षा विकास है, शिक्षा मार्ग दर्शन है।

2-(क) तात्कालिक उद्देश्य

(ख) अनुभवों का पुनर्निर्माण

(ग) सामाजिक कुशलता

3-व्यक्ति एवं समाज की आवश्यकताओं से

4-वही, जिसमें बालक सक्रिय रहे, स्वयं अनुभव करे, स्वयं सीखे।

5-सामाजिक अनुशासन

6-सक्रिय संयोजक, निरीक्षक एवं पथ प्रर्दशक

7-विकास की प्रक्रिया

8-इन्द्रिय प्रशिक्षण को

9-(क) स्वतन्त्रता का सिद्धान्त

(ख) खेल एंव क्रिया द्वारा शिक्षा का सिद्धान्त

(ग) ज्ञानेन्द्रियों के प्रशिक्षण का सिद्धान्त

10- 3 वर्ष से 7 वर्ष तक

11- पौधा

12- क्रिया पर

13- आत्मानुशासन या स्वनुशासन

14- माली से

इकाई - 7 स्वामी विवेकानन्द एवं श्री अरविन्द घोष

संरचना

7.1 प्रस्तावना

7.2 उद्देश्य

7.3 **स्वामी विवेकानन्द** – जीवन परिचय

7.3.1 विवेकानन्द का शिक्षा दर्शन

7.3.1.1 शिक्षा दर्शन के आधारभूत सिद्धान्त

7.3.1.2 शिक्षा का अर्थ

7.3.1.3 शिक्षा का उद्देश्य

7.3.1.4 पाठ्यक्रम

7.3.1.5 शिक्षण विधि

7.3.1.6 अनुशासन

7.3.1.7 शिक्षक

7.3.1.8 शिक्षा दर्शन का मूल्यांकन

7.4 **अरविन्द घोष** – जीवन परिचय

7.4.1 अरविन्द का शिक्षा दर्शन

7.4.1.1 शिक्षा दर्शन के आधारभूत तत्व

7.4.1.2 शिक्षा का अर्थ

7.4.1.3 शिक्षा का उद्देश्य

7.4.1.4 पाठ्यक्रम

7.4.1.5 शिक्षण विधि

7.4.1.6 अनुशासन

7.4.1.7 शिक्षक

7.4.1.8 शिक्षा दर्शन का मूल्यांकन

7.5 सारांश

7.6 अभ्यास कार्य

7.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

7.1 प्रस्तावना

देश की राजनीतिक, सांस्कृतिक एवं धार्मिक भावना के विकास में स्वामी विवेकानन्द का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उन्होंने देश की जनता को आलस्य एवं अकर्मण्यता के बजाय परिश्रम एवं कर्मण्य बनने की प्रेरणा दी और रूढ़िवाद, जातिवाद, वैषम्यवाद जैसी विचारधाराओं को समाज से उखाड़

फेंक देने का प्रयास किया। इसी प्रकार का कार्य महायोगी, कर्मयागी, सिद्ध पुरूष, बुद्धिजीवी, कल्पना के कवि भारतीय संस्कृति के उपासक श्री अरविन्द घोष का भी है । श्री अरविन्द घोष का व्यक्तित्व अत्यन्त विराट है। उन्होंने सम्पूर्ण मानव जाति को आध्यात्मिकता का संदेश दिया और मानवता का पाठ पढ़ाया। अरविन्द के विषय में पी0 टी0 राजू ने लिखा है कि 'भारत के सभी दार्शनिकों में अरविन्द ही एकमात्र ऐसे व्यक्ति हैं जो एक योगी तथा एक दार्शनिक दोनों रूपों में प्रसिद्ध हैं।'

शिक्षा के क्षेत्र में विवेकानन्द एवं अरविन्द घोष का योगदान अपूर्व है। पश्चिम के भौतिकवाद को भारत के अध्यात्मवाद से समन्वित कर स्वामी जी ने परतन्त्र भारतवासियों को उन्नति तथा स्वतंत्रता का मार्ग दिखाया है। शिक्षा के क्षेत्र में अरविन्द का जीता जागता योगदान है – पाण्डिचेरी में स्थित अरविन्द आश्रम, जिसे आज अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त है । इस इकाई में विवेकानन्द एवं अरविन्द का शिक्षा दर्शन अर्थात शिक्षा का अर्थ, उद्देश्य पाङ्यक्रम, शिक्षाविधि, अनुशासन एवं शिक्षक के विषय में वर्णन किया गया है।

7.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप इस योग्य हो जायेंगे कि –

- विवेकानन्द एवं अरविन्द के शिक्षा दर्शन की विवेचना कर सकेंगे।
- विवेकानन्द एवं अरविन्द के शिक्षा के अर्थ एवं उद्देश्य का विश्लेषण कर सकेंगे।
- विवेकानन्द एवं अरविन्द के शिक्षण विधि का विश्लेषण कर सकेंगे।
- विवेकानन्द एवं अरविन्द के अनुशासन का विश्लेषण कर सकेंगे।
- विवेकानन्द एवं अरविन्द के शिक्षक सम्बन्धी विचारों की विवेचना कर सकेंगे।

7.3 विवेकानन्द -जीवन परिचय

भारतवर्ष के अनमोल रत्नों में से एक स्वामी विवेकानन्द का जन्म 12 जनवरी सन 1863 को कलकत्ता में हुआ था। उनके बचपन का नाम नरेन्द्रनाथ दत्त था। उन्होंने कालेज स्तर तक की शिक्षा प्राप्त की। वे अत्यन्त प्रखर बुद्धि वाले तेजस्वी छात्र थे। उनका पारिवारिक वातावरण धार्मिक था, इसीलिए उन्हें बाल्यावस्था से ही धर्म, कर्म, पूजा-पाठ एवं धार्मिक ग्रन्थों में रूचि उत्पन्न हो गयी। पाँच वर्ष की अवस्था में स्कूल जाकर उन्होंने इतिहास एवं साहित्य के साथ साथ पाश्चात्य दर्शन का विस्तृत अध्ययन किया। इनके कालेज के प्रधानाचार्य मिस्टर हेस्टी उनकी प्रतिभा से इतने प्रभावित थे कि उन्होंने कहा कि मैने विश्व के विभिन्न देशों की यात्रायें की हैं किन्तु किशोरावस्था में ही इसके समान योग्य एवं महान क्षमताओं वाला युवक मुझे जर्मन विश्वविद्यालयों में भी नहीं मिला।' नरेन्द्र नाथ ने अपने जीवन काल में एक बार दक्षिणेश्वर की यात्रा की और वहाँ उनकी मुलाकात स्वामी रामकृष्ण परम हंस से हुई। उन्होंने स्वामी रामकृष्ण परम हंस से जो भी प्रश्न किये, उनके उत्तरों से नरेन्द्र नाथ को बहुत संतोष मिला। जब नरेन्द्र नाथ दूसरी बार अपने गुरू से मिलने गये तब उन्हें दिव्य शक्ति का अनुभव हुआ। स्वामी रामकृष्ण परमहंस के देहावसान के पश्चात नरेन्द्रनाथ ने उनकी शिक्षाओं का प्रसार किया। इसके लिए वे विभिन्न स्थानों पर गये। 31 मई 1893 को वे एक विश्व धर्म सम्मेलन में भाग लेने के लिए अमेरिका गये। वहाँ जाने से

पूर्व उन्होंने अपना नाम विवेकानन्द रख लिया। अमेरिका में विश्व धर्म सम्मेलन में उन्होंने जो भाषण दिया, उसका संसार के लोगों पर गहरा प्रभाव पड़ा। अमेरिका से वे इंग्लैण्ड गये और वहाँ से वे भारत आ गये। भारत वर्ष में वे अपने समस्त जीवन काल में संगठन एवं प्रचार कार्य में लगे रहे। उनकी मृत्यु 4 जुलाई 1902 में अल्पायु में हो गई ।

7.3.1 विवेकानन्द का शिक्षा-दर्शन –

स्वामी विवेकानन्द मैकाले द्वारा प्रतिपादित और उस समय प्रचलित अंग्रेजी शिक्षा व्यवस्था के विरोधी थे, क्योंकि इस शिक्षा का उद्देश्य सिर्फ बाबुओं की संख्या बढ़ाना था। वह ऐसी शिक्षा चाहते थे जिससे बालक का सर्वांगीण विकास हो सके। बालक की शिक्षा का उद्देश्य उसको आत्मनिर्भर बनाकर अपने पैरों पर खड़ा करना है। स्वामी विवेकानन्द ने प्रचलित शिक्षा को निषेधात्मक शिक्षा की संज्ञा देते हुए कहा है कि आप उस व्यक्ति को शिक्षित मानते हैं जिसने कुछ परीक्षाएं उत्तीर्ण कर ली हों तथा जो अच्छे भाषण दे सकता हो, पर वास्तविकता यह है कि जो शिक्षा जनसाधारण को जीवन संघर्ष के लिए तैयार नहीं करती, जो चरित्र निर्माण नहीं करती, जो समाज सेवा की भावना विकसित नहीं करती तथा जो शेर जैसा साहस पैदा नहीं कर सकती, ऐसी शिक्षा से क्या लाभ?

अतः स्वामीजी सैद्धान्तिक शिक्षा के पक्ष में नहीं थे। वे व्यावहारिक शिक्षा को व्यक्ति के लिए उपयोगी मानते थे। व्यक्ति की शिक्षा ही उसे भविष्य के लिए तैयार करती है, इसलिए शिक्षा में उन तत्वों का होना आवश्यक है, जो उसके भविष्य के लिए महत्वपूर्ण हो। स्वामी विवेकानन्द के शब्दों में 'तुमको कार्य के सभी क्षेत्रों में व्यावहारिक बनना पड़ेगा। सिद्धान्तों के ढेरों ने सम्पूर्ण देश का विनाश कर दिया है।' स्वामी जी शिक्षा द्वारा लौकिक एवं पारलौकिक दोनों जीवन के लिए तैयार करना चाहते हैं । लौकिक दृष्टि से शिक्षा के सम्बन्ध में उन्होंने कहा है कि 'हमें ऐसी शिक्षा चाहिए, जिससे चरित्र का गठन हो, मन का बल बढ़े, बुद्धि का विकास हो और व्यक्ति स्वावलम्बी बने । पारलौकिक दृष्टि से उन्होंने कहा है कि 'शिक्षा मनुष्य की अन्तर्निहित पूर्णता की अभिव्यक्ति है।'

7.3.1.1 शिक्षा दर्शन के आधारभूत सिद्धान्त –

स्वामी विवेकानन्द के शिक्षा दर्शन के आधारभूत सिद्धान्त निम्नलिखित हैं –

1. शिक्षा ऐसी हो जिससे बालक का शारीरिक, मानसिक एवं आत्मिक विकास हो सके।
2. शिक्षा ऐसी हो जिससे बालक के चरित्र का निर्माण हो, मन का विकास हो, बुद्धि विकसित हो तथा बालक आत्मनिर्भन बने।
3. बालक एवं बालिकाओं दोनों को समान शिक्षा देनी चाहिए।
4. धार्मिक शिक्षा, पुस्तकों द्वारा न देकर आचरण एवं संस्कारों द्वारा देनी चाहिए।
5. पाठ्यक्रम में लौकिक एवं पारलौकिक दोनों प्रकार के विषयों को स्थान देना चाहिए।
6. शिक्षा गुरू गृह में प्राप्त की जा सकती है।
7. शिक्षक एवं छात्र का सम्बन्ध अधिक से अधिक निकट का होना चाहिए।
8. सर्वसाधारण में शिक्षा का प्रचार एवं प्रसार किया जान चाहिये।
9. देश की आर्थिक प्रगति के लिए तकनीकी शिक्षा की व्यवस्था की जाय।

10. मानवीय एवं राष्ट्रीय शिक्षा परिवार से ही शुरू करनी चाहिए।

7.3.1.2 शिक्षा का अर्थ -

स्वामी विवेकानन्द के अनुसार मात्र सूचनाओं का संग्रह कर लेना ही शिक्षा नहीं है। बल्कि शिक्षा का अर्थ व्यक्ति का समग्र विकास करना है। व्यक्ति के विकास ने उसके शारीरिक, मानसिक, चारित्रिक एवं अन्तर्निहित गुणों का विकास करना है। उनके अनुसार 'यदि शिक्षा का अर्थ सूचनाओं से होता तो पुस्तकालय संसार के सर्वश्रेष्ठ संत होते तथा विश्वकोष ऋषि बन जाते । 'स्वामी विवेकानन्द के अनुसार 'शिक्षा उस सन्निहित पूर्णता का प्रकाश है जो मनुष्य में पहले से ही विद्यमान है। '

7.3.1.3 शिक्षा का उद्देश्य –

स्वामी विवेकानन्द के अनुसार शिक्षा के निम्नलिखित उद्देश्य होने चाहिए –

1. पूर्णत्व की प्राप्ति –

स्वामी जी के अनुसार शिक्षा का मुख्य उद्देश्य अन्तर्निहित पूर्णता को प्राप्त करना है। उनका विचार है कि सभी प्रकार के ज्ञान व्यक्ति के मन में पहले से ही उपस्थित रहता है, वह बाहर से नहीं आता, उसी अन्तर्निहित ज्ञान की खोज करना ही शिक्षा का उद्देश्य होता है। इसलिए शिक्षा को मनुष्य में अन्तर्निहित ज्ञान अथवा पूर्णत्व की अभिव्यक्ति करनी चाहिए।

2. शारीरिक एवं मानसिक विकास –

स्वामी जी के अनुसार शिक्षा का दूसरा उद्देश्य बालक का शारीरिक एवं मानसिक विकास करना है। उनके अनुसार हमें ऐसे बलिष्ठ लोगों की आवश्यकता है जिनकी मांस पेशियां लोहे के समान दृढ़ हो और स्नायु फौलाद की तरह कठोर । मानसिक विकास पर बल देते हुए उन्होंने कहा कि बुद्धि ही व्यक्ति की सबसे बड़ी विशेषता है,जिसे प्राप्त करके व्यक्ति अपने पैरों पर खड़ा हो सके।

3. धार्मिक विकास –

विवेकानन्द के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को इस बात से अवगत होना चाहिए कि उसके अन्दर ही सत्य एवं धर्म निहित है। इसके लिए उन्होंने मन एवं हृदय के प्रशिक्षण पर बल दिया और कहा कि शिक्षा ऐसी होनी चाहिए, जिसे प्राप्त करके व्यक्ति अपने जीवन को पवित्र बना सके और अपने अन्दर महान पुरूषों के जीवन आदर्शों को उत्पन्न कर सके।

4. चरित्र निर्माण -

विवेकानन्द ने शिक्षा का एक अन्य उद्देश्य चरित्र का निर्माण करना माना है। चरित्र निर्माण के लिए स्वामी जी ने ब्रह्मचर्य पालन पर बल दिया। उन्होनें बताया कि ब्रह्मचर्य के द्वारा व्यक्ति मन, वचन एवं कर्म से पवित्र बनेगा, उसकी इच्छा प्रबल होगी और उसमें बौद्धिक एवं आध्यात्मिक शक्तियाँ विकसित होंगी।

5. राष्ट्रीयता की भावना -

स्वामी जी देश भक्त थे। उनका हृदय देश प्रेम एवं राष्ट्रीयता से भरा था, इसीलिए उन्होंने शिक्षा का मुख्य उद्देश्य बालकों में राष्ट्रीयता की भावना का विकास करना माना है। उनका कहना है कि 'यदि शिक्षा देश प्रेम की प्रेरणा नहीं देती है तो उसको राष्ट्रीय शिक्षा नहीं कहा जा सकता। '

6. आत्म विश्वास श्रद्धा और आत्मत्याग की भावना -

स्वामी जी का मानना है कि जब तक बालकों में आत्म विश्वास, श्रद्धा और आत्मत्याग के भाव पैदा नहीं होगा तब तक न ही व्यक्ति का विकास होगा और न ही राष्ट्र का विकास होगा। इसलिए शिक्षा का एक अन्य महत्वपूर्ण उद्देश्य बालकों में आत्म विश्वास, श्रद्धा एवं आत्मत्याग की भावना का विकास होना चाहिए। आत्म विश्वास से ब्रह्म भावना का विकास होता है, श्रद्धा से ज्ञान की प्राप्ति होती है और आत्म त्याग से परोपकार एवं कल्याण की भावना का विकास होता है।

7.3.1.4 पाठ्यक्रम

स्वामी जी ने लौकिक समृद्धि को जीवन का लक्ष्य बताते हुए आध्यात्मिक विकास को परम लक्ष्य स्वीकार किया। इसीलिए उन्होंने बताया कि पाठ्यक्रम निर्माण के निम्नलिखित सिद्धान्त होने चाहिए -

1. पाठ्यक्रम ऐसा हो जिससे शारीरिक, बौद्धिक एवं आध्यात्मिक शक्ति का विकास हो सके।
2. पाठ्यक्रम ऐसा हो, जिससे किसी को रोजगार की शिक्षा मिल सके।
3. पाठ्यक्रम में विज्ञान की शिक्षा को भी स्थान दिया जान चाहिए।
4. पाठ्यक्रम में क्रियात्मक कार्यों को भी सम्मिलित किया जान चाहिए।
5. बालकों की आवश्यकता के अनुसार पाठ्यक्रम में परिवर्तन किया जान चाहिए।

संक्षेप में स्वामी जी ने पाड्ग्यक्रम के अन्तर्गत उन सभी विषयों के अध्ययन पर बल दिया जिनके अध्ययन से आध्यात्मिक विकास के साथ-साथ भौतिक विकास भी हो। स्वामी जी ने आध्यात्मिक विकास के लिए दर्शन, पुराण, धर्म, उपदेश, भजन, कीर्तन, श्रवण एवं साधु संगति और भौतिक विकास के लिए भाषा, विज्ञान, मनोविज्ञान, गृह विज्ञान, प्राविधिक विषय, कृषि, व्यावसायिक विषय, इतिहास, भूगोल कला, गणित, राजनीति, अर्थशास्त्र, खेलकूद, व्यायाम, समाज सेवा, राष्ट्र सेवा आदि विषयों को पाठ्यक्रम में सम्मिलित किया।

7.3.1.5 शिक्षण विधि –

स्वामी विवेकानन्द आत्मा को सर्वशक्तिमान मानते थे और आत्मा की प्राप्ति में ही अपना विश्वास रखते थे। उनके अनुसार एक व्यक्ति को आत्म की प्राप्ति भौतिक और आध्यात्मिक तत्वों के ज्ञान से होता है। भौतिक और आध्यात्मिक तत्वों के ज्ञान के लिए स्वामी जी ने अलग-अलग विधियों का प्रतिपादन किया है। इन्होंने अपने अनुभव से लोगों का परिचय कराते हुए यह स्पष्ट कहा कि भौतिक एवं आध्यात्म दोनों प्रकार के ज्ञान की प्राप्ति के लिए मन की एकाग्रता अति आवश्यक होती है। उनके अनुसार एकाग्रता ही वह साधन है जिसके द्वारा व्यक्ति अपनी समस्त शक्तियों का विकास कर सकता है। स्वामी जी ने स्वयं शिक्षक के रूप में ख्याति प्राप्त किया तथा देश विदेश प्रत्येक स्थान पर लोगों को वेदान्त की शिक्षा से अवगत कराते हुए ध्यान और योगविधियों का स्वयं प्रचार किया।

स्वामी जी ने शिक्षण विधि के क्षेत्र में निम्नलिखित शिक्षण विधियों को अपनाने पर बल दिया है।

1. चित्रवृत्तियों के निरोध के लिए योग विधि।
2. मन को एकाग्र करने हेतु केन्द्रीयकरण विधि।
3. शिक्षक के गुणों एवं आदर्शों को ग्रहण करन के लिए अनुकरण विधि।
4. ज्ञान प्राप्त करने के लिए व्याख्यान, विचार विमर्श, स्वानुभव, उपदेश एवं तर्क विधि।
5. छात्रों को उचित मार्ग की ओर अग्रसर करने हेतु व्यक्तिगत निर्देशन एवं परामर्श विधि।
6. स्वयं प्रयोग कर तथ्यों का ज्ञान प्राप्त करने के लिए प्रयोग विधि।

7.3.1.6 अनुशासन -

स्वामी विवेकानन्द शिक्षा व्यवस्था में अनुशासन को बहुत महत्व देते थे। उनके अनुसार अनुशासन का अर्थ केवल बाह्य व्यवस्था से ही नहीं बल्कि संयम एवं आत्म नियन्त्रण से है। अनुशासन के सम्बन्ध में स्वामीजी के विचार प्रकृतिवादी हैं। उनका कहना है कि बालक को स्वानुशासन से सीखना चाहिए। बालकों को किसी प्रकार का शारीरिक दण्ड नहीं देना चाहिए और उनपर अनावश्यक दबाव भी नहीं डालना चाहिए, बल्कि उन्हें सीखने के लिए पर्याप्त स्वतंत्रता देनी चाहिए और उन्हें सीखने के लिए सहानुभूति पूर्वक प्रेरित करना चाहिए।

7.3.1.7 शिक्षक –

स्वामी विवेकानन्द के अनुसार शिक्षक को विषय का पूर्ण ज्ञान हो, पद धर्म ग्रन्थों की मूल आत्मा का समझे तथा उसको व्यवहार में सम्मिलित करे। उनका कहना था कि शिक्षक को प्रेम तथा त्याग की भावना से प्रेरित होकर शिक्षण कार्य करना चाहिए किसी स्वार्थ की प्राप्ति या यश के लिए नहीं। शिक्षक को चाहिए कि वह अपने छात्रों के साथ प्रेम एवं सहानुभूति पूर्वक व्यवहार करे और उन्हें सीखने के लिए प्रेरित करे। उनके अनुसार सच्चा शिक्षक वही है जो तुरन्त अपने को हजारों व्यक्तियों में सम्मिलित कर ले अर्थात अपने सभी बालकों की समस्याओं को समझकर उनके मन में प्रवेश कर ले। शिक्षक के सम्बन्ध में स्वामी विवेकानन्द लिखते हैं कि 'शिक्षक एक दार्शनिक, मित्र तथा पथ प्रदर्शक है, जो बालक को अपने ढंग से आगे बढ़ने के लिए सहायता प्रदान करता है।-

7.3.1.8 शिक्षा-दर्शन का मूल्यांकन -

स्वामी विवेकानन्द के शिक्षा दर्शन में वस्तुतः हमें समन्वयवाद दिखाई देता है। उनके शिक्षा दर्शन में प्रकृतिवाद आदर्शवाद, प्रयोजनवाद एवं अन्य सभी मुख्य दार्शनिक विचारधाराओं की झलक मिलती है। उनके विचारों में भी प्राचीन तथा आधुनिक विचारों का समन्वय दिखाई देता है। स्वामी जी चिन्तन एवं क्रिया में विरोध नहीं मानते। अर्थात उन्होंने ज्ञान, कर्म एवं भक्ति के समन्वय पर बल दिया है। स्वामी विवेकानन्द के सम्बन्ध में पं0 जवाहर लाल नेहरू ने कहा है 'भारत के अतीत में अडिग आस्था रखते हुए और भारत की विरासत पर गर्व करते हुए भी विवेकानन्द का जीवन की समस्याओं के प्रति आधुनिक दृष्टिकोण था और वे भारत के अतीत तथा वर्तमान के बीच एक प्रकार के संयोजक थे।

बोध प्रश्न –

टिप्पणी (क) – अपने उत्तर नीचे दिये गये स्थान में लिखिए।

(ख) - इकाई के अन्त में दिये गये उत्तरों से अपने उत्तर मिलाइये।

(1) विवेकानन्द ने प्रचलित शिक्षा को क्या कहा ?

....

....

....

(2) विवेकानन्द के अनुसार शिक्षा का क्या अर्थ है?

....

....

....

(3) विवेकानन्द के शिक्षा के तीन उद्देश्य बताइये ।

(क) ____________ ____________ ____________

(ख) ____________ ____________ ____________

(ग) ____________ ____________ ____________

(4) भौतिक एवं अध्यात्म ज्ञान की प्राप्ति के लिए क्या आवश्यक है?

____

____

(5) अनुशासन के सम्बन्ध में विवेकानन्द का क्या विचार है?

____

____

____

(6) विवेकानन्द के अनुसार शिक्षक को क्या करना चाहिए?

____

____

____

7.4 अरविन्द घोष -जीवन परिचय

महान योगी श्री अरविन्द घोष का जन्म कलकत्ता में 15 अगस्त 1872 ई0 में हुआ। अरविन्द के पिता पाश्चात्य विचारों से प्रभावित थे, इसलिए इनकी प्रारम्भिक शिक्षा दार्जिलिंग के अंग्रेजी माध्यम लोरेटो कान्वेंट में हुई। अरविन्द को 7 वर्ष की अवस्था में इंग्लैण्ड भेज दिया गया। वहाँ पर उन्होंने फ्रेंच, जर्मन तथा इटेलियन आदि अनेक यूरोपीय भाषाओं का अध्ययन किया। इंग्लैण्ड से उच्च शिक्षा प्राप्त करके अरविन्द सन 1893 में भारत आये । बड़ौदा कालेज में शिक्षक बन गये।सन 1905 में बंगाल विभाजन के देश व्यापी विरोध के कारण राष्ट्रीय भावना से अभिभूत होकर इन्होने नौकरी छोड़ दी। कुछ दिनों

तक अरविन्द ने बन्देमातरम एवं युगान्तर पत्रों का सम्पादन किया। राजनीतिक कार्यों में भाग लेने के कारण अरविन्द कई बार जेल भी गये, परन्तु उन्हें जल्दी ही मुक्त कर दिया गया। एक दिन अलीपुर जेल में उन्होंने स्वप्न में ईश्वरीय आत्मा का दर्शन किया, उसके पश्चात वे राजनीतिक गतिविधियाँ छोड़कर आध्यात्मिक जीवन व्यतीत करने के लिए सन 1910 में पाण्डिचेरी चले गये। वहाँ पर उन्होंने ने 'आध्यात्मिक केन्द्र' की स्थापना की, जो अरविन्द आश्रम के नाम से प्रसिद्ध हुआ। अरविन्द ने अपना शेष जीवन इसी आश्रम में रहकर आध्यात्मिक साधना एवं योग में व्यतीत किया और अनेक पुस्तकें लिखी। 5 दिसम्बर 1950 को अरविन्द का निधन हो गया।

7.4.1 शिक्षा दर्शन –

श्री अरविन्द का शिक्षा दर्शन वस्तुतः ब्रह्मचर्य, आध्यात्मिक साधना और योग पर आधारित है। उनका विश्वास है कि ऐसी शिक्षा जिसमें ये तीनों तत्व पाये जाते हैं, मनुष्य का पूर्ण विकास हो सकता है वे अन्तःकरण को शिक्षा का मुख्य अंग मानते हैं। उन्होंने अन्तःकरण के चार स्तर बताये – चित्त, मनस, बुद्धि और ज्ञान। उनके अनुसार शिक्षा का मुख्य कार्य अन्तःकरण की शक्तियों का विकास करना है। अरविन्द के अनुसार शिक्षा मात्र ज्ञान की प्राप्ति नहीं है, वरन शिक्षा वह है जो मानव की छिपी हुई शक्तियों का विकास करके उसको पूर्ण विकसित करती है। स्वयं अरविन्द ने लिखा है कि 'सच्ची और वास्तविक शिक्षा वही है, जो मानव की अन्तर्निहित समस्त शक्तियों को इस प्रकार विकसित करती है कि वह उनसे पूर्ण रूप से लाभान्वित होता है।'

7.4.1.1 शिक्षा दर्शन के आधारभूत तत्व –

अरविन्द के शिक्षा दर्शन के आधारभूत सिद्धान्त निम्नलिखित हैं –

1. शिक्षा का केन्द्र बालक होना चाहिए।
2. शिक्षा का माध्यम मातृभाषा होनी चाहिए।
3. शिक्षा का आधार ब्रह्मचर्य होना चाहिए।
4. शिक्षा बालक की सभी पक्षों का विकास करे और उसे 'पूर्णमानव' बनाये।
5. शिक्षा बालक की मनोवृत्ति एवं मनोवैज्ञानिक परिस्थितियों के अनुसार होना चाहिए।
6. शिक्षा बालकों में नैतिकता का विकास करे तथा उसके व्यावहारिक जीवन को सफल बनाये।
7. भ्रष्टाचार को रोकने हेतु शिक्षा में धर्म को स्थान देना चाहिए।
8. शिक्षा का विषय रोचक होना चाहिए।
9. शिक्षा को बालकों में चेतना का विकास करना चाहिए।
10. शिक्षा को व्यक्ति के अन्तःकरण का विकास करना चहिए।

7.4.1.2 शिक्षा का अर्थ -

अरविन्द प्रचलित शिक्षा को वास्तविक शिक्षा नहीं मानते, क्योंकि यह शिक्षा केवल सूचनाओं का

संग्रह होता है। अरविन्द ने कहा है कि –'सूचनाओं का संग्रह मात्र ही शिक्षा नहीं है। क्योंकि सूचनाएँ ज्ञान की नीव नहीं हो सकती हैं। वे अधिक से अधिक वह सामग्री हो सकती है, जिसके द्वारा जानने वाला अपने ज्ञान की वृद्धि कर सकता है, अथवा वे वह बिन्दु हैं जहाँ से ज्ञान को आरम्भ किया जाये। वह शिक्षा जो अपने को ज्ञान देने तक सीमित रखती हैं, शिक्षा नहीं है। अरविन्द ने प्रचलित शिक्षा का विरोध करते हुए कहा कि हमारी शिक्षा को आधुनिक जीवन की आवश्यकतानुसार होना चाहिए। वे स्वयं लिखते हैं कि 'सच्ची शिक्षा को मशीन से बना हुआ सूत नहीं होना चाहिए, बल्कि इसको मानव के मस्तिष्क तथा आत्मा की शक्तियों का निर्माण अथवा विकास करना चाहिए। उनके शब्दों में 'शिक्षा मानव के मस्तिष्क और आत्मा की शक्तियों का निर्माण करती है। यह ज्ञान, चरित्र एवं संस्कृति का भी विकास करती है।'

7.4.1.3 शिक्षा का उद्देश्य –

अरविन्द के अनुसार शिक्षा का कार्य बालक के शारीरिक, मानसिक, भावात्मक, नैतिक और आध्यात्मिक आदि सभी प्रकार का विकास करना है। इस दृष्टिकोण से उन्होंने शिक्षा के निम्नलिखित उद्देश्य बताये हैं –

1. शारीरिक विकास एवं शुद्धि –

अरविन्द के अनुसार शिक्षा का मुख्य उद्देश्य बालक के शरीर का पूर्ण एवं शुद्ध विकास करना है। अरविन्द का मानना था शरीर से ही धर्म की साधना होती है। इसीलिए उन्होंने शारीरिक विकास मे शारीरिक शुद्धि को भी सम्मिलित किया, क्योंकि शारीरिक विकास एवं शुद्धि के बगैर व्यक्ति का आध्यात्मिक विकास नहीं हो सकता। इसलिए बालक के शारीरिक विकास के साथ उसे पवित्र होना आवश्यक है। इन्होंने ही कहा है कि यदि हम व्यक्ति का पूर्ण विकास चाहते हैं तो उसके शारीरिक विकास की उपेक्षा नहीं कर सकते क्योंकि शरीर ही भौतिक आधार का कार्य करती है।

2. ज्ञानेन्द्रियों का प्रशिक्षण –

अरविन्द जी का मानना है कि ज्ञानेन्द्रियां ही ज्ञान की प्रमुख स्रोत होती हैं, इसलिए इनको प्रशिक्षित किया जान चाहिए। अरविन्द चाहते थे कि ज्ञानेन्द्रियों का प्रशिक्षण ऐसा हो कि इनके द्वारा दी गई प्रतिमाएं स्पष्ट एवं ठ्ठीक हो। इसलिए ज्ञानेन्द्रियों का प्रयोग तथा वस्तुओं का पूर्ण रूप से निरीक्षण होना चाहिए ताकि बालकों को विभिन्न प्रतिमाओं को शीघ्र समझने की शक्ति आ जाये। अरविन्द ने लिखा है कि 'शिक्षक का मुख्य कार्य है बालक में इन्द्रियों के उचित प्रयोग का विकास करना। शिक्षक को यह देखना चाहिए कि प्रयोग न होने के कारण ये इन्द्रियाँ अविकसित न रह जाय।'

3. मानसिक शक्ति का विकास –

अरविन्द के अनुसार शिक्षा का एक अन्य महत्वपूर्ण उद्देश्य मानसिक शक्ति का विकास करना है। अरविन्द का कहना है कि शिक्षा में बालक की रूचियों एवं अभिरूचियों के आधार पर उनकी सभी मानसिक शक्तियों का विकास करना चाहिए। अरविन्द ने मानसिक शक्तियों मे ं विशेष रूप से स्मृति, चिन्तन, तर्क, कल्पना एवं निर्णय को स्थान दिया है। उनका कहना है कि यदि बालक की मानसिक शक्ति का विकास ठ्ठीक प्रकार से हो तो बालकों में ज्ञान की वृद्धि होगी। वह सचरित्र बनेगा और संस्कृतिवान होगा।

4. नैतिकता का विकास –

बालकों में नैतिकता का विकास करना भी अरविन्द शिक्षा का उद्देश्य मानते हैं। इनका मानना है कि मस्तिष्क के साथ-साथ हृदय की शिक्षा भी बालकों को दी जानी चाहिए। इसीलिए वे विद्यालयों में नैतिक शिक्षा देना चाहते हैं। उनका कहना है कि नैतिकता के विकास के लिए भावनाएं या संवेग, संस्कार एवं प्रकृति या स्वभाव मुख्य होता है। वे उक्त तीनों शुद्ध एवं सुन्दर बनाकर बालक के हृदय को प्रशिक्षित करना चाहते थे, जिससे वह सभी लोगों के साथ प्रेम पूर्वक व्यवहार करते हुए नैतिक जीवन व्यतीत कर सके।

5. अन्तःकरण का विकास –

अन्तःकरण का विकास करना भी अरविन्द शिक्षा का महत्वपूर्ण उद्देश्य मानते हैं । इन्होंने अन्तःकरण के चार स्तर बताये हैं। इन स्तरों के विकास से ही व्यक्ति 'पूर्ण मानव' बनता है। इसलिए व्यक्ति को पूर्ण मानव बनाने के लिए शिक्षा द्वारा अन्तःकरण का विकास होना चाहिए।

6. आध्यात्मिक विकास –

अरविन्द के अनुसार शिक्षा का अंतिम उद्देश्य व्यक्ति का आध्यात्मिक विकास करना है। उनके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति में कुछ दैवीय अंश होता है। शिक्षा का कार्य इसी दैवीय अंश को खोजना, विकसित करना तथा पूर्णता की ओर ले जान है। इस सम्बन्ध में उनका कहना है कि 'शिक्षा का मुख्य उद्देश्य होना चाहिए – विकसित होने वाली आत्मा का विकास करना, जो उसमें सर्वोत्तम है, उसे व्यक्त करना तथा उसे श्रेष्ठ कार्य के लिए पूर्ण बनाना।'

7.4.1.4 पाठ्यक्रम –

अरविन्द ने पाठ्यक्रम निर्माण के कुछ सिद्धान्त बताये हैं जैसे –

1. पाठ्यक्रम रोचक एवं बालकों को आकृष्ट करने वाले हों।
2. पाठ्यक्रम बालकों की रूचि एवं आवश्यकता के अनुसार हो।
3. पाठ्यक्रम बालक के जीवन की वास्तविक क्रियाओं से सम्बन्धित हो।
4. पाठ्यक्रम में उन विषयों को रखा जाय, जिससे बालक का आध्यात्मिक तथा भौतिक दोनों का विकास हो।
5. पाठ्यक्रम ऐसा हो, जो विश्व ज्ञान में बालकों की रूचि उत्पन्न कर सके।

उपर्युक्त सिद्धान्तों को ध्यान में रखकर अरविन्द ने बालक के सर्वांगीण विकास के लिए शिक्षा के विभिन्न स्तरों पर जो पाठ्यक्रम बताया, वह निम्नलिखित है –

1. प्राथमिक स्तर –

मातृभाषा, अंग्रेजी, फ्रेंच, सामान्य विज्ञान, सामाजिक अध्ययन, गणित एवं चित्रकला।

2. माध्यमिक स्तर –

मातृभाषा, अंग्रेजी, फ्रेंच, सामाजिक अध्ययन, भौतिक विज्ञान, रसायन विज्ञान, जीव विज्ञान, वनस्पति विज्ञान, स्वास्थ्य विज्ञान, भूगर्भ विज्ञान, गणित, चित्रकला।

3. विश्वविद्यालय स्तर –

भारतीय एवं पाश्चात्य दर्शन, मनोविज्ञान, समाज शास्त्र, अंग्रेजी, सभ्यता का इतिहास, गणित, भौतिक विज्ञान, रसायन विज्ञान, विज्ञान का इतिहास, फ्रेंच, अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध तथा विश्व एकीकरण ।

7.4.1.5 शिक्षण विधि –

अरविन्द ने शिक्षण की क्रमिक विधि का समर्थन किया। इस विधि के अन्तर्गत बालक को एक समय में केवल एक या दो विषयों की शिक्षा दी जाती है। बालक जब इन विषयों का ज्ञान प्राप्त कर लेता है तो उसे इसी प्रकार की अन्य विषयों की शिक्षा दी जाती है। अरविन्द ने अपनी इस शिक्षण विधि में निम्नलिखित सिद्धान्तों पर बल दिया है।

1. बालक की रूचियों का अध्ययन करके उसके अनुसार शिक्षा की व्यवस्था हो।
2. बालक को उसकी मातृभाषा द्वारा शिक्षा दी जाय।
3. बालकों को स्वप्रयत्न तथा स्वानुभव द्वारा सीखने के लिए अधिक से अधिक अवसर प्रदान किया जाय।
4. बालकों की क्रियाओं को महत्वपूर्ण स्थान देकर अरविन्द ने कहा कि बालक को स्वयं करके सीखने के अवसर दिये जाये।
5. बालक के सामने स्वतन्त्रता का वातावरण प्रस्तुत करना चाहिए, जिससे वह अधिक से अधिक ज्ञान प्राप्त कर सके।
6. बालकों के साथ प्रेम एवं सहानुभूति का व्यवहार करके शिक्षा देना चाहिये।
7. शिक्षण कार्य करते समय शिक्षक बालक का अधिक से अधिक सहयोग प्राप्त करें।
8. बालक की आत्मा को ठ्ठीक ढंग से विकसित करने के लिए उसे उसकी प्रकृति के अनुसार विकसित होने के अवसर दिये जाय।

7.4.1.6 अनुशासन –

अरविन्द का अनुशासन सम्बन्धी विचार प्रकृतिवादियों जैसा है। उनके अनुसार बालक को अधिक से अधिक स्वतंत्रता देकर उनका मार्ग दर्शन करना चाहिए। अरविन्द बालकों के लिए अच्छी संगति का समर्थन करते हैं। इसीलिए अरविन्द ने प्रभावात्मक अनुशासन पर बल दिया है। इन्होंने नैतिक अनुशासन को भी माना है। नैतिक अनुशासन के लिए प्राचीन गुरू शिष्य परम्परा जैसे सम्बन्धों को आवश्यक मानते हैं। अरविन्द के अनुसार नैतिक अनुशासन की स्थापना कठोरता एवं बल पूर्वक विचारों से सम्भव नहीं है, बल्कि यह अनुशासन तो शिक्षक द्वारा प्रेम एवं सहानुभूति के साथ व्यवहार और स्वयं के सदाचार पर ही सम्भव है। इससे स्पष्ट है कि अरविन्द उस नैतिक अनुशासन के समर्थक हैं जो प्रभावात्मक अनुशासन पर आधारित है।

7.4.1.7 शिक्षक –

अरविन्द ने अपनी शिक्षा व्यवस्था में शिक्षक को निर्देशक पथ प्रदर्शक और सहायक का स्थान दिया है। उनके अनुसार शिक्षक को बालकों की अभिरूचियों का अध्ययन करके उसके अनुसार शिक्षा की

सामग्री का संकलन एवं प्रस्तुतीकरण करना चाहिए। शिक्षक का कार्य बालकों के ऊपर ज्ञान को लादना नहीं है। बल्कि उसे ऐसा प्रयास करना चाहिए कि बालक स्वशिक्षा के पथ पर अग्रसर हो। शिक्षक के सम्बन्ध में अरविन्द ने कहा है कि 'शिक्षक निर्देशक या स्वामी नहीं है, वह सहायक और पथ प्रदर्शक है। उसका कार्य सुझाव देना है न कि ज्ञान को लादना। वास्तव में शिक्षक छात्र के मस्तिष्क को प्रशिक्षित नहीं करता, वरन उन्हें केवल यह बतलाता है कि वह अपने ज्ञान के साधनों को किस प्रकार विकसित करे। वह छात्र को सीखने की प्रक्रिया में सहायता और प्रेरणा प्रदान करता है । वह छात्र को ज्ञान नही देता, वह उसे यह बताता है कि वह अपने आप किस प्रकार ज्ञान प्राप्त करे। वह बालक के अन्दर निहित ज्ञान को बाहर नहीं निकालता है, वह उसे सिर्फ यह बताता है कि ज्ञान कहाँ है और उसको बाहर लाने के लिए किस प्रकार अभ्यास किया जा सकता है।'

7.4.1.8 शिक्षा दर्शन का मूल्यांकन –

अरविन्द ने यह अनुभव किया कि भारत के लोगों का दृष्टिकोण धीरे-धीरे भौतिकवाद हो रहा है। इस कारण उनके अन्दर की दिव्य ज्योति बुझती जा रही है। इसीलिए अरविन्द ने देश की प्रचलित शिक्षा की बुराई करते हुए कहा कि यह शिक्षा विदेशी है। इस शिक्षा से भारतीय संस्कृति एवं परम्पराओं का पोषण नहीं हो सकता। उनके अनुसार केवल वह शिक्षा भारत के लिए कल्याणकारी होगी, जो भारत की आत्मा तथा भारत की वर्तमान और भावी आवश्यकताओं के अनुकूल हो और भौतिकता के स्थान पर बालक में आध्यात्मिक दीप्ति को प्रज्वलित करे। इसी दृष्टि से अरविन्द ने पाण्डिचेरी में अरविन्द आश्रम खोला, जिसमें अन्तर्राष्ट्रीय विश्वविद्यालय की स्थापना की तथा नये सिद्धान्तों पर आधारित करके शिक्षा को ऐसा रूप दिया जो बालक के स्वाभावानुकूल हो तथा जो ब्रह्मचर्य द्वारा तप, तेज एवं विद्युत की वृद्धि से बालकों के मन, शरीर, हृदय एवं आत्मा को सशक्त बना सके। कंगाली चरणपति ने कहा है कि 'श्री अरविन्द का शिक्षा दर्शन मूलतः उनके आध्यात्मिक योग दर्शन पर आधारित है। श्री अरविन्द ने अपनी दिव्य दृष्टि की शक्ति से मानव जीवन के जिन गम्भीर तत्वों का उदघाटन किया है वे ही उनकी शिक्षा दर्शन की आधारशिला है। इसमें हमें समग्र मानव जीवन एवं समग्र संसार के सर्वांगीण रूप का आभास मिल जाता है। श्री अरविन्द ने जीवन और संसार के किसी पहलू को त्यागा नहीं है।'

बोध प्रश्न –

टिप्पणी (क) – अपने उत्तर नीचे दिये गये स्थान में लिखिए।

(ख) - इकाई के अन्त में दिये गये उत्तरों से अपने उत्तर मिलाइये।

(7) अरविन्द का शिक्षा दर्शन किस पर आधारित है?

....

....

....

(8) अरविन्द के अनुसार सच्ची शिक्षा क्या है?

....

....

....

(9) अरविन्द के शिक्षा के तीन उद्देश्य बताइये ।

(क) ....

(ख) ....

(ग) ....

(10) अरविन्द ने किस प्रकार के अनुशासन का समर्थन किया है?

....

....

....

(11) अरविन्द के अनुसार शिक्षक को क्या करना चाहिए?

....

....

....

7.5 सारांश

इस इकाई में विवेकानन्द एवं अरविन्द के शिक्षा दर्शन को स्पष्ट किया गया है। इनके शिक्षा दर्शन से स्पष्ट है कि विवेकानन्द ने शिक्षा का अर्थ व्यक्ति का समग्र विकास करना माना है। वे शारीरिक, मानसिक, चारित्रिक, राष्ट्रीयता के साथ साथ पूर्णत्व की प्राप्ति को शिक्षा का उद्देश्य बताते हैं। उन्होंने पाठ्यक्रम के अन्तर्गत उन सभी विषयों को रखने की बात कही, जिनसे आध्यात्मिक विकास के साथ साथ भौतिक विकास भी हो। अनुशासन के सम्बन्ध में प्रकृतिवादी विचारधारा रखते हुए कहते हैं कि बालकों को स्वानुशासन से सीखना चाहिए। उनके अनुसार शिक्षक को चाहिए कि वह अपने छात्रों के साथ प्रेम एवं सहानुभूतिपूर्वक व्यवहार करे और उन्हें सीखने के लिए प्रेरित करे। अरविन्द ने वास्तविक शिक्षा उसे कहा है जो बालक की अन्तर्निहित शक्तियों का विकास व्यक्तिगत सामाजिक एवं राजहित में करे। उन्होंने अन्तःकरण एवं आत्मा के विकास को शिक्षा का उद्देश्य बताया और पाठ्यक्रम में उन विषयों को रखने की बात कही, जिससे उसके जीवन की आवश्यकतायें पूरी हों और उसका आध्यात्मिक विकास हो। उन्होंने बालकों की रूचि के अनुसार शिक्षा देने की बात कही और नैतिक अनुशासन पर बल दिया। इन्होंने अपने शिक्षा व्यवस्था में बालक को मुख्य स्थान दिया और शिक्षक को पथ प्रदर्शक एवं सहायक माना।

7.6 अभ्यास कार्य

1. विवेकानन्द के शिक्षा दर्शन के आधारभूत सिद्धान्त क्या हैं? चर्चा कीजिए।
2. विवेकानन्द के शिक्षा के उद्देश्य की विवेचना कीजिए।
3. विवेकानन्द के शिक्षण विधि की व्याख्या कीजिए।
4. अरविन्द के शिक्षा दर्शन के आधारभूत सिद्धान्त की विवेचना कीजिए।
5. अरविन्द के शिक्षण विधि की विवेचना कीजिए ।

6. अरविन्द के शिक्षक से सम्बन्धित विचार का मूल्यांकन कीजिए ।

7.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

1. निषेधात्मक शिक्षा

2. शिक्षा उस सन्निहित पूर्णता का प्रकाश है, जो मनुष्य में पहले से ही विद्यमान है।

3.(क) पूर्णत्व की प्राप्ति

(ख) धार्मिक विकास

(ग) राष्ट्रीयता की भावना

4. मन की एकाग्रता

5. प्रकृतिवादी, उनका कहना है कि बालकों को स्वानुशासन से सीखना चाहिए।

6. अपने छात्रों के साथ प्रेम एवं सहानुभूति पूर्वक व्यवहार करे और उन्हें सीखने के लिए प्रेरित करें।

7. ब्रह्मचर्य, आध्यात्मिक साधना एवं योग पर

8. जो मानव की अन्तर्निहित शक्तियों को इस प्रकार विकसित करती है कि वह उनसे पूर्ण रूप से लाभान्वित होता है

9.(क) शारीरिक विकास एवं शुद्धि

(ख) ज्ञानेन्द्रियों का प्रशिक्षण

(ग) आध्यात्मिक विकास

10. प्रभावात्मक एवं नैतिक अनुशासन

11. बालकों की अभिरूचियों का अध्ययन करके उसके अनुसार शिक्षा सामग्री का संकलन एवं प्रस्तुतीकरण करना चाहिए ।

इकाई - 8 रवीन्द्र नाथ टैगोर एवं महात्मा गाँधी

संरचना

8.1 प्रस्तावना

8.2 उद्देश्य

8.3 **रवीन्द्र नाथ टैगोर** – जीवन परिचय

8.3.1 टैगोर का शिक्षा दर्शन

8.3.1.1 शिक्षा दर्शन के आधारभूत सिद्धान्त

8.3.1.2 शिक्षा का अर्थ

8.3.1.3 शिक्षा का उद्देश्य

8.3.1.4 पाठ्यक्रम

8.3.1.5 शिक्षण विधि

8.3.1.6 अनुशासन

8.3.1.7 शिक्षक

8.3.1.8 शिक्षा दर्शन का मूल्यांकन

8.4 **महात्मा गाँधी** – जीवन परिचय

8.4.1 गाँधी जी का शिक्षा दर्शन

8.4.1.1 शिक्षा दर्शन के सिद्धान्त

8.4.1.2 शिक्षा का अर्थ

8.4.1.3 शिक्षा का उद्देश्य

8.4.1.4 पाठ्यक्रम

8.4.1.5 शिक्षण विधि

8.4.1.6 अनुशासन

8.4.1.7 शिक्षक

8.4.1.8 शिक्षा दर्शन का मूल्यांकन

8.5 सारांश

8.6 अभ्यास कार्य

8.7 बोध प्रश्नों का उत्तर

8.1 प्रस्तावना

रवीन्द्र नाथ टैगोर न केवल एक महान कवि थे वरन् एक बड़े शिक्षक, दार्शनिक, और कलाकार भी थे। वे भारत की आत्मा के सुरस्त्रष्टा और भारतीय संस्कृति के गायक थे। उन्होंने देश काल की सीमाओं को लांघकर उदारता, विश्व प्रेम और मानवता का संदेश प्रसारित किया। उनके पैर पृथ्वी से किंचित ऊपर उड़कर और उनकी बाहुएं पूर्व और पश्चिम में फैलकर विश्व को एक सूत्र में बांधने का प्रयास करती रहीं। उनकी चतुर्मुखी प्रतिभा ने संसार भर के मानवों को अपनी ओर आकर्षित किया। इसी प्रकार महात्मा गाँधी युग पुरूष थे। उन्होंने भारत के लोगों की ही नहीं बल्कि मानव प्राणी की जो अमूल्य सेवा की, उसके कारण उनको युग युग तक याद किया जाता रहेगा। उन्होने समाज के विभिन्न पक्षों का अध्ययन करके उसके लिए अमूल्य योगदान दिया।

शिक्षा के क्षेत्र में टैगोर एवं गांधी जी ने जो विचार प्रस्तुत किया, उससे शिक्षा को एक नई दिशा मिली। इस इकाई में टैगोर एवं गांधी जी के शिक्षा दर्शन अर्थात शिक्षा का अर्थ, उद्देश्य, पाठ्यक्रम, शिक्षणविधि, अनुशासन एवं शिक्षक के विषय में वर्णन किया गया है।

8.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप इस योग्य हो जायेंगे कि –

- टैगोर एवं गांधी के शिक्षा दर्शन का विश्लेषण कर सकेंगे।
- टैगोर एवं गाँधी के शिक्षा के अर्थ एवं उद्देश्य की व्याख्या कर सकेंगे।
- टैगोर एवं गांधी के शिक्षण विधि को विश्लेषित कर सकेंगे।
- टैगोर एवं गांधी द्वारा बताये गये अनुशासन की व्याख्या कर सकेंगे।
- शिक्षक के सम्बन्ध में टैगोर एवं गांधी के विचारों की विवेचना कर सकेंगे।

8.3 टैगोर – जीवन परिचय

रवीन्द्र नाथ टैगोर का जन्म बंगाल के प्रसिद्ध टैगोर वंश में 1861 ई0 में कलकत्ता में हुआ था। उनके पिता महर्षि देवेन्द्र नाथ टैगोर एक प्रसिद्ध समाज सुधारक एवं ब्रह्म समाज के अनुयायी थे। टैगोर परिवार अपनी समृद्धि कला, विद्या एवं संगीत के लिए सम्पूर्ण बंगाल में प्रसिद्ध था। टैगोर को अपने पिता से देश भक्ति, विद्वता, धर्मप्रियता, साधुता आदि गुण उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त हुए।

टैगोर की प्रारम्भिक शिक्षा ओरियन्टल सेमेनरी स्कूल से प्रारम्भ हुई, परन्तु टैगोर का मन यहाँ नहीं लगा। इस कारण 7 वर्ष की आयु में उन्हें नार्मल स्कूल में भर्ती किया गया। इसके दो वर्ष बाद बंगाल के ईसाई विद्यालय बंगाल एकेडेमी में भेजा गया, जहाँ का वातावरण कृत्रिम था। वहाँ के वातावरण के विषय में टैगोर ने स्वयं ही लिखा है कि वहाँ के अध्यापक एवं अधिकारी केवल फीस लेना जानते थे किन्तु ज्ञान देना न चाहते थे। तत्पशचात टैगोर 'सैण्ट जैवियर स्कूल'' गये, परन्तु वहाँ का वातावरण भी उन्हें अच्छा न लगा। इस काल में उन्हें कुछ कटु अनुभव प्राप्त हुये, जिनके परिणाम स्वरूप आगे चलकर उन्होंने आजीवन शिक्षा सुधार के लिए प्रयास किया और अन्त में अपने जीवन दर्शन व शैक्षिक दर्शन को साकार

रूप देने के लिए सन 1901 में टैगोर ने 'बोलपुर' के समीप "शान्ति निकेतन" की स्थापना की। उन्होंने इसमें स्वयं एक अध्यापक के रूप में कार्य किया। महान कवि एवं साहित्यकार के रूप में उनकी ख्याति देश की सीमाओं को पार कर गई। सन 1913 में उनको 'गीतांजलि' पर नोबेल पुरस्कार प्राप्त हुआ। सन 1941 में इस महान कवि, साहित्यकार एवं शिक्षाशास्त्री का देहान्त हो गया।

8.3.1 टैगोर का शिक्षा-दर्शन –

यद्यपि टैगोर ने कोई बन्धनयुक्त स्कूलीय शिक्षा प्राप्त नहीं की तथापि वे ऐसे नैसर्गिक गुणों, शक्तियों एवं क्षमताओं से सम्पन्न थे, जिन्होंने उन्हें केवल एक दार्शनिक ही नहीं वरन एक महान शिक्षा शास्त्री भी बना दिया। स्वशिक्षा द्वारा उन्होंने अपनी विभिन्न शक्तियों को विकसित किया। पाश्चात्य शिक्षा शास्त्रियों के विचारों का अध्ययन किया, अनेक अनुभवों द्वारा शिक्षा के रहस्यों का ज्ञान प्राप्त किया और अन्त में उन्होंने स्वानुभव के आधार पर स्वयं शिक्षा सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया।

टैगोर का विशवास था कि शिक्षा को जीवन से पृथक नहीं किया जा सकता । इसलिए शिक्षा जीवन के अनुसार होनी चाहिए अर्थात शिक्षा मनुष्य एवं प्रकृति से सम्बन्धित होनी चाहिए। इससे बालक और प्रकृति एवं वातावरण के बीच सामंजस्य स्थापित होगा और वास्तविक जीवन या संसार का ज्ञान प्राप्त कर सकेगा।

अन्य शिक्षा शास्त्रियों की भांति टैगोर ने भी शिक्षा को दो ध्रुवीय प्रक्रिया माना और शिक्षक एवं छात्र के परस्पर सम्बन्ध पर विशेष बल दिया। उन्होंने लिखा है कि – "शिक्षा का भवन सब मिलकर बनाते हैं केवल शिक्षक और प्रबन्धक ही नहीं वरन् विद्यार्थी भी। "

टैगोर आदर्शवादी थे। उनका लक्ष्य विश्व में एकता उत्पन्न करना था, इसी लिए उन्होंने शिक्षा का अर्थ सम्पूर्ण सृष्टि से जीवन का सामंजस्य स्थापित करना, बतलाया। इस सन्दर्भ में उन्होंने कहा कि यह सामंजस्य तभी स्थापित हो सकता है जब व्यक्ति की समस्त शक्तियाँ पूर्ण रूप से विकसित हो जायें और वह (पूर्ण मनुष्यत्व) प्राप्त कर ले।

रूसो, फ्रोबेल की भांति टैगोर भी प्रकृति की शक्ति और गुणों को मानते थे और उसे शिक्षा का सबसे बड़ा साधन समझते थे। प्रकृति से सम्पर्क रखने और इस सम्पर्क के कारण शिक्षा पर उसके प्रभावों को टैगोर ने रूसो और फ्रोबेल के बजाय कहीं अधिक अच्छी तरह समझा।

8.3.1.1 शिक्षा दर्शन के आधारभूत सिद्धान्त –

टैगोर के शिक्षा दर्शन के आधारभूत सिद्धान्त निम्नलिखित हैं –

1. बालकों की शिक्षा शहर से दूर प्रकृति के सुरम्य वातावरण में होनी चाहिए।
2. बालक की शिक्षा का माध्यम मातृभाषा होनी चाहिए।
3. शिक्षा का सामुदायिक जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध होना चाहिए।
4. शिक्षा सजीव एवं गतिशील होनी चाहिए।
5. प्रकृति के सम्पर्क में रहने के साथ साथ बालकों को सामाजिक सम्पर्क स्थापित करने के लिए अधिक से अधिक अवसर देना चाहिए, ताकि उनमें स्वशासन एवं समाज सेवा के भाव विकसित हों।

6. बालकों में संगीत अभिनय तथा चित्रकला की योग्यताओं का विकास करना चाहिए।

7. जन सामान्य को शिक्षा देने के लिए देशी प्राथमिक पाठ्शालाओं को पुनर्जीवित करना चाहिए।

8. शिक्षा को पूर्व मानव के रूप में विकसित करना चाहिये।

9. रचनात्मक प्रवृत्तियों के विकास के लिए बालकों को आत्माभिव्यक्ति के अवसर प्रदान किया जाना चाहिए ।

10. बालकों को शिक्षा प्रदान करते समय स्वतंत्रता प्रदान की जानी चाहिए।

8.3.1.1 शिक्षा का अर्थ -

टैगोर ने शिक्षा शब्द का प्रयोग 'व्यापक अर्थ' में किया है । उन्होंने अपनी पुस्तक 'पर्सनैल्टी' (Personality) में शिक्षा के अर्थ को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि –

"सर्वोत्तम शिक्षा वही है जो सम्पूर्ण सृष्टि से हमारे जीवन का सामन्जस्य स्थापित करती है।

सम्पूर्ण सृष्टि से टैगोर का तात्पर्य संसार की चर और अचर, जड़ और चेतन, सजीव और निर्जीव- सभी वस्तुओं से है । इन वस्तुओं से हमारे जीवन का सामंजस्य तभी हो सकता है जब हमारी समस्त शक्तियाँ पूर्ण रूप से विकसित होकर उच्चतम बिन्दु पर पहुंच जाय। इसी को टैगोर ने 'पूर्ण मनुष्यत्व' कहा है। शिक्षा का कार्य है हमें इस स्थिति में पहुँचाना। इस दृष्टि से टैगोर के अनुसार शिक्षा विकास की प्रक्रिया हैं वह मनुष्य की शारीरिक, बौद्धिक, आर्थिक, व्यवसायिक और आधत्मिक विकास करती है। अतः टैगोर के विचार में शिक्षा का स्वरूप अत्यन्त व्यापक है।

शिक्षा के व्यापक अर्थ के अन्तर्गत टैगोर ने शिक्षा के प्राचीन भारतीय आदर्श को स्थान दिया है। यह आदर्श है "सा विद्या या विभुक्तयें" । इस आदर्श के अनुसार शिक्षा मनुष्य को आध्यात्मिक ज्ञान देकर उसे जीवन और मरण से मुक्ति प्रदान करती है। टैगोर ने शिक्षा के इस प्राचीन आदर्श को भी व्यापक रूप दिया है।

8.3.1.3 शिक्षा के उद्देश्य –

टैगोर के अनुसार शिक्षा का मुख्य उद्देश्य पूर्ण जीवन की प्राप्ति के लिए मनुष्य का पूर्ण विकास करना है टैगोर द्वारा बताए गये शिक्षा के मुख्य उद्देश्य निम्नलिखित हैं –

1. शारीरिक विकास –

टैगोर के अनुसार शिक्षा का प्रथम उद्देश्य है बालकों का शारीरिक विकास करना। शारीरिक विकास तभी सम्भव है जब कि उन्हें सुखद प्राकृतिक वातावरण में स्वतंत्रता पूर्वक खेलने कूदने, उठने बैठने का अवसर प्रदान किया जाय। और शरीर के विभिन्न अंगों को प्रशिक्षित किया जाय।

2. मानसिक या बौद्धिक विकास –

शारीरिक विकास के साथ साथ उन्होंने बौद्धिक तथा मानसिक विकास पर भी बल दिया और शिक्षा का उद्देश्य बौद्धिक विकास करना बताया। टैगोर ने पुस्तकों के बजाय प्राकृति एवं जीवन की वास्तविक

परिस्थितियों से प्रत्यक्ष रूप से ज्ञान प्राप्त करने पर अधिक बल दिया है। टैगोर ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि –"पुस्तकों के बजाय प्रत्यक्ष रूप से जीवित व्यक्ति को जानने का प्रयास करना शिक्षा है।

3. नैतिक एवं आध्यात्मिक विकास –

टैगोर के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य बालकों का नैतिक व आध्यात्मिक विकास करना है। इस विकास के लिए टैगोर ने अनेक नैतिक तथा आध्यात्मिक मूल्य बताये हैं जैसे अनुशासन का मूल्य, शान्ति और धैर्य का मूल्य, मनुष्य के आन्तरिक विकास का मूल्य आदि।

4. संवेगात्मक विकास -

टैगोर बालक के शरीर मन, तथा संवेगों का सर्वांगीण विकास भी स्वीकार करते हैं अतः उन्होंने शारीरिक, मानसिक तथा संवेगात्मक विकास करना भी शिक्षा का उद्देश्य बताया। उनके अनुसार कविता संगीत चित्रकला, नृत्यकला आदि के द्वारा बालकों का संवेगात्मक प्रशिक्षण करना चाहिए, जिससे उसमें सौन्दर्य, सहानुभूति, प्रेम, दया, आदि स्वस्थ भावनाओं का विकास हो सके।

5. जीवन से सामंजस्य की क्षमता का विकास -

टैगोर के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य बालक की वास्तविक परिस्थितियों, सामाजिक परिस्थितियों तथा पर्यावरण की जानकारी प्रदान करना और उनसे सामंजस्य स्थापित करने की क्षमता का विकास करना है। टैगोर के शब्दों में – इस समय हमारा ध्यान चाहने वाली प्रथम और महत्वपूर्ण समस्या, हमारी शिक्षा और हमारे जीवन में सामंजस्य स्थापित करने की है।

6. व्यक्तिगत, सामाजिक और सांस्कृतिक विकास -

टैगोर मनुष्य की व्यक्तिगत भिन्नता में विश्वास करते थे। बच्चों को शिक्षा उनकी रूचियों, रूझानों, योग्यताओं, आवश्यकताओं के अनुसार दी जानी चाहिए । टैगोर व्यक्तिवादी होने के साथ-साथ समाजवादी भी थे। वे व्यक्ति की आध्यात्मिक पूर्णता के लिए सामाजिक विकास चाहते थे। संस्कृति के सम्बन्ध में वह कहते हैं कि – "अपनी संस्कृति का उद्देश्य सभी तत्वों को सशक्त बनाना है, पश्चिमी संस्कृति के प्रतिकार के लिए नहीं, बल्कि सचमुच आत्मसात और स्वीकार करने के लिए। वे पाश्चात्य ज्ञान के विरोधी नहीं थे, बल्कि उसके ज्ञान को अपनी संस्कृति में आत्मसात कराना चाहते थे।

7. राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय भावना का विकास –

टैगोर संकुचित समाज व विचारों के विरोधी थे, उनका विशवास था कि राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय भावना व एकता के लिए व्यापक दृष्टिकोण अपनाना होगा। संकुचित राष्ट्रीयता मनुष्य के उत्थान में बाधक होती है। इसलिए वे संसार की विभिन्न भाषा एवं संस्कृति से परिचित कराकर बालकों को विश्व नागरिक बनाने पर बल देते थे। वे शिक्षा को राष्ट्रीयता व अन्तर्राष्ट्रीयता के विकास का साधन मानते थे।

बोध प्रश्न –

टिप्पणी (क) – अपने उत्तरों के लिए नीचे दिये गये स्थान का प्रयोग कीजिए।

(ख) - अपने उत्तरों को इकाई के अन्त में दिये गये उत्तरों से अपने उत्तर मिलाइये।

(1) टैगोर के अनुसार सम्पूर्ण सृष्टि से जीवन का सामंजस्यकब स्थापित हो सकता है?

....

....

....

(2) टैगोर के शिक्षा-दर्शन के तीन आधारभूत सिद्धान्त बताइए?

(क)..

(ख)..

(ग)..

(3) टैगोर के शिक्षा के तीन उद्देश्य बताइये।

(क)..

(ख)..

(ग)..

8.3.1.4 पाठ्यक्रम

टैगोर के अनुसार शिक्षा का मुख्य उद्देश्य पूर्ण जीवन की प्राप्ति के लिए मनुष्य का पूर्ण विकास करना है। टैगोर बालक के आन्तरिक अथवा आध्यात्मिक पक्ष और वाह्य अथवा सामाजिक पक्ष दोनों का विकास चाहते थे। इस उद्देश्य को ध्यान में रखकर उन्होनें पाठ्यक्रम में विभिन्न प्रकार के विषयों और क्रियाओं को स्थान देकर उसे व्यापक रूप प्रदान किया।

बालकों के उत्तम विकास के लिए पाठ्यक्रम में विषयों के साथ-साथ कुछ पाठ्यसहगामी क्रियाओं को भी स्थान दिये। विषय एवं क्रियायें निम्नलिखित हैं -

1. **विषय** - इतिहास, भूगोल, विज्ञान, प्रकृति विज्ञान, साहित्य आदि।
2. **क्रियायें** – बागवानी, भ्रमण, अभिनय, ड्राइंग, क्षेत्रीय अध्ययन, प्रयोगशाला कार्य, अजायबघर के लिए वस्तुओं का संग्रह मौलिक रचना आदि।
3. **अन्य क्रियायें** – खेल-कूद, समाज सेवा, छात्र-स्वशासन आदि।

उपयुर्क्त पाठ्यक्रम में टैगोर ने समन्वित दृष्टिकोण अपनाया है। इससे स्पष्ट होता है कि टैगोर ने जिस पाठ्यक्रम की व्यवस्था की है वह विषय प्रधान न होकर क्रिया प्रधान है।

8.3.1.5 शिक्षण विधि –

टैगोर ने अपने समय की पुस्तकीय एवं कथन विधियों का कड़ा विरोध किया। उनके अनुसार बच्चों को जो कुछ भी सिखाया जाय वह पुस्तकों द्वारा नहीं बल्कि वास्तविक परिस्थितियों में रखकर, स्वयं

करके, स्वयं के अनुभवों एवं स्वयं के निर्णयों द्वारा सिखाया जाय। इस संदर्भ में उन्होंने कुछ विधियों के माध्यम से शिक्षा प्रदान करने की बात कही जैसे –

1. शिक्षण विधि वास्तविकता पर आधारित होना चाहिए। वह लिखते हैं कि – "वास्तविक वस्तुओं के सम्पर्क में आने से उनकी निरीक्षण तथा तर्क शक्ति का विकास होता है"।
2. शिक्षण विधि बालक की स्वाभाविक रूचियों और आवेगों पर आधारित होना चाहिए।
3. शिक्षण के लिए केवल पुस्तकों पर ही निर्भर नहीं रहना चाहिए वरन प्रश्नोत्तर एवं वाद विवाद विधि का भी प्रयोग करना चाहिए।
4. शिक्षण विधि में नृत्य, अभिनय, दस्तकारी आदि को स्थान देकर शारीरिक क्रिया को महत्व देना और इस प्रकार 'क्रिया विधि' का प्रयोग करना चाहिए।
5. शिक्षण विधि में बालक के अनुभवों और इन्द्रियों को प्रयोग में लाना चाहिए।

शिक्षण की सर्वोत्तम विधि बताते हुए टैगोर ने लिखा है – "भ्रमण के समय पढ़ाना, शिक्षण की सर्वोत्तम विधि है।"

8.3.1.6 अनुशासन -

बालकों के स्वतंत्र विकास पर टैगोर कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाना चाहते थे। इसीलिए वह बाहर से कोई अनुशासन नहीं थोपना चाहते थे, बल्कि आन्तरिक भावना के रूप में अनुशासन को स्वीकार करते थे। टैगोर अनुशासन को नैतिक मूल्य मानते थे। टैगोर आत्मानुशासन या स्वानुशासन या वास्तविक अनुशासन सभी को एक मानते थे जो आन्तरिक भावनाओं के विकास के लिए आवश्यक है। वह आत्मानुशासन के लिए नियन्त्रण की आवश्यकता समझते थे, किन्तु ऐसे नियन्त्रण द्वारा बालक के स्वतंत्रता को किसी तरह सीमित नहीं करना चाहते थे, क्योंकि वे आन्तरिक भावना के विकास के लिए दण्ड देने के विरोधी थे और स्वतंत्रता के पक्ष में थे। टैगोर ने अनुशासन का अर्थ बताते हुए लिखा है कि – 'वास्तविक अनुशासन का अर्थ परिपक्व एवं स्वाभाविक आवेगों की समुचित उत्तेजना और अनुचित दिशाओं में विकास से सुरक्षा करना है।'

8.3.1.7 शिक्षक –

टैगोर ने अपनी शिक्षा योजना में शिक्षक को अति महत्वपूर्ण स्थान दिया है और उसे शिक्षा का मुख्य आधार माना है। टैगोर ने शिक्षक को महत्वपूर्ण स्थान प्रदान करते हुये लिखा है कि –

"शिक्षा केवल शिक्षक के ही द्वारा और शिक्षण विधि के द्वारा कदापि नहीं दी जा सकती है। मनुष्य केवल मनुष्य से ही सीख सकता है ।" अतः शिक्षक को पूर्वाग्रही संकीर्ण, असहिष्णु, अधीर और अहंकारी नहीं होना चाहिए।

इस प्रकार टैगोर ने शिक्षक को शिक्षा व्यवस्था का प्रमुख आधार माना है। इस रूप में उन्होंने शिक्षक के कुछ कार्य निर्धारित किये हैं जो निम्नलिखित हैं –

1. शिक्षक और बालक को समान रूप से सांस्कृतिक परमपराओं का अनुसरण और सत्ता की खोज करनी चाहिए।
2. शिक्षक को बालक की रचनात्मक शक्ति को उत्तेजित करना चाहिए, जिससे वह रचनात्मक कार्यों में लगा रहे।
3. शिक्षक को ऐसे वातावरण का निर्माण करना चाहिए जिसमें बालक स्वानुभव द्वारा अधिक सरलता और दक्षता से सीख सकें।
4. शिक्षक को बालक को प्रेरणादायी और शिक्षाप्रद अनुभव प्रदान करने चाहिए।

शिक्षक के विषय में टैगोर ने लिखा है कि -

"एक अध्यापक अच्छी तरह तब तक अध्यापन नहीं कर सकता, जब तक वह स्वयं अध्ययन नहीं करता,जब तक एक दीपक स्वयं नहीं जलता तब तक वह दूसरे को नहीं जला सकता। जो अध्यापक यह मान लेता है कि वह अपने विषय की पूर्ण जानकारी प्राप्त कर चुका है और अपने विषय के ज्ञान से अपना सम्बन्ध स्थापित नहीं करता, केवल पाठ को विद्यार्थियों के सामने दोहरा भर देता है । वह केवल विद्यार्थियों के मस्तिष्क पर बोझ लाद देता है उसे तेज नहीं करता है।"

8.3.1.8 शिक्षा-दर्शन का मूल्यांकन -

टैगोर मानव एवं प्रकृति की मौलिक एकता में विश्वास करते थे और बालकों को शहर के कृत्रिम वातावरण से दूर प्रकृति के सुरम्य वातावरण में शिक्षा देने के समर्थक थे। टैगोर चाहते थे कि शिक्षा मानवीय आवश्यकताओं के अनुसार होना चाहिए, ताकि बालक आगे चलकर एक श्रेष्ठ मानव बने वह अपना निर्णय स्वयं ले तथा दृष्टिकोण विशाल बनाये। टैगोर ने शिक्षा में क्रियाओं एवं अनुभवों को सम्मिलित करने पर बल दिया और निष्क्रिय एवं पुस्तकीय शिक्षा का विरोध किया। एच0 बी0 मुखर्जी ने कहा है कि –"टैगोर वर्तमान भारत के शैक्षिक पुनरूत्थान के सबसे बड़े पैगम्बर थे। उन्होंने देश के सम्मुख शिक्षा के सर्वोच्च आदर्शों को स्थापित करने के लिए आजीवन संघर्ष किया। उन्होंने अपनी शैक्षिक संस्थाओं में ऐसे शैक्षिक प्रयोग किये, जिन्होंने उन्हें आदर्श का सजीव प्रतीक बना दिया।

बोध प्रश्न –

टिप्पणी (क) – अपने उत्तरों के लिए नीचे दिये गये स्थान का प्रयोग कीजिए।

(ख) - इकाई के अन्त में दिये गये उत्तरों से अपने उत्तर मिलाइये।

(4) टैगोर ने शिक्षण की सर्वोत्तम विधि किसे कहा है ?

....

....

....

(5) टैगोर अनुशासन को क्या मानते थे?

....

....

....

(6) टैगोर के अनुसार एक शिक्षक अच्छी तरह कब अध्यापन कर सकता है?

....

....

....

8.4 महात्मा गाँधी– जीवन परिचय

विश्व के महानतम राजनीतिज्ञ, दार्शनिक एवं शिक्षा शास्त्री तथा भारत के राष्ट्रपिता श्री मोहन दास करम चन्द गाँधी का जन्म काठियावाड़ के एक छोटी सी रियासत पोरबन्दर में 2 अक्टूबर सन 1869 को हुआ था। उनके पिता श्री करम चन्द गाँधी पोरबन्दर राज्य के दीवान थे। उनकी माता का नाम पुतली बाई था। वे एक साध्वी, धार्मिक एवं निष्ठावान नारी थीं। गांधी जी की प्रारम्भिक शिक्षा पोरबन्दर में हुई। जब गाँधीजी की आयु 7 वर्ष की थी, तब उनके पिता दीवान होकर राजकोट गये। गाँधीजी को राजकोट में ही एक विद्यालय में प्रवेश दिला दिया गया। अपने विद्यार्थी जीवन में उन्होंने 'श्रवण पितृभक्ति' नामक नाटक पढ़ा तथा 'सत्य हरिशचन्द्र' नामक नाटक का अभिनय देखा। इन नाटकों का उनपर अमिट प्रभाव पड़ा और वे भविष्य में सत्य की प्रतिमूर्ति बन गये।

सन 1887 में गांधी जी ने मैट्रिक की परीक्षा पास की तथा श्याम लाल कालेज भावनगर में उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए प्रवेश लिया, लेकिन कालेज की शिक्षा में उनका मन न लगा और कानून का अध्ययन करने के लिए इंग्लैण्ड चले गये। 10जून सन 1891 में वे बैरिस्टर बन कर भारत वापस आये, किन्तु यहाँ उन्हें वकालत में सफलता नहीं मिली। इसी बीच सेठ अब्दुल्ला की फर्म के भागीदार ने एक मुकदमें के सम्बन्ध में उन्हें दक्षिण अफ्रीका बुलाया। अतः गाँधी जी सन 1893 ई0 में दक्षिण अफ्रीका गये। गाँधी वहाँ सिर्फ एक वर्ष के लिए ही गये थे, परन्तु वहाँ पर अपने देशवासियों की दुर्दशा और उनके साथ किये जाने वाले दुर्व्यवहारों ने उन्हें इतना विचलित कर दिया कि उनकी दशा सुधारने एवं उनपर होने वाले अत्याचारों के विरूद्ध आवाज उठाने के लिए वहां उन्हें 20 वर्ष तक रहना पड़ा।

सन 1914 में स्वास्थ्य खराब होने के कारण वे भारत वापस आ गये। यहाँ उन्होंने भारतीय राजनीति में प्रवेश किया तथा ब्रिटिश शासन का विरोध किया। सन 1917 में उन्होंने साबरमती आश्रम की स्थापना किया। इस आश्रम का उद्देश्य 'हरिजन उद्धार', ग्रामोद्योग तथा अन्य सामाजिक सुधार और रचनात्मक कार्य करना था। राजनीति में प्रवेश से लेकर जीवन के अन्त तक उन्होंने भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन का नेतृत्व किया। उन्होंने भारतीय राजनीति में सत्य और अहिंसा का महत्वपूर्ण एवं अद्वितीय प्रयोग किया। देश ने उनके नेतृत्व में 15 अगस्त 1947 को स्वतंत्रता प्राप्त की, लेकिन 30 जनवरी 1948 को संकीर्ण मन वाले युवक नाथूराम गोडसे ने उन्हें गोली मार दी। उसी समय विश्व की यह महान विभूति एवं मानवता तथा स्वतंत्रता का पुजारी संसार से चला गया।

8.4.1 गाँधीजी का शिक्षा दर्शन –

गांधीजी को अधिकांश लोग एक महान राजनीतिज्ञ ही मानते हैं, किन्तु जीवन और समाज के विभिन्न क्षेत्रों में उनकी देन अमूल्य है। उन्होंने राजनीतिक क्रान्ति के साथ साथ सामाजिक क्रान्ति को भी जन्म दिया। गांधी जी के जीवन दर्शन के अध्ययन से ज्ञात होता है कि वे आध्यात्मिकता पर आधारित एक आदर्श समाज की स्थापना करना चाहते थे। जिसमें सत्य, अहिंसा, नैतिकता,प्रेम एवं न्याय रूपी स्तम्भ हों इस आदर्श समाज की स्थापना के लिए गांधी जी व्यक्ति की शिक्षा को आवश्यक मानते थे। गांधी जी के अनुसार व्यक्ति को दी जाने वाली शिक्षा ऐसी हो जो व्यक्ति के राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक, आदि सभी क्षेत्रों के विकास में सहायक हों। इसके लिए गांधी जी ने 'बेसिक शिक्षा' का सूत्रपात किया किन्तु यह शिक्षा केवल 14 वर्ष तक की आयु के बालकों के लिए थी। इसलिए इसके अध्ययन से हमें गांधी जी के शिक्षा दर्शन का पूरा ज्ञान नहीं हो पाता है। अतएव शिक्षा के विभिन्न पक्षों पर गांधीजी के विचारों का वर्णन आगे किया जायेगा।

8.4.1.1 शिक्षा दर्शन के सिद्धान्त –

गांधीजी के शिक्षा दर्शन के आधारभूत सिद्धान्त निम्नलिखित है –

1. सम्पूर्ण देश में 7 से 14 वर्ष तक के बालकों की शिक्षा निःशुल्क तथा अनिवार्य होनी चाहिए।
2. शिक्षा का माध्यम मातृभाषा होनी चाहिए।
3. बालक को जो भी शिक्षा दी जाय, वह हस्तशिल्प से सम्बन्धित हो, ताकि बालक अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति स्वयं कर सके।
4. बालक भी शिक्षा में अंग्रेजी का कोई स्थान नहीं होना चाहिए।
5. शिक्षा को बालकों में सभी मानवीय गुणों का विकास करना चाहिए।
6. शिक्षा को बालकों को बेरोजगारी से सुरक्षा देनी चाहिए।
7. शिक्षा को बालक की शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक शक्तियों को प्रोत्साहित करना चाहिए।
8. शिक्षा को बालक के शरीर,हृदय, मस्तिष्क तथा आत्मा का सामंजस्यपूर्ण विकास करना चाहिए।
9. शिक्षा ऐसी होनी चाहिए, जिससे बालकों को कोई न कोई रोजगार मिल सके।
10. सभी विषयों की शिक्षा किसी स्थानीय उद्योग द्वारा दी जानी चाहिए।
11. स्कूल ऐसा होना चाहिए जहाँ बालक विभिन्न प्रकार के प्रयोगों द्वारा नई नई बातें सीखता रहे।
12. शिक्षण जीवन की वास्तविक परिस्थितियों में किया जाना चाहिए।
13. शिक्षा द्वारा उपयोगी नागरिकों का निर्माण होना चाहिए।
14. साक्षरता को शिक्षा नहीं कहा जाना चाहिए।

8.4.1.2 शिक्षा का अर्थ -

गांधीजी चाहते थे कि भारत का प्रत्येक व्यक्ति शिक्षित बने। वे मात्र साक्षरता को शिक्षा नहीं मानते थे, वे इसे ज्ञान या ज्ञान का माध्यम भी स्वीकार नहीं करते थे। शिक्षित से गांधी जी का तात्पर्य साक्षर अथवा विद्यालय से डिग्री प्राप्त व्यक्ति से नहीं था। उनके अनुसार पुस्तकीय ज्ञान तो शिक्षा का एक साधन मात्र है। उन्हीं के शब्दों में 'साक्षरता न तो शिक्षा का आरम्भ है और न अन्त। यह विभिन्न साधनों में से एक

साधन है। जिसके द्वारा पुरूष एवं स्त्री को शिक्षित किया जा सकता है।' गांधी जी कालेज से डिग्री प्राप्त उस व्यक्ति से जो नैतिक नहीं है, बिना पढ़े लिखे व्यक्ति को जो नैतिक एवं चरित्रवान है, अच्छा मानते थे। इससे स्पष्ट होता है कि गांधी जी व्यक्ति के जीवन में चरित्र एवं नैतिकता पर अधिक बल दिया है। वे मानते थे कि शिक्षा द्वारा व्यक्ति का नैतिक विकास होना चाहिए।

गांधी जी मानते थे कि शिक्षा द्वारा बालक का सर्वांगीण विकास होना चाहिए तभी बालक पूर्ण मानव कहलायेगा। सर्वांगीण विकास से गांधीजी का तात्पर्य था बालक के शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक, सामाजिक, नैतिक आदि विभिन्न पक्षों का विकास। गांधी जी के अनुसार सच्ची शिक्षा बालक के शरीर, मन एवं आत्मा का विकास करके उसे पूर्ण मानव बनाती है। इसीलिए शिक्षा के अर्थ के विषय में उन्होंने लिखा है कि – 'शिक्षा से मेरा अभिप्राय बालक मनुष्य के शरीर, मस्तिष्क एवं आत्मा में पाये जाने वाले सर्वोत्तम गुणों के चतुर्मुखी विकास से हैं' ।

8.4.1.3 शिक्षा का उद्देश्य –

गांधीजी के शिक्षा के उद्देश्यों को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है –

(अ) तात्कालिक उद्देश्य

(ब) अंतिम उद्देश्य

(अ) तात्कालिक उद्देश्य –

गांधीजी के शिक्षा के तात्कालिक उद्देश्य निम्नलिखित हैं –

1. सर्वांगीण विकास का उद्देश्य –

गाँधीजी के अनुसार शिक्षा का सर्वप्रथम उद्देश्य बालक की शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक शक्तियों का स्वाभाविक रूप से सामंजस्यपूर्ण विकास करना है। इसीलिए उन्होंने सर्वांगीण विकास के उद्देश्य पर बल देते हुए 31 जुलाई और 11 सितम्बर 1937 को अपनी 'हरिजन' नामक पत्रिका में लिखा है कि –'सच्ची शिक्षा वह है जिसके द्वारा बालकों के शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक विकास को प्रोत्साहन मिले।

2. जीविकोपार्जन का उद्देश्य –

गांधीजी शिक्षा में आत्मनिर्भरता के सिद्धान्त के प्रबल समर्थक हैं । उनका विचार है कि बालक को शिक्षा के साथ साथ उसकी रूचि एवं आवश्यकता के अनुसार किसी न किसी व्यवसाय की भी शिक्षा दी जानी चाहिए ताकि प्रत्येक बालक अपने भावी जीवन में स्वावलम्बी बन सके। इससे बालको में आत्म निर्भरता की भावना उत्पन्न होती है और वह श्रम का महत्व समझता है। शिक्षा के इस उद्देश्य से गांधीजी का तात्पर्य बालकों को मजदूर बनाना नहीं था, बल्कि वे चाहते थे कि प्रत्येक बालक कमाते हुए शिक्षा प्राप्त करे और शिक्षा प्राप्त करते हुये कुछ कमाएं।

3. सांस्कृतिक विकास का उद्देश्य –

गांधीजी ने व्यक्ति के जीवन का आधार संस्कृति को माना है और इस बात पर बल दिया है कि व्यक्ति के व्यवहार में संस्कृति की झलक दिखाई देनी चाहिए। इसीलिए गांधी जी सांस्कृतिक विकास के उद्देश्य को शिक्षा का उद्देश्य मानते हुए कहा है कि –'मैं शिक्षा के सांस्कृतिक पक्ष को उसके साहित्यिक

पक्ष से अधिक महत्वपूर्ण समझता हूँ। संस्कृति शिक्षा का आधार एवं विशेष अंग है। अतः व्यक्ति के व्यवहार पर संस्कृति की छाप होनी चाहिए।'

4. नैतिक तथा चारित्रिक विकास का उद्देश्य –

गांधी जी ने शिक्षा के उद्देश्यों में नैतिक एवं चारित्रिक उद्देश्यों को भी महत्वपूर्ण स्थान दिया है। उनके अनुसार जो शिक्षा व्यक्ति के नैतिक एवं चारित्रिक विकास नहीं करती वह व्यर्थ है। गांधीजी ने अपनी आत्मकथा में लिखा है कि –'मैने सदैव हृदय की संस्कृति अथवा चरित्र निर्माण को प्रथम स्थान दिया है और शिक्षा का आधार चरित्र निर्माण को माना है।'

5. आध्यात्मिक स्वतंत्रता का उद्देश्य –

गांधीजी का आदर्श था 'सा विद्या या विमुक्तये'। इस आदर्श के अनुसार गांधी जी का मानना था कि शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति को मुक्ति दिलाना है। मुक्ति शब्द की व्याख्या गांधी जी ने दो प्रकार से की है।- (1) वर्तमान जीवन की समस्त आर्थिक, राजनीतिक एवं मानसिक दासताओं से मुक्ति (2) आत्मा के सांसारिक मायामोह आदि बंधनों से मुक्ति। इसलिए गांधी जी चाहते थे कि शिक्षा ऐसी होनी चाहिए जो व्यक्ति को सांसारिक बंधनों से मुक्ति दिलाकर उसकी आत्म विकास के लिए आध्यात्मिक स्वतंत्रता दिला सके।

(ब) अन्तिम उद्देश्य -

गांधीजी ने शिक्षा का अंतिम उद्देश्य माना है- सत्य अथवा ईश्वर की प्राप्ति। शिक्षा के सभी उद्देश्य इसी उद्देश्य के अन्तर्गत आते हैं। यह उद्देश्य वही आत्मानुभूति का उद्देश्य है जिसके द्वारा हम ईश्वर अथवा अन्तिम सत्ता का साक्षात्कार कर सकते हैं। इस उद्देश्य के अनुसार गांधी जी बालक को सत्य अथवा ईश्वर के साथ साक्षात्कार कराना चाहते थे। इसीलिए गांधीजी ने लिखा है कि 'शिक्षा का उद्देश्य आत्मा का विकास करना, चरित्र का निर्माण करना तथा व्यक्ति को ईश्वर एवं आत्मानुभूति के लिए प्रयास करने योग्य बनाना है।

8.4.1.4 शिक्षा का पाठ्यक्रम –

गांधीजी की शिक्षा योजना को बेसिक शिक्षा के नाम से जान जाता है। इस शिक्षा का पाठ्यक्रम क्रिया प्रधान है तथा इसका उद्देश्य बालक को कार्य, प्रयोग एवं खोज के द्वारा उसकी शारीरिक, मानसिक, एवं आध्यात्मिक शक्तियों को विकसित करना है। ताकि वह आत्मनिर्भर बनकर समाज का उपयोगी सदस्य बन सके। पाठ्यक्रम के विषय में गांधी जी ने कहा है कि कक्षा एक से लेकर कक्षा पाँच तक के सभी बालक एवं बालिकाओं के लिए समान पाठ्यक्रम होना चाहिए। इसके बाद बालकों को हस्त शिल्प एवं बालिकाओं को गृह विज्ञान, की शिक्षा दी जानी चाहिए।

अपनी बेसिक शिक्षा के पाठ्यक्रम में गांधीजी ने निम्नलिखित विषयों को स्थान दिया है -

1. बुनियादी शिल्प – (जैसे कताई, बुनाई, कृषि, बागबानी, काष्ठकला, चर्मकार्य, मिट्टी का कार्य आदि)
2. भाषा – राष्ट्रभाषा, मातृभाषा (स्थानीय भाषा), हिन्दुस्तानी भाषा (हिन्दी एवं उर्दू का मिश्रित रूप)
3. गणित – अंकगणित, रेखागणित एवं नाप तौल।

4. सामान्य विज्ञान – जीव विज्ञान, वनस्पति विज्ञान, शरीर विज्ञान, रसायन विज्ञान, स्वास्थ्य विज्ञान, प्रकृति अध्ययन, नक्षत्र ज्ञान तथा गृह विज्ञान (केवल बालिकाओं हेतु)
5. कला- संगीत एवं चित्रकला।
6. सामाजिक अध्ययन – इतिहास, भूगोल, एवं नागरिक शास्त्र।
7. शारीरिक शिक्षा – खेल कूद एवं व्यायाम।
8. नैतिक तथा धार्मिक शिक्षा – प्रार्थना, उपदेश, एवं समाज सेवा के कार्य ।

बोध प्रश्न –

टिप्पणी (क) – अपने उत्तर नीचे दिये गये स्थान में लिखिए।

(ख) - इकाई के अन्त में दिये गये उत्तरों से अपने उत्तर मिलाइये।

(7) गांधीजी अपने आदर्श समाज की स्थापना किस पर आधारित करना चाहते हैं?

....

....

....

(8) सर्वांगीण विकास से गांधी जी का क्या आशय था?

....

....

....

(9) गांधीजी के शिक्षा दर्शन के तीन आधारभूत सिद्धान्त बताइये ।

(क) ....

(ख) ....

(ग) ....

(10) गांधीजी का अंतिम उद्देश्य क्या था?

....

....

....

(11) गांधीजी के पाठ्यक्रम का क्रिया प्रधान होने का क्या कारण था?

....

....

8.4.1.5 शिक्षण विधि –

गांधीजी ने प्रचलित शिक्षण विधि को दोषपूर्ण मानतें हुए स्थानीय शिल्प को शिक्षा का केन्द्र माना। उनका विचार था कि शिक्षण विधि ऐसी होनी चाहिए जिसमें बालक निष्क्रिय स्रोता न रहकर सक्रिय कार्यकर्ता निरीक्षणकर्ता और प्रयोगकर्ता के रूप में शिक्षा ग्रहण करें। गांधीजी चाहते थे कि बालक को किसी भी स्थानीय शिल्प के साथ शिक्षा दी जाय ताकि उसके शरीर, मन एवं आत्मा का विकास हो और वह भविष्य में आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके। गांधी जी ने अपनी शिक्षण विधि में निम्नलिखित सिद्धान्तों पर बल दिया है।

1. करके सीखने का अवसर दिया जाय।
2. अनुभव द्वारा सीखने को प्रोत्साहित किया जाय।
3. सीखने की प्रक्रिया में समन्वय स्थापित किया जाय।
4. सर्वप्रथम पढ़ना सिखाया जाय तब लिखना सिखाया जाय।
5. सर्वप्रथम ड्राइंग सिखाया जाय तब वर्णमाला के अक्षर सिखाया जाय।
6. मस्तिष्क के विकास के लिए शारीरिक अंगों का उचित प्रशिक्षण हो।

उपरोक्त सिद्धान्तों के अलावा गांधीजी ने अपनी शिक्षण विधि में सहयोगी क्रिया, नियोजन, यथार्थता एवं व्यक्तिगत उत्तरदायित्व के सिद्धान्तों पर भी बल दिया है।

8.4.1.6 अनुशासन –

गांधीजी अनुशासन प्रिय व्यक्ति थे। वह स्वयं अनुशासित जीवन व्यतीत करते थे। इसलिए वे व्यक्ति के जीवन में अनुशासन को बहुत महत्वपूर्ण मानते थे। गांधीजी दमनात्मक अनुशासन के विरोधी एवं मुक्तात्मक तथा प्रभावात्मक अनुशासन के प्रबल समर्थक थे। विद्यालय में अनुशासन के संदर्भ में गांधी जी प्राचीन शिक्षा व्यवस्था की मान्यताओं को मानते थे और प्रत्येक शिक्षार्थी एवं शिक्षक को ब्रह्मचारी जीवन व्यतीत करने को कहते हैं। ब्रह्मचर्य के विषय में गांधी जी ने लिखा है कि –ब्रह्मचर्य का अर्थ है 'मन, वचन एवं कर्म से सभी इन्द्रियों का संयम'। इससे स्पष्ट है कि गांधी जी आत्म नियंत्रण के द्वारा आत्मानुशासन चाहते थे। गांधीजी का विचार था कि बालक को शिक्षा देते समय पूर्ण स्वतंत्रता देनी चाहिए। उस पर किसी प्रकार का बाहरी एवं कठोर नियंत्रण नहीं होना चाहिए। इससे स्पष्ट होता है कि गांधी जी मुक्तात्मक एवं प्रभावात्मक अनुशासन को मानने वाले थे।

8.4.1.7 शिक्षक –

गांधीजी ने शिक्षा के क्षेत्र में शिक्षक को महत्वपूर्ण स्थान दिया है। उनका विचार था कि शिक्षक समस्त मानवीय गुणों से युक्त और शुद्ध आचरण वाला होना चाहिए । शिक्षक के सम्बन्ध में गांधीजी ने कहा है कि –'शिक्षक का यह कर्तव्य है कि वह बालकों में ऐसी प्रतिभा एवं क्षमता उत्पन्न करे जिससे बालक विभिन्न वस्तुओं के गुण दोष एवं अन्तर को पहचान सके। गांधीजी का विचार है कि एक शिक्षक, आदर्श शिक्षक तभी बन सकता है जब वह शिक्षण कार्य को व्यवसाय के रूप में नहीं, बल्कि सेवा कार्य के रूप में स्वीकार करे। उसे सत्य आचरण करने वाला, सहिष्णु, ज्ञान का पुंज एवं धैर्यवान होना चाहिए। एक अच्छा शिक्षक वही है जो स्वयं पहले उस योग्यता को प्राप्त करे जिसे वह अपने शिष्यों में देखना चाहता है। क्योंकि शिक्षक के व्यक्तिगत जीवन एवं आचरण का छात्रों पर अत्यधिक प्रभाव पड़ता है। जब तक शिक्षक में योग्यता एवं गुण नहीं होंगे, तब तक छात्र उसके व्यक्तित्व से प्रभावित नहीं हो सकते हैं।

गांधीजी का मानना था कि शिक्षक एवं छात्र मे घनिष्ठ सम्बन्ध होना चाहिए। उनका विचार था कि शिक्षक का उत्तरदायित्व है कि वह छात्र के मस्तिष्क की अपेक्षा उसके हृदय को प्रशिक्षित करे और उनमें तर्क करने की क्षमता का विकास करे, ताकि छात्र प्रत्येक वस्तु के गुण-दोष पर विचार कर सके। अंत में गांधी जी चाहते थे कि शिक्षक को स्थानीय वातावरण की जानकारी हो। ताकि वह स्थानीय व्यावसाय, हस्त शिल्प आदि का प्रयोग शिक्षा के लिए कर सके।

8.4.1.8 शिक्षा दर्शन का मूल्यांकन –

गाँधीजी का शिक्षा के क्षेत्र में अद्वितीय योगदान है। उनके शिक्षा दर्शन के अध्ययन से पता चलता

है कि गांधी जी हृदय से आदर्शवादी थे। वे अपने आदर्शों को वास्तविक रूप प्रदान करना चाहते थे। इसीलिए उनके शिक्षा दर्शन में प्रकृतिवाद, आदर्शवाद एवं प्रयोजनवाद की झलक दिखाई देती है। गांधी जी के दर्शन का आधार आदर्शवाद है, प्रकृतिवाद एवं प्रयोजनवाद उसके सहायक हैं। गांधी जी का शिक्षा दर्शन बालक की प्रकृति पर पूरा ध्यान देता है, इसलिए वह प्रकृतिवादी हैं। यह दर्शन बालक को उसकी रूचि के अनुसार सामाजिक परिस्थितियों का ध्यान में रखकर किया करके सीखने पर बल देता है। इसलिए वह प्रयोजवादी है। उनका शिक्षा दर्शन आदर्शवादी इस अर्थ में है, क्योंकि गांधीजी शिक्षा का अंतिम उद्देश्य आत्मानुभूति को मानते हैं और बालकों को सत्य और अहिंसा का पाठ पढाना चाहते हैं । गांधीजी के शिक्षा दर्शन के सम्बन्ध में डा0 एम0 एस0 पटेल ने कहा है कि –'दार्शनिक के रूप में गांधी जी की महानता इस बात में है कि उनके शिक्षा दर्शन में प्रकृतिवाद, आदर्शवाद, और प्रयोजनवाद की मुख्य प्रवृत्तियां अलग एवं स्वतंत्र नहीं हैं वरन वे सब मिलकर एक हो गयी हैं जिससे ऐसे शिक्षा दर्शन का जन्म हुआ है जो आज की आवश्यकताओं के लिए उपयुक्त होगा तथा मानव आत्मा की सर्वोच्च आकांक्षाओं को सन्तुष्ट करेगा'।

बोध प्रश्न –

टिप्पणी (क) – अपने उत्तर नीचे दिये गये स्थान में लिखिए।

(ख) - इकाई के अन्त में दिये गये उत्तरों से अपने उत्तर मिलाइये।

(12) गांधीजी ने अपनी शिक्षण विधि में किन सिद्धान्तों पर बल दिया है?

(क) ....

(ख) ....

(ग) ....

(13) गांधीजी किस प्रकार के अनुशासन को महत्व देते थे?

....

....

....

(14) गांधीजी अच्छा शिक्षक किसे मानते हैं?

....

....

....

8.5 सारांश

इस इकाई में रवीन्द्र नाथ टैगोर एवं महात्मा गांधी के शिक्षा दर्शन को स्पष्ट किया गया है। इनके शिक्षा दर्शन से ज्ञात होता है कि टैगोर प्रकृति के अनन्य उपासक थे इसीलिए वे बालकों को विद्यालय के चहारदीवारी के बजाय खुले प्राकृतिक वातावरण में शिक्षा देने को कहते थे। उन्होंने शिक्षा का कार्य बालकों में मानवता का विकास करना बताया। वे शिक्षा में बालक को पूर्ण रूप से स्वतंत्र रखना चाहते थे। शिक्षक के विषय में टैगोर ने कहा कि उसे हमेशा नये नये ज्ञान की खोज करनी चाहिए और बालकों का पथ प्रदर्शक होना चाहिए। गांधीजी शिक्षा को पूर्ण विकास की प्रक्रिया माना और बालक का सर्वांगीण विकास करना शिक्षा का उद्देश्य बताया। उन्होंने पाठ्यक्रम में उन विषयों को रखने के लिए कहा जो बालक के जीवन से सम्बन्धित हो। उन्होंने शिक्षण विधि में क्रिया पर बल दिया। और मुक्तात्मक एवं प्रभावात्मक अनुशासन

का समर्थन किया। शिक्षक के विषय में गांधीजी ने कहा है कि उसे मात्र सूचना देने वाला नहीं बल्कि बालक का पथ प्रदर्शक होना चाहिए।

8.6 अभ्यास कार्य

1. टैगोर के शिक्षा दर्शन के आधारभूत सिद्धान्त की विवेचना कीजिए।
2. टैगोर के शिक्षा के उद्देश्यों की व्याख्या कीजिए।
3. टैगोर के शिक्षण विधि की विवेचना कीजिए।
4. गांधीजी के शिक्षा दर्शन के आधारभूत सिद्धान्त क्या हैं, चर्चा कीजिए।
5. गांधीजी के शिक्षा के अंतिम उद्देश्य की व्याख्या कीजिए ।
6. गांधीजी ने अपने शिक्षण विधि में 'करके सीखना' को क्यों महत्वपूर्ण माना है इस विषय पर चर्चा कीजिए ।

8.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

1. जब व्यक्ति की समस्त शक्तियाँ पूर्ण रूप से विकसित हो जाय और वह पूर्ण मनुष्यत्व को प्राप्त कर ले।

2.(क) बालकों की शिक्षा शहर से दूर प्रकृति के सुरम्य वातावरण में हो ।

(ख) शिक्षा का माध्यम मातृभाषा हो।

(ग) शिक्षा सजीव एवं गतिशील हो।

3.(क) शारीरिक विकास (ख) मानसिक विकास

(ग) राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय भावना का विकास।

4. भ्रमण के समय पढ़ाना
5. नैतिक मूल्य।
6. जब वह स्वयं अध्ययन करेगा।
7. आध्यात्मिकता पर
8. बालक के शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक, सामाजिक, नैतिक आदि विभिन्न पक्षों का विकास।

9.(क) 7-14 वर्ष तक के बालकों की शिक्षा निशुल्क एवं अनिवार्य हो।

(ख) शिक्षा का माध्यम मातृभाषा हो।

(ग) बालकों की शिक्षा हस्तशिल्प से सम्बन्धित हो।

10. सत्य अथवा ईश्वर की प्राप्ति अथवा आत्मानुभूति।
11. बालक को कार्य, प्रयोग एवं खोज के द्वारा उसकी शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक शक्तियों का विकास करना, ताकि वह आत्मनिर्भर बन सके ।
12. (क) करके सीखना (ख) अनुभव द्वारा सीखना

(ग) सीखने की प्रक्रिया में समन्वय ।

13. मुक्तात्मक एवं प्रभावात्मक अनुशासन।

14. जो स्वयं पहले उस योग्यता को प्राप्त करे जिसे वह अपने शिष्यों में देखना चाहता है।

कुछ उपयोगी पुस्तकें

हिन्दी की पुस्तकें

1. आत्मा नन्द मिश्र - भारतीय शिक्षा के प्रवर्तक
2. जे0 वी0कृपलानी - गांधी दर्शन
3. एन0आर0 स्वरूप सक्सेना - शिक्षा के दार्शनिक एवं समाज शास्त्रीय सिद्धान्त
4. एम0एम0 सहगल - शिक्षा दर्शन
5. डॉ0 राम सकल पाण्डेय - शिक्षा दर्शन
6. डॉ0 राम शकल पाण्डेय - विश्व के श्रेष्ठ शिक्षा शास्त्री
7. डॉ0 राम शकल पाण्डेय - महान पश्चिमी शिक्षा शास्त्री
8. डॉ0 राम शकल पाण्डेय - शिक्षा के दार्शनिक एवं समाजशास्त्रीय पृष्ठ भूमि
9. रामनाथ शर्मा - भारतीय शिक्षा दर्शन
10. रमन बिहारी लाल - शिक्षा के दार्शनिक एवं समाजशास्त्रीय आधार
11. लक्ष्मी नारायण गुप्त - शिक्षा दर्शन
12. डॉ0 एल0के0 ओड़ - शिक्षा की दार्शनिक पृष्ठभूमि
13. डॉ0 सरजू प्रसाद चौबे - कुछ महान शिक्षक
14. पाठक एवं त्यागी - शिक्षा के सामान्य सिद्धान्त

अंग्रेजी की पुस्तकें –

1. D.A. Gullagher (Ed.),D.A.- Some Philosophers on Education
2. Rousseau, Jean Jaeques - Emile
3. Rousseau, Jean Jaeques - Social Contract
4. Ratner, Joseph - The Philosophy of John Deway
5. Baker, M.C. - Foundations of John Dewey's Educational theory.
6. Patel, M.S. - The Educational Philosophy of Mahatma Gandhi.
7. Pandey, R.S. - East-West thoughts of Education.
8. Rusk, R.R. - Doctrines of Great Educators
9. Radhakrishnan, S. - Mahatma Gandhi
10. Radhakrishnan, S. - The Philosophy of Rabindranath Tagore.

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

UGED-102
शिक्षा के दार्शनिक एवं सामाजिक आधार

खण्ड
3
दार्शनिक दृष्टिकोण से शैक्षिक समस्याएँ

इकाई-9
शिक्षा में व्यक्ति एवं समाज

इकाई-10
धर्म और शिक्षा

इकाई-11
शैक्षिक मूल्य

इकाई-12
स्वतंत्रता तथा अनुशासन

विशेषज्ञ समिति

प्रो0 एस0पी0 गुप्ता — निदेशक, शिक्षा विद्या शाखा,
उ0प्र0रा0ट0मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

प्रो0 राम शकल पाण्डेय — पूर्व आचार्य,शिक्षाशास्त्र विभाग,
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

प्रो0 हरिकेश सिंह — आचार्य, शिक्षा संकाय,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

परिमापक

डॉ0 सरोज पाण्डेय — वरिष्ठ उपाचार्य
एन0सी0ई0आर0टी0, नयी दिल्ली

सम्पादक

प्रो0 राम शकल पाण्डेय — पूर्व आचार्य, शिक्षाशास्त्र विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

लेखक

डॉ0 यू0 एन0 तिवारी — प्रवक्ता, शिक्षा विद्या शाखा,
उ0प्र0रा0ट0मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

© उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

सर्वाधिकार सुरक्षित। इस पाठ्य-सामग्री का कोई भी अंश उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति लिए बिना, मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

UGED-102 शिक्षा के दार्शनिक एवं सामाजिक आधार

खण्ड 1- शिक्षा के दार्शनिक आधार

इकाई-1 शिक्षा, दर्शन एवं शिक्षा -दर्शन

इकाई-2 प्रकृतिवाद

इकाई-3 आदर्शवाद

इकाई-4 प्रयोजनवाद तथा यथार्थवाद

खण्ड 2- प्रमुख शिक्षाशास्त्री

इकाई-5 प्लेटो एवं रूसो

इकाई-6 जॉन डीवी, माण्टेसरी एवं फ्रोबेल

इकाई-7 स्वामी विवेकानन्द एवं श्री अरविन्द घोष

इकाई-8 रवीन्द्र नाथ टैगोर एवं महात्मा गाँधी

खण्ड 3- दार्शनिक दृष्टिकोण से शैक्षिक समस्याएँ

इकाई-9 शिक्षा में व्यक्ति एवं समाज

इकाई-10 धर्म और शिक्षा

इकाई-11 शैक्षिक मूल्य

इकाई-12 स्वतंत्रता तथा अनुशासन

खण्ड 4- शिक्षा का सामाजिक आधार

इकाई-13 शिक्षा में समाजशास्त्र का योगदान तथा बालक का समाजीकरण

इकाई-14 संस्कृति और शिक्षा

इकाई-15 विद्यालय तथा समुदाय

इकाई-16 शिक्षा और सामाजिक परिवर्तन

खण्ड परिचय - 3 दार्शनिक दृष्टिकोण से शैक्षिक समस्यायें

सामाजिक विकास में वैयक्तिक विकास निहित होता है। जब हम बच्चों में सामाजिक भावनाओं का विकास करते हैं तो निःसन्देह व्यक्ति में ऐसे गुण उत्पन्न करते हैं जिसके द्वारा वह अपने तथा अपने साथियों के वैयक्तिक विकास में सहायक होता है। इस इकाई में व्यक्ति एवं समाज का वर्णन किया गया है। इकाई 9 में छात्रों को शिक्षा के सामाजिक एवं वैयक्तिक उद्देश्य से परिचित करायेगी। इस इकाई के अन्त में शिक्षा में व्यक्ति एवं समाज में संयोग स्थापित करने के उपायों का वर्णन किया गया है।

इकाई 10 धर्म और शिक्षा से सम्बन्धित है। अति प्राचीन काल में ही शिक्षा में धर्म का स्थान प्रमुख रहा है। धर्म और शिक्षा को पृथक नहीं किया जा सकता है। इसका प्रमुख कारण दोनों का लक्ष्य समान है। धर्म के द्वारा व्यक्ति का जीवन गुण और आदर्शों से सुशोभित होता है और उसकी बुरी प्रवृत्तियाँ नष्ट हो जाती हैं। यही लक्ष्य व्यक्ति के सर्वांगीण विकास में सहायक होती है। इस इकाई में धर्म का अर्थ एवं उनके कार्यों का वर्णन किया गया है । धर्म के अंग एवं हिन्दू धर्म पर भी प्रकाश डाला गया है। धर्म के साथ नैतिकता एवं शिक्षा की व्याख्या की गई है। धर्म निरपेक्ष भारत में धार्मिक शिक्षा के लक्ष्य, पाठ्य सामग्री एवं अध्यापक कैसे होने चाहिए? को स्पष्ट किया गया है और अन्त में धार्मिक शिक्षा के दोषों का भी उल्लेख किया गया है।

इकाई 11 में शैक्षिक मूल्य का वर्णन किया गया है। मूल्य ऐसी आचार संहिता या सदगुणों का समूह होता है। जिन्हें अपना कर व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का विकास करता है। इस इकाई में मूल्य का अर्थ एवं ह्रास का वर्णन किया गया है। मूल्यों का प्रकार एवं श्रेणियाँ बताई गई हैं । इसी इकाई में शिक्षा के उद्देश्यों का निर्णय एवं शिक्षा और मानव मूल्य का वर्णन किया गया है। इस प्रकार यह इकाई शिक्षार्थियों के मूल्यों के प्रति जागरूक करेगी।

स्वतंत्रता एवं अनुशासन में घनिष्ट सम्बन्ध है। दोनों एक सिक्के के दो पहलू के समान हैं। जिस प्रकार आत्मा के बिना शरीर बेकार है तथा शरीर के बिना आत्मा का अस्तित्व प्रकट नहीं हो पाता, उसी प्रकार अनुशासन एवं स्वतन्त्रता भी एक दूसरे पर निर्भर है। इकाई 12 में व्यवस्था और अनुशासन का वर्णन एक विश्लेषण किया गया है और व्यवस्था एवं अनुशासन के अन्तर को स्पष्ट किया गया है। तत्पश्चात् व्यवस्था के तीनों प्रकारों - निरोध, प्रभाव एवं मोक्षण की व्याख्या की गई है। अन्त में तीनों व्यवस्थाओं की समीक्षा की गई है।

इकाई 9 - शिक्षा में व्यक्ति एवं समाज

संरचना

9.1 प्रस्तावना

9.2 उद्देश्य

9.3 सैद्धान्तिक भूमिका

9.4 शिक्षा का वैयाक्तिक उद्देश्य

9.5 शिक्षा के वैयाक्तिक उद्देश्य के पक्ष में तर्क

9.6 शिक्षा के वैयाक्तिक उद्देश्य के विपक्ष में तर्क

9.7 शिक्षा का सामाजिक उद्देश्य

9.8 सामाजिक उद्देश्य के पक्ष में तर्क

9.9 सामाजिक उद्देश्य के विपक्ष में तर्क

9.10 शिक्षा में व्यक्ति और समाज का संयोग

9.11 सारांश

9.12 अभ्यास कार्य

9.13 बोध प्रश्नों के उत्तर

9.1 प्रस्तावना

समाजिक विकास में वैयाक्तिक विकास निहित होता है । जब हम बच्चों में सामाजिक भावनाओं का विकास करते हैं, तो निःसन्देह व्यक्ति में ऐसे गुण उत्पन्न करते हैं, जिनके द्वारा वह अपने तथा अपने साथियों के वैयाक्तिक विकास में सहायक होता है। प्रत्येक व्यक्ति किसी न किसी समाज का सदस्य होता है, इसलिए समाज के विकास के लिए व्यक्तियों का विकास आवश्यक है। व्यक्ति का विकास निर्भर करता है समाज पर। अतः व्यक्ति के विकास के लिए समाज का विकास भी आवश्यक है। इस इकाई में व्यक्ति एवं समाज का वर्णन किया गया है। यह इकाई छात्रों को शिक्षा के सामाजिक एवं वैयाक्तिक उद्देश्य से परिचित करायेगी। इस इकाई के अन्त में शिक्षा में व्यक्ति एवं समाज में समन्वय स्थापित करने के उपायों का वर्णन किया गया है।

9.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप इस योग्य हो जायेंगे कि

- व्यक्ति एवं समाज के सम्बन्धों की विवेचना कर सकेंगे ।
- शिक्षा के सामाजिक उद्देश्य को स्पष्ट कर सकेंगे ।
- शिक्षा के वैयक्तिक उद्देश्य की व्याख्या कर सकेंगे ।
- शिक्षा में व्यक्ति एवं समाज का समन्वय स्थापित कर सकेंगे ।

9.3 सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि (Theoretical Backgrounds)

व्यक्ति और समाज में कौन बड़ा है, यह एक विवादास्पद विषय है । कुछ विद्वानों ने शिक्षा में व्यक्ति को तो कुछ ने समाज को अधिक महत्वपूर्ण माना है । शिक्षा में व्यक्ति को अधिक महत्व देने वाले विद्वानों ने कहा है कि व्यक्ति ने समाज की रचना अपने कल्याण के लिए की है, इसलिए समाज को व्यक्ति के विकास में सहायक होना चाहिए। जीव विज्ञानियों के अनुसार व्यक्ति एक निश्चित जैविक इकाई है तथा इसके दैहिक विकास की गति सबके लिए अद्वितीय है। मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से भी मानव व्यक्ति के रूप में ही विकास करता है। मनोविज्ञान से ज्ञात होता है कि व्यक्ति अपनी योग्यताओं और क्षमताओं में अद्वितीय होता है, उसके समान कोई दूसरा नहीं होता है। यही कारण है कि प्रत्येक व्यक्ति में वैयाक्तिक भिन्नता पायी जाती है। व्यक्ति की योग्यता की मात्रा एवं संख्या में भिन्नता होने के साथ-साथ अन्तर्निहित शक्तियों के विकास में भी भिन्नता होती है। इसके विपरीत कुछ विद्वान बिना समाज के व्यक्ति की कल्पना ही नहीं करते हैं। उनका कहना है कि समाज से अलग व्यक्ति का कोई मूल्य नहीं होता, साथ ही व्यक्ति की अन्तर्निहित शक्तियों का विकास समाज में ही सम्भव है। इसीलिए इन विद्धानों ने व्यक्ति की अपेक्षा समाज को अधिक महत्व दिया है। शिक्षा में व्यक्ति की अपेक्षा समाज को महत्व देने वाले चिन्तकों में राजनीतिज्ञ एवं विज्ञानी भी हैं। राजनीतिज्ञ अपने विचार का मुख्य विषय प्राय समाज को ही बनाते हैं और यह मानते हैं कि राज्य समाज के लिए जो की कल्याणकारी कार्य करता है, वह अन्ततः व्यक्ति के विकास में ही योग देता है। इसी कारण राजनेता किसी एक व्यक्ति को ध्यान में रखकर कोई कार्य नहीं करता बल्कि वह सम्पूर्ण समाज के हित को ध्यान में रखकर कार्य करता है। उनका कहना है कि व्यक्ति का विकास कर्त्तव्य बिना असम्भव है, इसीलिए प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य है कि वह समाज के लिए अपने आपको न्यौछावर कर दें। इन विरोधी विचारधाराओं के कारण शिक्षा के क्षेत्र में भी विवाद है। कुछ विद्वान शिक्षा क द्वारा व्यकित के वैयाक्तिक विकास की बात करते हैं, तो कुछ विद्वान उसके सामाजिक विकास पर बल देते हैं।

बोध प्रश्न

टिप्पणी

(क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिये गये स्थान का प्रयोग कीजिए ।

(ख) अपने उत्तरों को इकाई के अन्त में दिये गये उत्तर से मिलान कीजिए।

1. व्यक्ति की अन्तर्निहित शक्तियों का विकास कहाँ होता है?

....

....

....

....

2. राजनीतिज्ञों के अनुसार व्यक्ति का क्या कर्त्तव्य है ?

....

....

....

....

9.4 शिक्षा का वैयक्तिक उद्देश्य

कुछ विचारकों ने समाज की अपेक्षा व्यक्ति को अधिक महत्व दिया है और उन्होंने कहा है कि शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति का वैयाक्तिक विकास करना होना चाहिए। शिक्षा के वैयाक्तिक उद्देश्य के सबसे बड़े समर्थक नन् महोदय माने जाते हैं । नन् के अनुसार वैयक्तिकता ही जीवन का आदर्श है। इस लिए प्रत्येक शिक्षा व्यवस्था द्वारा व्यक्ति को ''उच्चत्तम वैयाक्तिक श्रेष्ठता' प्रदान करनी चाहिए। कुछ विचारकों ने शिक्षा के वैयाक्तिक उद्देश्य को व्यक्तित्व तथा निजत्व का विकास भी कहा है।

विकास पर विचार करने पर पता चलता है कि भिन्न -भिन्न दर्शनों में वैयक्तिक विकास का अर्थ भिन्न-भिन्न लिया गया ।

आदर्शवादियों के अनुसार शिक्षा का अंतिम उद्देश्य व्यक्ति का आत्मानुभूति करने योग्य बनाना होना चाहिए। आत्मानुभूति का तात्पर्य आत्मज्ञान से है अर्थात् जैसा व्यक्ति उसे जानता है । दार्शनिक यूकेन महोदय के अनुसार वैयक्तिक का अर्थ

आध्यात्मिक व्यक्तित्व से ही लेना चाहिए।

प्रकृतिवादी वैयक्तिक विकास का भिन्न अर्थ लेते हैं। प्रकृतिवादी ये जानते है कि प्रत्येक व्यक्ति कुछ मूल शक्तियाँ लेकर पैदा होता है। रुसो के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को अपनी इन मूल शक्तियों के अनुसार विकास करने की पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिए। प्रकृतिवादी व्यक्ति को भाव प्रकाशन की स्वतन्त्रता देते। इसे ही आज आत्माभिव्यक्ति के उद्देश्य के नाम से जाना जाता है। मनो विश्लेषणवादी भी आत्म प्रकाशन के महत्व को स्वीकार करते है।

मनोवैज्ञानिकों के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य बच्चे की रूचि, रूझान एवं आवश्यकतानुसार उसका विकास करना होना चाहिए। शिक्षा जगत में इस प्रकार की बात सबसे पहले पेस्टालानी ने कही थी। आज तो प्रत्येक व्यक्ति इस सत्य को स्वीकार करता है। यह शिक्षा के वैयक्तिक विकास के उद्देश्य का ही एक रूप है।

वैयक्तिक विकास के उद्देश्य के पक्ष में जितने भी तर्क दिये जाते है, उन सभी का सम्बन्ध व्यक्ति की स्वतन्त्रता से सर्वाधिक है। वैयक्तिक स्वतन्त्रता लोकतन्त्र का आधार है जिसके अभाव मे लोकतन्त्रीय जीवन पद्धति एवं शासन पद्धति सम्भव नहीं है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी प्रत्येक व्यक्ति अद्वितीय है और उसमें यह योग्यता है कि अपनी सार्मथ्यनुसार वह सामाजिक प्रगति में योगदान कर सके। वैयक्तिक विकास के उद्देश्य में व्यक्ति की स्वतन्त्रता का महत्व दिया जाता है। यह उद्देश्य व्यक्ति को आत्मानुभूति में मदद करता है। इसी उद्देश्य द्वारा आत्म प्रकाशन भी हो सकता है।

वैयक्तिक विकास के उद्देश्य में अनेक गुण होते हुये भी कुछ कमियां है । यह उद्देश्य व्यक्तिवाद को बढ़ावा देता है और समाज को विघटित करता है। वातावरण की उपेक्षा करता है और व्यक्ति की सामाजिक दर्शन के दृष्टिकोण की भी उपेक्षा करता है, जैसा कि रास महोदय ने कहा है कि 'उस मामाजिक वातावरण से अलग वैयात्तिकता, मूल्यहीन एवं व्यक्तित्व निरर्थक पद है, जिसमें इनका विकास होता है और जहाँ इन्हे प्रभावशाली बनाया जाता है ।

9.5 वैयक्तिक उद्देश्य के पक्ष में तर्क

प्रत्येक दृष्टिकोण की कुछ विशेषताएं एवं कुछ विषमताएं होती है, जिसे शिक्षा शास्त्री अपने अनुसार परिभाषित करते है। शिक्षा क वैयात्तिक उद्देश्य के पक्ष में निम्नलिखित तर्क दिया जा सकता है-

1. प्रत्येक व्यक्ति का अपना निजत्व होता है इसी कारण वह दूसरों से भिन्न होता है। इसलिए शिक्षा द्वारा व्यक्ति के निजत्व का विकास किया जाना चाहिए।

2. मनोविज्ञान ने यह सिद्ध किया है कि व्यक्तियों में वैयक्तिक भिन्नता होती है। यह भिन्नता उनकी रूचि, वृद्धि, संवेग आदि में पायी जाती है। इसलिए प्रत्येक बालक को उसकी रूचि, बुद्धि एवं संवेग आदि के अनुसार शिक्षा दी जानी चाहिए।

3. व्यक्ति के विकास से समाज का विकास होता है। इसीलिए शिक्षा द्वारा व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास किया जाना चाहिए।

4. व्यक्ति की स्वतन्त्रता का दमन करने से व्यक्ति विद्रोह करता है। इसलिए व्यक्ति की स्वतन्त्रता का दमन न करके उसको आत्म अभिव्यक्ति का पूर्ण अवसर दिया जाना चाहिए।

5. बालक के स्वतन्त्र विकास के अवसर न उपलब्ध होने पर उनमें विभिन्न प्रकार की मानसिक ग्रन्थियाँ उत्पन्न हो जाती हैं, हीनता की भावना पैदा हो जाती है, और इस कारण उसका व्यवहार असामाजिक हो जाता है। इसलिए शिक्षा द्वारा बालक को अपना स्वतन्त्र विकास करने का अक्सर दिया जाना चाहिए।

6. प्रजातान्त्रिक व्यवस्था में व्यक्ति का महत्व स्वीकार कर उसे अपने व्यक्तित्व विकास का अवसर दिया जाता है। इसलिए शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति का वैयक्तिक विकास होना चाहिए।

शिक्षा के उद्देश्य के सम्बन्ध में इंग्लैण्ड के शिक्षा बोर्ड ने वैयक्तिक उद्देश्य का समर्थन किया और कहा कि 'प्रत्येक विद्यालय अपना उद्देश्य उस सीमा तक पूर्ण करते हैं, जिस सीमा तक वे वैयाक्तिता की स्वतन्त्र विकास के लिए अवसर प्रदान करते हैं और प्रत्येक बालक एवं बालिका को अधिक से अधिक वैयक्तिक विकास करने में सामाजिक जीवन द्वारा सहायता करते हैं ।'

9.6 वैयक्तिक उद्देश्य के विपक्ष में तर्क

शिक्षा के वैयक्तिक उद्देश्य के विपक्ष में निम्ननिलिखित तर्क दिये जा सकते हैं:

1. शिक्षा का वैयाक्तिक उद्देश्य व्यक्तिवाद का समर्थक होने के कारण समाजवाद का विरोध करता है, और व्यक्ति के वैयाक्तिक विकास हेतु सभी प्राकार की स्वतन्त्रता देने की बात करता है।

2. शिक्षा के वैयक्तिगत उद्देश्य से व्यक्ति का महत्व बढ़ता है, और समाज का महत्व कम होता है। व्यक्ति को अधिक महत्व देना समाज के लिए अहितकर है, क्योंकि इससे व्यक्ति में अहंकार की भावना आती है और वह सामज विरोधी कार्य करने में डरता नहीं है।

3. व्यक्ति एक समाजिक प्राणी है। वह अपने व्यक्तित्व का विकास समाज में

ही करता है। इसलिए सामाजिक विकास के बिना वैयक्तिक विकास की बात करना बेकार है।

4. वैयाक्तिक विकास का उद्देश्य वैयाक्तिकता को इतना अधिक बढ़ावा देता है कि उससे व्यक्ति स्वतन्त्र एवं स्वच्छन्द व्यवहार की ओर अग्रसर हो जाता है तथा समाज विरोधी कार्य में सम्मिलित हो जाता है।

5. शिक्षा के वैयाक्तिक उद्देश्य से बालको में सामाजिकता की भावना का विकास नही हो पाता है।इस कारण वह स्वार्थी हो जाता है।

6. शिक्षा का वैयाक्तिक उद्देश्य बहुत अव्यवाहारिक है, क्योंकि वैयाक्तिक भिन्नताओं के अनुसार सभी बालकों के लिए शिक्षा की व्यवस्था, पाठ्यक्रम का निर्माण तथा शिक्षकों की नियुक्ति करना बहुत कठिन है।

शिक्षा के वैयाक्तिक उद्देश्य के पक्ष एवं विपक्ष के तर्कों के आधार पर कहा जा सकता है कि वैयाक्तिक विकास की दृष्टि से यह उद्देश्य उत्तम है। चूँकि यह उद्देश्य समाज की अवेहना करता है इस लिए वैयाक्तिक उद्देश्य को एक मात्र उद्देश्य नहीं माना जा सकता है। यह उद्देश्य अपूर्ण एवं एकाकी है, क्योंकि व्यक्ति सामाजिक प्राणी है। समाज के बगैर व्यक्ति की कल्पना नहीं की जा सकती है, यह परम सत्य है। इस सम्बन्ध में रास का कथन है कि 'सामाजिक वातावरण से अलग वैयाक्तिकता का कोई मूल्य नही है, और व्यक़्तित्व का कोई अर्थ नहीं।'

बोध प्रश्न

टिप्पणी

(क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिये गये स्थान का प्रयोग कीजिए ।

(ख) अपने उत्तरों को इकाई के अन्त में दिये गये उत्तर से मिलान कीजिए।

3 वैयक्तिक विकास के उद्देश्य को किस दूसरे नाम से जाना जाता है ?

....

....

....

4. वैयक्तिक विकास के उद्देश्य में किस बात को महत्व दिया जाता है ?

....

....

....

5.वैयक्तिक विकास के उद्देश्य की तीन कामियाँ बताइये ।

(क) ....

(ख) ....

(ग) ....

9.7 शिक्षा का समाजिक उद्देश्य (Social Aim of Education)

व्यक्ति की अपेक्षा समाज को अधिक महत्व देने वालों के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य सामाजिक भावना का विकास करना होना चाहिए। यही शिक्षा का सामाजिक उद्देश्य है। विद्वानों ने सामाजिक उद्देश्यय की सीमाएं अपने-अपने दृष्टिकोण से निश्चित की है-

आदर्शवादियों का मानना है कि सभी प्राणियों में एक समान तत्व आत्मा है। इस दृष्टिकोण से सारा संसार एक कुटुम्ब है औंर सभी प्राणी इसके सदस्य हैं। अपने सुखमय जीवन और ईश्वर की प्राप्ति के लिए हमें एक दूसरे से प्रेम करना चाहिए। अतः शिक्षा को व्यक्तियों के अन्दर प्रेम की भावना का विकास करना चाहिए, जिससे वे एक दूसरे की सेवा करते हुए ईश्वर की ओर उन्मुख हों। आदर्शवादी शिक्षा के सामाजिक विकास के उद्देश्य से यही अर्थ लेते हैं।

मनोविज्ञान के अनुसार मनुष्य मे सामूहिकता की मूल प्रवृत्ति होती है। इसी प्रवृत्ति के कारण वह समूह में रहता है। अपनी जाति के प्राणियों के प्रति प्रेम, सहयोग, सहानुभूति, दया, क्षमा, सहनशीलता आदि की भावना रखना ही सामाजिकता है। इन्हीं गुणों का विकास सामाजिकता का विकास है। यर्थाथवादी शिक्षा के सामाजिक उद्देश्य को इसी रुप में लेते हैं। प्रो. बागले एवं जान डीवी ने सामाजिक उद्देश्य का अर्थ एक दूसरे प्रकार से किया है। उनके अनुसार सामाजिक उद्देश्य का तात्पर्य सामाजिक दक्षता से है। सामाजिक उद्देश्य का तात्पर्य यह है कि व्यक्तियों के बीच में सहयोग एवं सामाजिक भावना का विकास किया जाय। रेमण्ड का कथन समाजविहीन व्यक्ति कल्पना की खोज है।' का तात्पर्य इसी सामाजिक भावना को प्रमुखता देने से है। जान डीवी द्वारा प्रतिपादित सामाजिक दक्षता, सामाजिक उद्देश्य का सरल एवं उदार दृष्टिकोण है। डीवी ने सामाजिक दक्षता के अन्तर्गत नागरिकता सम्बन्धी दक्षता एवं व्यावसायिक दक्षता को शामिल किया है। डीवी ने बल दिया है कि विद्यालय का आदर्श इन्हीं दोनों प्रकार की दक्षताओं की प्राप्ति होना चाहिए।

सामाजिक उद्देश्य के पक्ष में अनेक तर्क दिये जा सकते हैं । समाज व्यक्ति का आधारभूत तत्व है यही एक ऐसी स्थिति है, जो मनुष्य को पशुओं से पृथक करती है। समाज विहीन व्यक्ति कोरी कल्पना है, व्यक्ति समाज में ही उत्पन्न होता है, समाज में ही उसका पालन-पोषण होता है, वह समाज में रहकर ही अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। समाज ही व्यक्ति को सभ्य बनाता है और उसे नागरिकता का पाठ पढ़ाता है। समाज व्यक्ति को इस प्रकार के अवसर प्रदान करता है कि व्यक्ति आत्म प्रकाशन कर सके तथा अपने विचारों का आदान प्रदान कर सके। मानव जीवन की समस्त क्रियाएं समाज का आधार लेकर ही होती हैं। समाज के अभाव में व्यक्ति का अस्तित्व भी कठिन होगा।

शिक्षा में सामाजिक उद्देश्य पर आवश्यकता से अधिक बल देने पर लाभ के स्थान पर हानियाँ होने लगती हैं, इसलिए बहुत से विद्वान इसके पक्ष में नहीं हैं। इस हेतु निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत किये जा सकते हैं- सामाजिक उद्देश्य प्रायः अमनोवैज्ञानिक होता है, यह व्यक्ति की रुचियों, योग्यताओं, अभिवृत्तियों एवं अभियोग्यताओं की उपेक्षा करता है। सामाजिक उद्देश्य सबकों समान रूप से समाज का साधन मानकर व्यक्तिगत भेद को तिरस्कृत करता है। यह व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का दमन करता है। यह संकुचित राष्ट्रीयता का विकास करता है। यह स्वयं व्यक्तियों से ही निर्मित है, किन्तु व्यक्तियों की ही उपेक्षा करता है। अतः सामाजिक उद्देश्य को एकांगी कहा जाता है।

सामाजिक उद्देश्य के पक्ष में तर्कः- शिक्षा के सामाजिक उद्देश्य के पक्ष में निम्नलिखित तर्क दिया जा सकता है-

1. शिक्षा का सामाजिक उद्देश्य बहुत व्यापक उद्देश्य है। इससे व्यक्ति अपने सम्पूर्ण व्यक्तित्व का विकास करके सामाजिक कल्याण के प्रति उन्मुख होता है।

2. व्यक्ति समाज का अभिन्न अंग होता है । व्यक्ति की समस्त शक्तियों एवं गुणों का विकास समाज में ही होता है। समाज के हित मे ही व्यक्ति का हित निहित होता है।

3. सामाजिक कुशलता से व्यक्ति के व्यक्तित्व में निखार आता है, यह व्यक्ति को मर्यादित करती है और व्यक्ति के दुष्प्रवृत्तियों एवं बुरे विचारों पर अंकुश लगाती है।

4. व्यक्ति के जन्मजात प्रवृत्तियों का शोधन एवं मार्गान्तीकरण समाज में ही होता है। अच्छे सामाजिक परिवेश के बिना व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का विकास नही कर सकता है। इस दृष्टि से शिक्षा का समाजिक उद्देश्य अत्याधिक महत्वपूर्ण हो जाता

है।

5. व्यक्तियों में प्रेम सहयोग, सहकारिता एंव बधुत्व जैसे गुणों का विकास करेन के लिए शिक्षा के सामाजिक उद्देश्य को महत्व दिया जाना चाहिए तभी समाज का हित एवं कल्याण हो सकता है।

6. व्यक्ति की सभ्यता एवं संस्कृति का जन्म, सरंक्षण एवं पोषण समाज में ही होता है, भावी पीढ़ी को इसका पूर्ण ज्ञान हो, इस दृष्टि से शिक्षा का सामाजिक उद्देश्य बहुत महत्वूपर्ण है।

7. व्यक्ति के व्यक्तित्व विकास के लिए समाजिक विकास आवश्यक है और सामाजिक विकास सामाजिक उद्देश्य से होता है। इस सम्बन्ध में बाल्डविन ने कहा है कि 'व्यक्तित्व को सामाजिक शब्दों के अतिरिक्त और किसी प्रकार व्यक्त नहीं किया जा सकता है।'

8. किसी भी राष्ट्र की सफलता उसके नागरिकों पर निर्भर करती है, इसलिए व्यक्तियों में आदर्श नागरिकता, समाज सेवा एवं देश प्रेम की भावना का विकास करने के लिए शिक्षा के सामाजिक उद्देश्य को महत्व किया जाना चाहिए।

9.9 सामाजिक उद्देश्य के विपक्ष में तर्कः- शिक्षा के समाजिक उद्देश्य के विपक्ष में निम्नलिखित तर्क दिया जा सकता है :

1. शिक्षा के सामाजिक उद्देश्य के कारण व्यक्ति का चिन्तन क्षेत्र संकुचित हो जाता है। इससे उसके स्वतन्त्र चिन्तन करने की क्षमता, अभिव्यक्ति एवं कार्य करने की योग्यता विकसित नही हो पाती, फलतः वह अपने सीमित क्षेत्र में विकसित होता है।

2. शिक्षा का सामाजिक उद्देश्य व्यक्ति के सामाजिक विकास पर अधिक बल देता है, इससे व्यक्ति का सर्वांगीण विकास नहीं हो सकता इस लिए यह उद्देश्य एकपक्षीय एवं एकांगी है।

3. शिक्षा का सामाजिक उद्देश्य बालक की वैयक्तिक भिन्नताओं अर्थात् उनकी रुचियों, क्षमताओं तथा योग्यताओं आदि पर ध्यान न देकर सभी को एक प्राकार की शिक्षा देती है जो मनोविज्ञान के अनुसार ठीक नहीं है।

4. शिक्षा के सामाजिक उद्देश्य में व्यक्ति के सामाजिक विकास को अधिक महत्व दिया जाता है। इस कारण इसके मानसिक, चारित्रिक, संवेगात्मक एवं आध्यात्मिक विकास की उपेक्षा होती है।

5. इस उद्देश्य से बालकों में अपने समाज एवं राष्ट्र को ही सर्वश्रेष्ठ मानने की भावना विकसित होती है। इस प्रकार की भावना संकुचित राष्ट्रीयता की भावना उत्पन्न

करती है। इससे उनमें अन्तर्राष्ट्रीय भावना विकसित करने में समस्या उत्पन्न होती है।

6. समाज के विकास के लिए व्यक्ति का विकास आवश्यक होता है। किसी भी व्यक्ति में सामाजिक कुशलता के लिए उसकी वैयाक्तिकता का विकास आवश्यक है। इसलिए शिक्षा का सामाजिक उद्देश्य अधूरा है।

7. सामाजिक कुशलता की भावना व्यक्ति को अर्थोपार्जन के योग्य बनाती है, जिससे व्यक्ति की वुद्धि व्यवासायिक हो जाती है। इससे इसका ध्यान सिर्फ व्यवसाय की ओर लगा रहता है। फलतः व्यक्ति के नैतिक एवं जीवन मूल्यों की उपेक्षा होती है।

शिक्षा के सामाजिक उद्देश्य के पक्ष एवं विपक्ष के तर्कों के आधार पर कहा जा सकता है कि सामाजिक उद्देश्य में अनेकों विशेषताओं के साथ कुछ दोष भी हैं। इसलिए शिक्षा का उद्देश्य सिर्फ बालक का सामाजिक विकास नहीं हो सकता। सामाजिक उद्देश्य के साथ-साथ वैयाक्तिक उद्देश्य को भी महत्व दिया जाना चाहिए।

बोध प्रश्न

टिप्पणी

(क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिये गये स्थान का प्रयोग कीजिए ।

(ख) अपने उत्तरों को इकाई के अन्त में दिये गये उत्तर से मिलान कीजिए।

6 समाजिक उद्देश्य का क्या तात्पर्य है ?

....

....

....

7. सामाजिक उद्देश्य के तीन दोष बताइये ?

(क) ....

(ख) ....

(ग) ....

9.10 शिक्षा में व्यक्ति एवं समाज का संयोग (समन्वय)

शिक्षा के वैयक्तिक एवं सामाजिक उद्देश्य पर विचार करने के पश्चात् यह ज्ञात होता है कि अपने उग्ररुप में इनमे से कोई भी उद्देश्य मान्य नहीं हो सकता। व्यक्ति के आगे समाज और समाज के आगे व्यक्ति को नहीं भुलाया जा सकता है। इसलिए शिक्षा का उपयुक्त उद्देश्य वही होगा, जो व्यक्ति और समाज दोनों के विकास पर समान रूप से

बल दे। इसलिए इन दोनों उद्देश्यों में समन्वय की आवश्यकता है।

वैयक्तिक उद्देश्य व्यक्ति के वैयक्तिक विकास पर बल देता है, पर वैयक्तिक विकास कैसे होगा? अरस्तु का कथन है कि 'व्यक्ति सामाजिक प्राणी है।' व्यक्ति जो कुछ सीखता है, वह समाज में रहकर ही सीखता है, समाज के अभाव में वह कुछ नहीं सीख सकता। यदि इस बात पर विचार करे कि समाज व्यक्ति के वैयक्तिक विकास में कब और कैसे सहायक हो सकता है? तो उत्तर स्पष्ट है कि जब व्यक्ति अपने आपको समाज के लिए और समाज अपने को व्यक्ति के लिए तैयार कर ले। यही समाजिक भावना है । इससे स्पष्ट है कि बिना सामाजिक विकास के वैयक्तिक विकास हो ही नहीं सकता।

समाजिक विकास में वैयक्तिक विकास निहित होता है। जब हम बच्चो में सामूहिक भावना का विकास करते हैं, तो निःसन्देह, व्यक्ति में ऐसे गुण उत्पन्न करते हैं, जिनके द्वारा वह अपने तथा अपने साथियों के वैयक्तिक विकास में सहायक होता है। व्यक्ति को अपना वैयाक्तिक विकास उसी सीमा तक करने दिया जा सकता है, जिस सीमा तक इससे उसका और समाज दोनों का भला होता है। प्रत्येक व्यक्ति किसी न किसी समाज का सदस्य होता है, इसीलिए समाज के विकास के लिए व्यक्तियों का विकास आवश्यक है, और व्यक्ति का विकास निर्भर करता है, समाज पर। अतः व्यक्ति के विकास के लिए समाज का विकास भी आवश्यक है।

व्यक्ति एवं समाज में उचित समन्वय हेतु एक आदर्श राष्ट्र की आवधारणा आवश्यक है। जहाँ व्यक्ति एवं समाज एक सूत्र में बंधे हो, जहाँ एक का उद्देश्य दूसरे के उद्देश्य में बाधक न हो, जहाँ दोनों ही एक -दूसरे को लाभ देने का प्रयास करते हो। ऐसा समाज व्यक्ति का विरोधी न होकर उसके विकास में सहायक होता है। जैसा कि नन महोदय ने कहा है कि व्यक्ति एवं समाज एक दूसरे के पूरक होते हैं ।

बोध प्रश्न

टिप्पणी

(क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिये गये स्थान का प्रयोग कीजिए ।

(ख) अपने उत्तरों को इकाई के अन्त में दिये गये उत्तर से मिलान कीजिए।

8. व्यक्ति एवं समाज में समन्वय क्यों आवश्यक है?

....

....

9. समाज व्यक्ति के विकास में कब और कैसे सहायक हो सकता है?

....

....

10. व्यक्ति एवं समाज में उचित समन्वय स्थापित करने हेतु तीन उपाय बताइये।

....

....

9.11 सारांश

इस इकाई में व्यक्ति एवं समाज के सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि को स्पष्ट किया गया और व्यक्ति एवं समाज के महत्व को बताया गया इसके बाद शिक्षा के सामाजिक उद्देश्य का वर्णन किया गया है और इसके पक्ष में तर्क दिया गया कि यही एक ऐसी स्थिति है, जो व्यक्ति को पशुओं से पृथक करती है। समाजविहीन व्यक्ति कोरी कल्पना है। समाजिक उद्देश्य के साथ ही शिक्षा के वैयक्तिक उद्देश्य को भी स्पष्ट किया गया है। यह उद्देश्य व्यक्ति को आत्मनुभूति मे मदद करता है, जिससे उसका आत्म प्रकाशन होता है। अन्त में इस इकाई में व्यक्ति एवं समाज के समन्वय की व्याख्या की गयी है और बताया गया है कि यदि व्यक्ति एवं समाज एक सूत्र मे बँधे हों, एक का उद्देश्य दूसरे के उद्देश्य में बाधक न हो तथा दोनों एक दूसरे को लाभ देने का प्रयास करते हों, तो व्यक्ति एवं सामाज में संयोग स्थापित किया जा सकता है।

9.12 अभ्यास कार्य

1. व्यक्ति एवं समाज की सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि की विवेचना कीजिए।

2. शिक्षा के सामाजिक उद्देश्य को स्पष्ट कीजिए।

3. शिक्षा के वैयक्तिक उद्देश्य का वर्णन कीजिए।

4. क्या आप महसूस करते हैं कि व्यक्ति एवं समाज में समन्वय स्थापित हो सकता है? यदि हाँ तो कैसे? और यदि नहीं तो क्यों नहीं?

9.13 बोध प्रश्नों के उत्तर

1. समाज में

2. राजनीतिज्ञो का विचार है कि व्यक्ति का विकास समाज के बिना असम्भव है, इसलिए प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य है कि वह समाज के लिए अपने आपकों

न्योछावर कर दें ।

3. व्यक्तित्व तथा निजत्व का विकास

4. व्यक्ति की स्वतन्त्रता को

5. (क) यह व्यक्तिवाद के बढ़ावा देता है, और समाज को विघटित करता है।

(ख) यह व्यक्ति की सामाजिक प्रकृति की अवेहना करता है।

(ग) यह सामाजिक दर्शन के दृष्टिकोण की उपेक्षा करता है।

6. सामाजिक उद्देश्य का तात्पर्य व्यक्तियों के बीच में सहयोग एवं सामाजिक भावना का विकास करना है।

7. (क) यह अमनोवैज्ञानिक होता है।

(ख) यह व्यक्ति की रुचियों, योग्यताओं, अभिवृत्तियों एवं अभियोग्यताओं की उपेक्षा करता है।

(ग) यह व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का दमन करता है।

8. व्यक्ति के आगे समाज और समाज के आगे व्यक्ति को नही भुलाया जा सकता, इसीलिए व्यक्ति एवं समाज में समन्वय आवश्यक है।

9. जब व्यक्ति अपने आपको समाज के लिए और समाज अपने को व्यक्ति के लिए तैयार करलें।

10 (क) व्यक्ति एवं समाज एक सूत्र में बंधे हो ।

(ख) व्यक्ति एवं समाज के उद्देश्य एक दूसरे के बाधक न हो।

(ग) व्यक्ति एवं समाज एक दूसरे को लाभ देने का प्रयास करें

इकाई 10 - धर्म और शिक्षा

संरचना

10.1 प्रस्तावना

10.2 उद्देश्य

10.3 धर्म का अर्थ

10.4 धर्म के कार्य

10.4.1 आध्यात्मिक विकास

10.4.2 ईश्वरीय गुणों का विकास

10.4.3 भावनाओं का उदात्तीकरण

10.4.4 सामाजिक पक्ष

10.5 धर्म के अंग

10.6 हिन्दू धर्म

10.7 धर्म एवं नैतिकता में सम्बन्ध

10.8 धर्म एवं शिक्षा में सम्बन्ध

10.9 शिक्षा में धर्म का स्थान

10.10 धार्मिक शिक्षा की आवश्यकता एवं महत्व

10.11 धर्म निरपेक्ष भारत और धार्मिक शिक्षा

10.11.1 धार्मिक शिक्षा के लक्ष्य

10.11.2 धार्मिक शिक्षा तथा अध्यापक का उत्तरदायित्व

10.11.3 धार्मिक शिक्षा तथा पाठ्य सामग्री

10.12धार्मिक शिक्षा के अवगुण

10.13 सारांश

10.14 अभ्यास कार्य

10.15 बोध प्रश्नों के उत्तर

10.1 प्रस्तावना

अति प्राचीन काल से ही धर्म का स्थान शिक्षा में प्रमुख रहा है। जीवन शिक्षा और धर्म तीनों का पारस्परिक सम्बन्ध रहा हे। शिक्षा का अतीत यही बताता है कि

प्राचीन काल के शिक्षक धार्मिक संस्थाओं से जुड़े रहते थे और शिक्षा भी धर्म से सम्बन्धित नियमों और तत्वों को जानने में प्रयासरत थी। मध्यकाल में धार्मिक संस्थाए जैसे मन्दिर, मस्जिद, चर्च विद्यालय के रूप में कार्य करते थे। वर्तमान समय में भी धार्मिक संस्थान आर्थिक सहायता शिक्षा संस्थानों को उपलब्ध कराती हैं। लेकिन शिक्षण कार्य प्राचीन काल से सम्बन्धित नहीं है। इस सबके परिणाम स्वरूप वर्तमान समय में लोगों का विचार धर्म निरपेक्ष हो रहा है। विज्ञान एवं भौतिकता ने लोगों के विश्वास में परिवर्तन ला दिया है, इसके बावजूद शिक्षाशास्त्री शिक्षा में धर्म की आवश्यकता महसूस करते हैं। अतः वर्तमान समय में शिक्षा द्वारा धर्म का ज्ञान कराना एक महत्वपूर्ण कार्य माना जाता है।

धर्म और शिक्षा को अलग नहीं किया जा सकता है। इसका प्रमुख कारण दोनों का लक्ष्य समान है। धर्म के द्वारा व्यक्ति का जीवन, गुण और आदर्शों से सुशोभित होता है और उसकी बुरी प्रवृतियाँ नष्ट हो जाती हैं। यही लक्ष्य व्यक्ति के व्यक्तित्व के सर्वांगीण विकास में सहायक होती है। इस इकाई में धर्म का अर्थ एवं उनके कार्यों का वर्णन किया गया है। धर्म के अंग एवं हिन्दू धर्म पर भी प्रकाश डाला गया है।धर्म के साथ नैतिकता एवं शिक्षा के सम्बन्धों की व्याख्या की गयी। धर्म निरपेक्ष भारत में धार्मिक शिक्षा के लक्ष्य, पाठ्य सामग्री ण्वं अध्यापक कैसे होने चाहिए यह भी स्पष्ट किया गया है और अन्त में धार्मिक शिक्षा के दोषों का भी उललेख किया गया है।

10.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप इस योग्य हो जायेंगे कि -

- धर्म का अर्थ एवं कार्य बता सकेंगे।
- धर्म के अंग एवं हिन्दू धर्म के विषय में बता सकेंगे।
- धर्म एवं नैतिकता में सम्बन्ध स्थापित कर सकेंगे।
- धर्म एवं शिक्षा के सम्बन्ध की विवेचना कर सकेंगे।
- धर्म निरपेक्ष भारत में धार्मिक शिक्षा कैसी हो इसका निर्धारण कर सकेंगे।
- धार्मिक शिक्षा के दोष बता सकेंगे।

10.3 धर्म का अर्थ - (Meaning of Religion)

मानव जीवन के मुख्य रूप से तीन पक्ष होते हैं। प्राकृतिक, सामाजिक एवं आध्यात्मिक। उसने अपने इन तीनों पक्षों के विकास के लिये अपने अनुभवों के आधार पर कुछ सिद्धान्त एवं नियम निश्चित किये हैं। सामान्यत आध्यात्मिक पक्ष के

सिद्धान्तों एवं नियमों के पालन को धर्म कहते हैं। धर्म शब्द का अर्थ लोग विभिन्न प्रकार से लगाते हैं। कुछ लोग धर्म को पूजा, पाठ, कथा, व्रत, उपवास, प्रार्थना समाज आदि तक ही सीमित मानते हैं। इनके अनुसार ये क्रियाएँ ही धर्म हैं। ये लोग चन्दन, चोटी, जनेऊ, टाई, तुर्की टोपी, दाढ़ी आदि को धार्मिक व्यक्ति का लक्षण मानते हैं। किन्तु ये सब धर्म के बाह्य रूप से सम्बन्धित होते हैं। धर्म शब्द की व्याख्या करते ही उसका सही अर्थ प्राप्त होता है।

धर्म शब्द संस्कृत की 'धृ' धातु से बना है। जिसका अर्थ है धारण करना। अतः धर्म का अर्थ है - जो धर्म सत्ता से सम्बद्ध हो जाता है। और मानवता, मनुष्यता आदि बातों का बोध कराते हुए कर्त्तव्य का अर्थ देने लगता है। धर्म को अग्रेजी में 'रिलीजन' कहा जाता है, परन्तु 'रिलीजन' शब्द धर्म का प्रतीक नहीं है। धर्म शब्द बहुत व्यापक शब्द है और यह मन या सम्प्रदाय जैसा संकुचित शब्द नहीं है क्योंकि मत या सम्प्रदाय शब्द एक सीमित एवं निश्चित विचारधारा होती है और उसकी अपनी कुछ विशेषताएं। मत या सम्प्रदाय के अपने नियम, अपने ग्रंथ एवं अपने प्रवर्तक होते हैं। जब कि धर्म मानवता से सम्बन्धित होता है और मत या सम्प्रदाय से ऊपर होता है। मत या सम्प्रदाय की श्रेणी में आने वाली कुछ विचारधाराएं निम्न पंथों से सम्बन्धित है- नानक पंथ, राधास्वामी, जैन, बौद्ध, इस्लाम एवं ईसाई आदि। यहाँ धर्म का आशय विभिन्न प्रकार के भेदों एवं विभिन्नताओं से न होकर एकता एवं कर्त्तव्य से है। विद्वानों के अनुसार मनुष्य का मनुष्य के प्रति कर्त्तव्य का दुसरा नाम ही धर्म है। इस दृष्टि से धर्म एवं कर्त्तव्य में कोई अन्तर नहीं होता। आध्यात्मिक दृष्टि से दूसरों की सेवा करना धर्म होता है। और सामाजिक दृष्टि से कर्त्तव्य।

बोध प्रश्न

टिप्पणी

(क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिये गये स्थान का प्रयोग कीजिए ।

(ख) अपने उत्तरों को इकाई के अन्त में दिये गये उत्तर से मिलान कीजिए।

1. धर्म का क्या अर्थ है।

....

....

10.4 धर्म के कार्य

धर्म के निम्नलिखित कार्य बताये जा सकते हैं —

10.4.1 अध्यामिक विकास

धर्म व्यक्ति की आध्यात्मिकता से सम्बन्धित होता है। व्यक्ति सुख की खोज में इधर-उधर भटकता रहा है। सुख एवं आनन्द एक प्रकार की अनुभूति है, जिसकी प्राप्ति आध्यामिकता के बगैर हो ही नहीं सकती। इसलिए व्यक्ति सुख की खोज में धर्म का सहारा लेकर आध्यात्मिकता के मार्ग पर चल देता है। व्यक्ति की पूर्णता का आधार आध्यात्मिकता होती है। व्यक्ति पूर्णता की आकांक्षा करता है इस ओर उन्मुक्त होता है। व्यक्ति की पूर्णता प्राप्ति होने तक उसकी इच्छा अतृप्त रहती है,इसी को दूर करने के लिये वह सभी प्राणियों से प्रेम एवं भक्ति की भावना रखता है। इसलिये धर्म को व्यक्ति की आध्यात्मिक मार्ग का पथ प्रदर्शक कहा जाता है।

10.4.2 ईश्वरीय गुणों का विकास

धर्म के संकुचित एवं व्यापक अर्थ में इस बात पर बल दिया जाता है कि व्यक्ति परमात्मा (ईश्वर) में विश्वास करे, जो शक्तिशाली होता है। व्यक्ति ईश्वर पर विश्वास करके ही अपने को ईश्वर से जोड़ता है। इस प्रकार धर्म व्यक्ति एवं परमात्मा (ईश्वर) के बीच संबन्ध स्थापित करता है और उसमें ईश्वरीय गुणों का विकास करता है। व्यक्तियों में ईश्वरीय गुणों का विकास तभी हो सकता है जब काफी अच्छाइयों को अपनायें एवं बुराईयों को त्यागे। धर्म व्यक्ति को बुराईयाँ त्यागने एवं अच्छाईयों को अपनाने की प्रेरणा देता है।

10.4.3 भावनाओं का उदात्तीकरण

धर्म व्यक्ति की भावनाओं का उदात्तीकरण करता है। इसी कारण जो व्यक्ति धार्मिक होता है वह ईश्वर को सर्वत्र विद्यमान मानता है। धार्मिक व्यक्ति की यह मान्यता होती है कि इस दुनिया को व्यक्ति /मनुष्य नहीं ईश्वर चला रहा है। उसके अनुसार ईश्वर कण-कण में विद्यमान है। वही पालनहार है यही विचार व्यक्ति में ईश्वर के प्रति प्रेम एवं श्रद्धा उत्पन्न करता है। यह प्रेम एवं श्रद्धा व्यक्ति को आनन्द प्रदान करता है इस प्रकार कहा जा सकता है कि धर्म व्यक्ति के जीवन को आनन्दित करने का सशक्त माध्यम है।

10.4.4 सामाजिक पक्षः कुछ लोग धर्म के सामाजिक पक्ष को अधिक महत्व देते हैं और यह मानते हैं कि धर्म सामाजिक सम्बन्ध एवं सास्कृतिक स्वतन्त्रता की प्राप्ती का साधन है। इसी कारण समाज सेवा जैसे कार्यों को एक धार्मिक कार्य माना जाता है। दीन-दुखियों, गरीबों तथा असहाय लोगों के रूप में ईश्वर की कल्पना की जाती है, सम्पूर्ण मानव समाज को भाई-भाई माना जाता है। इस प्रकार धर्म द्वारा मानव समाज एवं विश्व व्यापी मानव समाज को बढ़ावा मिलता है।

बोध प्रश्न

टिप्पणी

(क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिये गये स्थान का प्रयोग कीजिए ।

(ख) अपने उत्तरों को इकाई के अन्त में दिये गये उत्तर से मिलान कीजिए।

2. धर्म के तीन कार्य बताईये।

(क) ....

(ख) ....

(ग) ....

10.5 धर्म के अंग

हमारे देश में धार्मिक एवं नैतिक शिक्षा की रूपरेखा क्या हो? इस पर विचार करने के लिये सन 1959 में भारत सरकार ने एक समिति की नियुक्ति की जिसके अध्यक्ष श्री प्रकाश जी थे। श्री प्रकश समिति ने अपने प्रतिवेदन के छठवे अनुच्छेद में धर्म के नियम में लिखा है कि घर्म का अर्थ एक मनुष्य का दूसरे मनुष्य से सम्बन्ध स्थापित करना' और सातवें अनुच्छेद में धर्म को बांटा है। समिति ने कहा कि धर्म को चार भागों में बांटा जा सकता है।

1. **धर्म प्रवर्तक का व्यक्तित्वः** - धर्म के इस भाग में धर्म के प्रवर्तक की पवित्रता एवं महानता की व्याख्या की जाती है एवं धर्म प्रवर्तक पर श्रद्धा रहती है।

2. **उद्गमः** - प्रत्येक धर्म इस संसार के उद्‌गम (प्रारम्भ) के विषय में बताता है कि उसका प्रारम्भ कब और कैसे हुआ।

3. **धार्मिक कार्यः** - जन्म, मृत्यु विवाह, उत्सव एवं पर्व आदि के समय कौन से कार्य करने चाहिए और कौन से कार्य नहीं करने चाहिए इस बात का निर्धारण प्रत्येक धर्म करता है।

4. **नैतिक संहिताः** - प्रत्येक धर्म अच्छाई-बुराई एवं पाप-पुण्य के बारे में कुछ सिद्धान्त बताता है जिनका पालन करना आवश्यक माना जाता है।

बोध प्रश्न

टिप्पणी

(क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिये गये स्थान का प्रयोग कीजिए ।

(ख) अपने उत्तरों को इकाई के अन्त में दिये गये उत्तर से मिलान कीजिए।

3. सन 1969 में धार्मिक शिक्षा पर गठित समिति के अध्यक्ष कौन थे?

....

....

4. श्री प्रकाश समिति अपने प्रतिवेदन में धर्म का क्या अर्थ बताया है?

....

....

5. धर्म को कितने भागों मं बाटा गया है?

....

....

10.6 - हिन्दू धर्म

धर्म के चारों अंग (धर्म प्रवर्तक का व्यक्तित्व उदगम, धार्मिक कार्य एवं नैतिक संहिता।) वस्तुत मत एवं सम्प्रदाय के भी अंग होते हैं। श्री प्रकाश समिति ने भी इस बात को स्वीकार किया है। श्री प्रकाश समिति ने अपने प्रतिवेदन के आठवें अनुच्छेद में लिखा है कि 'यद्यापि' ये चारों अंग समान्य रूप से सभी धर्मो के लिये उपयुक्त है फिर भी भारत के बहुसंख्यक लोगों का धर्म, हिन्दू धर्म में धर्म के उपयुक्त चारों अंग फिट नहीं बैठते। यद्यपि हिन्दुत्व को धर्म माना जाता है, किन्तु हिन्दुत्व एक प्रकार से धर्म नहीं है। हिन्दू शब्द हिन्दुओं के धर्म ग्रन्थों एवं अन्य पुराने साहित्यों में नहीं मिलता। प्राचीन ग्रन्थों की भाषा संस्कृत में रिलीजन शब्द का अनुवाद करना मुश्किल है। रिलीजन का पर्याय धर्म का अर्थ कर्त्तव्य, संस्कार, परम्परा, आचार-संहिता नियम आदि विभिन्न रूपों में लगाया जाता है।

हिन्दू शब्द का प्रयोग सर्व प्रथम यूनानियों ने किया तत्पश्चात तुर्क, अरबी एवं पारसियों ने हिन्दू शब्द का प्रयोग किया। मुस्लिम धर्म में भारत के मुसलमानों को भी 'हिन्दु-मुस्लिम' कहाँ जाता है। विभिन्न यूरोपी भाषाओं में हिन्दु शब्द का प्रयोग भारत के लोगों के लिये किया जाता है। न कि सिर्फ बहुसंख्यक लोगों के लिये।

श्री प्रकाश समिति ने अपने प्रतिवेदन के नवें अनुच्छेद में हिन्दूओं के विचार एवं विश्वास को वैदिक धर्म, आर्य धर्म, मानव धर्म, सनातन धर्म एवं वर्णाश्रम धर्म के रूप में विश्लेषण एवं व्याख्या की है।

मनु स्मृति में धर्म के दस लक्षण बताये गये है जो निम्न हैं

धृति : क्षमा दमोस्तेयं शौचभिन्द्रिय निग्रह।

धीर्विघा सत्यमक्रोधो दशक धर्म लक्षणम्।

अर्थात् धैर्य, क्षमा शान्ति, लाभ न करना, शुद्धता, इन्द्रिय-निग्रह बुद्धि, विद्या सत्य एवं अक्रोध - ये धर्म के दस लक्षण है। यदि ध्यान पूर्वक देखा एवं समझा जाए तो स्पष्ट होता है कि उपर्युक्त दस लक्षणों को धारण करने वाले व्यक्ति का शुभ (शारीरिक एवं मानसिक विकास), मंगल (सामाजिक विकास एवं प्रतिष्ठा) तथा कल्याण (आध्यात्मिक विकास एवं मुक्ति) तीनों निश्चित है।

बोध प्रश्न

टिप्पणी

(क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिये गये स्थान का प्रयोग कीजिए ।

(ख) अपने उत्तरों को इकाई के अन्त में दिये गये उत्तर से मिलान कीजिए।

6. हिन्दू शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम किस देश के लोगों ने किया?

....

....

7. मनुस्मृति में बताये गये धर्म के तीन लक्षण बताइये।

(क) ....

(ख) ....

(ग) ....

10.7 धर्म एवं नैतिकता का सम्बन्ध

मनुष्य जीवन के मुख्य रूप से तीन पक्ष हैं प्राकृतिक, सामाजिक एवं आध्यात्मिक। मनुष्य के इन तीनों पक्षों के विकास के लिये प्रत्येक समाज ने कुछ नियम बनाये हैं। इनमें से सामाजिक नियमों का पालन करना नैतिकता कहा जाता है और आध्यात्मिक नियमों का पालन करना धर्म सामाजिक नियमों का पालन करने से मनुष्य का केवल सामाजिक विकास होता है, जबकि आध्यात्मिक नियमों का पालन करने से उसके प्राकृतिक, सामाजिक एवं आध्यात्मिक तीनों पक्षों का विकास होता है। सामाजिक नियम देश और काल से प्रभावित होते हैं। इसलिये नैतिकात देश-काल सापेक्ष होती है। इसके विपरित आध्यात्मिक नियम सार्वभैमिक एवं सार्वकालिक होते हैं, इसलिए धर्म देश-काल निरपेक्ष होता है। उदाहरणार्थ ब्रिटेन एवं अमेरिका के लोगों का धर्म एक है - ईसाई धर्म, किन्तु उनके सामाजिक नियम भिन्न-भिन्न हैं इसलिए उनकी नैतिकता भिन्न-भिन्न है। धर्म प्रधान समाजों में सामाजिक जीवन का आधार प्रायः धर्म ही होता है। हमारा भारतीय समाज इसी प्रकार का समाज है। यहाँ धर्म एवं नैनिकता में निकट का सम्बन्ध है। कहा जाता है कि धर्मविहीन नैतिकता, मूलविहीन वृक्ष की भाँति है, और नैतिकता विहीन धर्म फलहीन वृक्ष के समाज है।

भातर में धर्म को नैतिकता से सम्बद्ध करके ही सदैव देखा जाता है। नैतिकात में ऐसे गुणों को ढूढ़ा जाता है जो व्यक्ति को उपर उठाते है। नैतिकता में अच्छाई, बुराई भद्र-अभद्र, शिव-अशिव पर विचार करके सिर्फ अच्छाई, भद्र एवं शिवम् का अनुकरण किया जाता है। मनुष्य के लिये अच्छाई पर चलने के लिये लक्ष्य की पूर्ति धर्म करता है। धर्म एवं नैतिकता के बारे में फाण्ट ने कहा है कि जब मनुष्य कर्तव्यों को ईश्वरीय आज्ञा के रूप में देखता है तो उसके लिए नीति धर्म हो जाती है। इसी प्रकार मैथ्यूअर्नाल्ड ने कहा है कि जब नीति के साथ संवेग मिल जाता है तो नीति धर्म हो जाती है। दूसरे शब्दों में जब कर्त्तव्य में श्रद्धा जुड जाए तो वह कर्त्तव्य कार्य, धार्मिक कार्य का रूप ले लेता है।

बोध प्रश्न

टिप्पणी

(क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिये गये स्थान का प्रयोग कीजिए ।

(ख) अपने उत्तरों को इकाई के अन्त में दिये गये उत्तर से मिलान कीजिए।

8. नैतिकता किसे कहता जाता है?

....

....

9. सामाजिक नियम किससे प्रभावित होते हैं।

....

....

10. आध्यात्मिक नियम किस प्रकार के होते है।

....

....

10.8 धर्म एवं शिक्षा में सम्बन्ध

धर्म और शिक्षा के मध्य पारस्परिक सम्बनध है। मानव जीवन का मूल या आदर्श धर्म है और शिक्षा इसी का पालन करती है। सामाजिक जीवन के लक्ष्य ही शिक्षा के कार्य हैं। प्राचीन काल से लेकर वर्तमान समाज में जितनी भी शिक्षण संस्थाए हैं वे सभी सामाजिक नियमों का पालन करते थे और कर रहे हैं। अत धर्म के द्वारा ही शिक्षा का मार्ग प्रशस्त होता रहा है। ई0 डी0 बर्टन के अनुसार 'धर्म एवं शिक्षा वास्तविक मित्र हैं। दोनों का सम्बन्ध प्राकृतिक तथा भौतिक जगत के विरूद्ध आध्यात्मिकता से है। दोनों मानव को उसके वातावरण के सम्पर्क में नहीं, बल्कि उसकी दासता से मुक्ति दिलाने का प्रयत्न करते हैं। शिक्षा द्वारा व्यक्ति के मूल्यों कालों का विकास होता है, जिन्हें धर्म द्वारा मान्यता प्राप्त हो। शिक्षा, व्यक्ति में स्वतन्त्र एवं निष्पक्ष दृष्टिकोण का विकास करती है। अब धर्म भी यही करने का दावा करता है। शिक्षा द्वारा बालक को सभ्य एवं सुसंस्कृत बनाने का प्रयास किया जाता है। इस कार्य में धर्म बड़ा सहायक सिद्ध होता है। अतः यह सत्य है है कि शिक्षा को धर्म से अलग नहीं किया जा सकता है। धर्म के अभाव में शिक्षा मूल्यों से परे, आदर्शों से दूर होगी और यह सत्य है कि मनुष्य का विकास नहीं होगा। हमारे देश के कर्णधारों ने भी धर्म और शिक्षा के सम्बन्ध को पहचान कर धार्मिक शिखा का समर्थन किया है। महात्मा गांधी, डॉ0 राधाकृष्णन, महामना मदन मोहन मालवीय, चक्रवर्ती राजगोपालाचारी, स्वामी दयानन्द, स्वामी विवेकानन्द आदि लोगों ने शिक्षा में धर्म की व्यवस्था को जरूरी समझा।

धर्म मानव जीवन का एक अंग और शिक्षा जीवन की वह प्रक्रिया है जिससे व्यक्ति की प्रवृत्तियों, व्यवहारों और संवेगों में सुधार होता है। यही कारण है कि धर्म

एवं शिक्षा का सम्बन्ध मनुष्य के जीवन के प्रारम्भ के साथ होता है। प्राचीन भारतीय समाज में धर्म के गुरू ही शिक्षा देने का कार्य करते थें प्राचीन काल में शिक्षण संस्थानों के रूप में चर्च, मस्जिद और मन्दिर का प्रयोग किया जाता था। शिक्षा के पाठ्यक्रम में धार्मिक पुस्तकों को शामिल किया जाता था। हमारे देश में इस समय भी सनातन धर्म, आर्यसमाज बदन समाज, रामकृष्णमिशन, फियोसाफिकल सोसाइटी आदि के नाम पर शिक्षालय चलाये जा रहे है। धर्म, सतय, शिव एवं सुन्दर की प्राप्ति में सहायक होता है, जो शिक्षा का प्रमुख लक्ष्य होता है। अत धर्म शिक्षा का प्रमुख्य साधन रहा है। धर्म और शिक्षा को अलग नहीं किया जा सकता है। इसका प्रमुख्य कारण दोनों का लक्ष्य समान है। धर्म के द्वारा व्यक्ति का जीवन, गुण और आदर्शो से सुशोभित होता हैं और उसकी बुरी प्रवृतियां नष्ट हो जाती है। यही लक्ष्य व्यक्ति के व्यक्तित्व के सर्वागीण विकास में सहायक होती है। आज चारों तरफ संघर्ष ही संघर्ष दिखाई दे रहा है विद्यालय में पढ़ाये जाने वाले विषय बालक का केवल बौद्धिक विकास करते है। व्यक्ति के आध्यात्मिक विकास की चिता केवल धर्म को है। धर्म ने सदैव सदगुणों का विकास किया है। धर्म से चारिंत्रिक बल मिलता है। वैज्ञानिक तर्क बुद्धि के साथ-साथ चारित्रिक बल आवश्यक है। अतः सच्ची शिक्षा को धर्म को अपना आधार बनाना चाहिए।

बोध प्रश्न

टिप्पणी

(क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिये गये स्थान का प्रयोग कीजिए ।

(ख) अपने उत्तरों को इकाई के अन्त में दिये गये उत्तर से मिलान कीजिए।

11 शिक्षा का मार्ग प्रदर्शन किसके द्वारा होता है।

....

....

12. धर्म किसकी प्राप्ति में सहायक होता है।

....

....

13. धर्म एवं शिक्षा के सम्बन्धों का मुख्य कारण क्या है?

....

....

10.9 शिक्षा में धर्म का स्थान

हवाइटहैड ने धर्म को 'शिक्षा का सार' माना है। धर्म के अभाव में शिक्षा व्यति को कठोर एवं स्वार्थी बना देती है। यदि सामाजिक विकास की योजना में धर्म को स्थान नहीं दिया जाता है तो सामाजिक विकास ठीक ढंग से नहीं हो पाता है। वास्तविकता यह है कि धर्म एवं शिक्षा को एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता, क्योंकि शिक्षा और धर्म के लक्ष्य एक ही हैं। सच्ची शिक्षा का आधार धर्म है और शिक्षा को धर्म से अलग करके उसके क्षेत्र, उद्देश्य और लक्ष्य को संुकुचित बना दिया जाता है। सच्ची शिक्षा व्यक्ति के सम्पूर्ण व्यक्तित्व का विकास करती है। धार्मिक आदर्श का भी सम्बन्ध सम्पूर्ण व्यक्तित्व से है। इस दृष्टि से भी शिक्षा का आधार धर्म होना चाहिए। इस सम्बन्ध में जार्ज डब्ल्यू0 फिस्के ने कहा है कि 'शिक्षा की अनेक परिभाषाओं मे से कोई भी ऐसी नहीं है, जो धर्म की शिक्षा की सम्भावना और आवश्यकता की सीखने की महान प्रक्रिया का अंग मानने का सुझाव न देती हो। भौतिकवादी दृष्टिकोण के सिवाय, सभी दृष्टिकोणों से शिक्षा के धार्मिक पहलू और धार्मिक विषय वस्तु दिखाई देती है। अतः शिक्षा को पूर्ण होने के लिए धार्मिक होना चाहिए। यदि ऐसा नहीं करते है, तो हम शिक्षा को अधूरा छोड़ देते है।

10.10 धार्मिक शिक्षा की आवश्यकता एवं महत्व

व्यक्ति एवं समाज के जीवन में धार्मिक शिक्षा का स्थान सदैव महत्वपूर्ण रहा है। परन्तु इस शिक्षा का आधार संकीर्ण धर्म न होकर व्यापक धर्म होना चाहिए। क्योकि संकीर्ण धर्म व्यक्तियों मे भेद उत्पन्न करता है, और समाज में विभिन्न प्रकार के संघर्षों को जन्म देता है। इसी कारण गांधी जी ने बर्धा शिक्षा योजना में धर्म को कोई स्थान नहीं दिया और कहा कि 'हमने वर्धा शिक्षा योजना में धर्मों की शिक्षा को इसलिए स्थान नहीं दिया, क्योंकि हमें विश्वास है कि आज कल जिस प्रकार धर्मों की शिक्षा दी जाती है और उसका अनुसरण किया जाता है, उससे एकता के बजाय संघर्ष उत्पन्न होता है। अतः धार्मिक शिक्षा संकीर्ण धर्म पर आधारित न होकर व्यापक धर्म पर आधारित होनी चाहिए। व्यापाक धर्म पर आधारित शिक्षा की क्या आवश्यकता एवं महत्व हैं? इस सम्बन्ध में निम्न तर्क प्रस्तुत किया जा सकता है-

1. आज के भौतिक युग में मनुष्य सांसारिक सुख तो प्राप्त कर लेता है,परन्तु उसे वास्तविक सुख व शान्ति नहीं मिलती है, वह उसको सिर्फ धार्मिक शिक्षा द्वारा ही प्राप्त कर सकता है।

2. व्यक्ति धर्म का आदर करता है और धार्मिक सिद्धान्तों को पालन करता है। अतः धार्मिक शिक्षा द्वारा विभिन्न प्रकार की सामाजिक बुराईयों को दूर किया जा सकता है।

3. भारत सदैव धर्म प्रधान देश रहा है। इसलिए भारतीय जीवन को धर्म से जोड़ना चाहिए।

4. धार्मिक शिक्षा द्वारा व्यक्ति में सत्य, सदाचार, इमानदारी आदि गुणों का विकास किया जा सकता है।

5. धर्मिक शिक्षा वसुधैव कुटुम्बकम का पाठ पढ़ाती है। इसलिए सभी देशों में धार्मिक शिक्षा अनिवार्य रूप से देनी चाहिए। इससे संसार में स्थायी रूप से शान्ति स्थापित हो सकती है।

6. धार्मिक शिक्षा व्यक्ति के मन की स्थिरता, इच्छा शक्ति और एकाग्रता को विकसित करने में सहायता करती है।

7. धार्मिक शिक्षा व्यक्ति को सामाजिक और नैतिक मूल्यों का ज्ञान प्राप्त करने में सहायता प्रदान करती है।

8. धार्मिक शिक्षा द्वारा व्यक्तियों में उचित आचरण का विकास होता है।

9. धार्मिक शिक्षा द्वारा सामाजिक नियन्त्रण और सामाजिक एकता का विकास होता है।

10. संस्कृति का महत्वपूर्ण अंग होने के कारण धार्मिक शिक्षा संस्कृति की सुरक्षा और उन्नति में योगदान करती है।

उपर्युक्त तर्को के आधार पर कहा जा सकता है कि मानव और सामज के जीवन में धर्म का अत्सन्त महत्वपूर्ण स्थान है। यद्यपि आज के व्यक्ति धन एवं भौतिवाद में विश्वास करने लगे हैं, फिर भी व्यक्ति धर्म एवं धार्मिक शिक्षा के बगैर अपना जीवन व्यतीत नहीं कर सकता है। इसलिए बालकों को धार्मिक शिक्षा दी जानी चाहिए चाहे उसका स्वरूप और ढंग कुछ भी हो ।

बोध प्रश्न

टिप्पणी

(क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिये गये स्थान का प्रयोग कीजिए ।

(ख) अपने उत्तरों को इकाई के अन्त में दिये गये उत्तर से मिलान कीजिए।

14. सच्ची शिक्षा का आधार क्या है?

....

....

15. संकीर्ण धर्म से क्या तात्पर्य है?

....

....

10.11 धर्म निरपेक्ष भारत और धार्मिक शिक्षा

धर्म निरपेक्ष का अर्थ यह है कि राजनीतिक आर्थिक एवं सामाजिक मामलो को समस्त नागरिकों को चाहे वे किसी धर्म को मानने वालों हो या न हो समान अधिकार प्राप्त होगें। किसी भी धर्म विशेष के साथ न पक्षपात किया जायेगा और न ही कोई भेदभाव किया जायेगा और राज्य के विद्यालयों में धार्मिक शिक्षा नहीं दी जायेगी।

धार्मिक एवं नैतिक शिक्षा पर गठित श्री प्रकाश समिति ने अपने प्रतिवेदन के 13वें अनुच्छेद में धार्मिक शिक्षा की समस्या पर विचार किया है। और 14वें अनुच्छेद में संविधानों की मान्यताओं का उल्लेख किया है। संविधान की 28 वी धार में कहा गया है कि राज्य द्वारा सहायता प्राप्त। विद्यालयों में धार्मिक शिक्षा नहीं दी जायेगी, परन्तु यह धारा ऐसे शैक्षिक संस्थाओं पर लागू नहीं होगी, जो राज्य द्वारा प्रशासित हो । परन्तु उनकी स्थापना धार्मिक शिक्षा उपलब्ध कराने वाले ट्रस्ट (न्यास) के द्वारा की गई हो। संविधान की 30वी धारा के अनुसार धार्मिक या भाषायी अल्पसंख्यकों को अपनी रुचि के अनुसार की शिक्षा संस्था स्थापित करने का अधिकार प्रदान किया गया है तथा इस प्रकार के विद्यालयों को सहायता देने में राज्य कोई भेदभाव नहीं करेगा।

10.11.1 धार्मिक शिक्षा के लक्ष्य - (Aums of Religious Education)

धार्मिक शिक्षा के निम्न लिखित लक्ष्य बताये जा सकते हैं-

1. छात्रों का सर्वांगीण विकास तथा उनके जीवन के प्रति व्यापका दृष्टिकोण पैदा करना।

2. छात्रों के नैतिकता की भावना का विकास करना तथा चरित्र को ऊंचा उठाना।

3. छात्रों में समाज, देश एवं मानवता के कल्याण हेतु त्याग की भावना उत्पन्न करता है।

4. छात्रों में इस संसार के सृष्टा और इस सृष्टि एवं मानवता के प्रति प्रेम एवं श्रद्धा जागृत करता।

5. सभ्यता एवं संस्कृति की रक्षा करना एवं उनहें पतन से बचाना।

6. छात्रों को एकाकी जीवन की अपेक्षा सम्पूर्ण जीवन की शिक्षा प्रदान करना।

7. छात्रों को स्वस्थ्य एवं निरोग जीवन यापन के लिये उचित इन्द्रियनिग्रह का प्रशिक्षण देना।

8. राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर व्याप्त अनुशासन हीनता, वैयनस्यता, संघर्ष तथा मानसिक अशन्ति को कम करना।

9. छात्रों में मानसिक गुणों को विकसित करना एवं उन्हें सत्यम, शिवम् तथा सुन्दरम् की अनुभूति कराना।

10. निरन्तर सौन्दर्य एवं आध्यात्मिक सुख की खोज करना।

11. अपनी संस्कृति, परम्परा को सम्मान देते हुए अन्य संस्कृतियों एवं रीतिरिवाजों को उचित मान सम्मान देना।

12. छात्रों में एक दूसरे धर्मों के प्रति निष्ठा जागृत करना तथा साम्प्रदायिक मतभेदों को दूर करके सभी धर्मों के प्रति भाईचारे की भावना का विकास करना।

10.11.2

धार्मिक शिक्षा तथा शिक्षक का उत्तरदायित्वः- धार्मिक शिक्षा प्रदान करना शिक्षक का नैतिक कर्तव्य हैं, किन्तु यह कार्य एक शिक्षक के भरोसे नहीं हो सकता, विद्यालय के सभी शिक्षकों को धार्मिक शिक्षा प्रदान करने के लिए तैयार रहना होगा। सभी शिक्षक मिलकर ही धार्मिक शिक्षा का वातावरण तैयार कर सकते हैं। इसके लिए आवश्यक है कि शिक्षक स्वयं विद्यालय में धार्मिक श्रद्धा का आदर्श प्रस्तुत करे। यदि शिक्षक अपने जीवन में धार्मिक शिक्षा के आदर्श को नहीं उतार सका तो छात्र (शिक्षार्थी) भी उनका अनुक़रण करके सदाचारी नहीं बन सकेंगे। शिक्षक धर्मों का सैद्धान्तिक विवेचन तभी कर सकता है जब उसमें निम्न गुण हों जैसे- सहनशीलता, धैर्य, विवेक, संयम, सरलता तथा वस्तुनिष्ठ आदि।

विद्यालय में धार्मिक शिक्षा देते समय कभी-कभी संकट उत्पन्न हो सकता है।

क्योंकि विद्यालय एक ऐसा स्थान है जहाँ विभिन्न मतों को मानने वाले विद्यार्थी अध्ययन करने आते हैं। ऐसी स्थिति में शिक्षक को चाहिए कि धार्मिक शिक्षा देते समय किसी एक मत से सम्बद्ध न हो। सभी विद्यार्थियों का ध्यान रखे। शिक्षक को ऐसी परिस्थिति में धार्मिक शिक्षा देते समय वस्तुनिष्ठ दृष्टिकोण अपनाना चाहिए।

10.11.3 धार्मिक शिक्षा तथा पाठ्य सामग्री

धार्मिक शिक्षा की पाठ्यसामग्री ऐसी हो जिससे छात्रों में समस्त धर्मों तथा लोगों के प्रति संघर्ष तथा मन मुटाव समाप्त करके, उन्हें प्रेम तथा भाइचारे के सूत्र में पिरोना। अतः धार्मिक शिक्षा की पाठ्यसामग्री छात्रों की योग्यता तथा उनकी आयु को ध्यान में रखकर तैयार करनी चाहिए।

धार्मिक शिक्षा की पाठ्य सामग्री बनाते समय यह ध्यान रखना चाहिए कि किसी धर्म विशेष की बातों को प्रमुखता न दी जाय बल्कि दुनिया के समस्त धर्मों के बारे में छात्रों को ज्ञान प्रदान कराना चाहिए। छात्रों को धार्मिक नेताओं के जीवन के प्रमुख घटनाओं को बत्ताना चाहिए। विभिन्न धर्मों की मूलभूत मान्यताओं को बताते समय दुनिया के धर्मों में व्याप्त मौलिक एकता पर विशेष रूप से ध्यान केन्द्रित करना चाहिए। संक्षेप में धार्मिक शिक्षा की पाठ्य सामग्री में निम्न को महत्व देना चाहिए - आत्मा-परमात्मा का सम्बन्ध, व्यक्ति का व्यक्ति से सम्बन्ध, सृष्टि का परम सत्ता से सम्बन्ध, प्रकृति का स्वरूप, ईश्वर का स्वरूप, प्रार्थना के प्रकार, आवश्यकता एवं विधि सनातन धर्म, वर्णाश्रम, आर्य समाज, वैदिक धर्म, बौद्ध धर्म, जैन धर्म, सिख धर्म, ईसाई धर्म, इस्कान धर्म, पारसी आदि।

बोध प्रश्न

टिप्पणी

(क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिये गये स्थान का प्रयोग कीजिए ।

(ख) अपने उत्तरों को इकाई के अन्त में दिये गये उत्तर से मिलान कीजिए।

16. संविधान की 28वीं धारा में क्या कहा गया है।

....

....

17. धार्मिक शिक्षा के तीन उद्देश्य बताइये।

....

....

18. धार्मिक शिक्षा की पाठ्य सामाग्री में सम्मिलित किये जाने वाले तीन बातों का उल्लेख कीजिए।

(क) ....

(ख) ....

(ग) ....

19. धार्मिक शिक्षा के अध्यापाक में पाये जाने वाले तीन गुणों का उल्लेख कीजिए।

(क) ....

(ख) ....

(ग) ....

10.12 धार्मिक शिक्षा के अवगुण

वर्तमान शिक्षा प्रणाली के अन्तर्गत धार्मिक शिक्षा प्रदान करने से कोई भी बालक किसी विशेष धर्म के पूजा पाठ एवं कर्म काण्ड सीख लेता है। इस कारण उसका दृष्टिकोण उदार बनने की अपेक्षा संकुचित हो जाती है, जिससे उस बालक की सहानुभूति धर्म विशेष तक ही सीमित हो जाती है। इसका परिणाम यह होता है कि राष्ट्रीय एकता एवं अखण्डता पर विघटन के बादल मडराने लगते हैं । धार्मिक शिक्षा बालक को परी लोक की कथा जैसी लगती है। इस कारण वर्तमान के धरातल का बालक को आभास ही नहीं हो पाता। परिणामस्वरूप बालक बचपन से लेकर वृद्धावस्था तक यर्थाकता तथा जीवन के लम्बे सफर पर इधर-उधर भटकता रहता है। धार्मिक शिक्षा द्वारा वालक के मन में संघर्षों से जूझने का विचार नही उत्पन्न हो पाता। छात्र कल्पना लोक में घूमने में ही आनन्द प्राप्त करने लगता है। धार्मिक शिक्षा से छात्रों में कभी-कभी साम्प्रादायिक भावना भड़क उठती है, जिससे वे अन्धविश्वासी एवं धर्मान्ध बनकर अन्य सम्प्रदाय एवं धर्म के लोगों को हीन मानने लगते हैं ।

धार्मिक शिक्षा से विभिन्न समस्याएं उत्पन्न हो जाती हैं जैसे :

1. विद्यालय में शिक्षा प्राप्त करने वाले बालक विभिन्न सम्प्रदाय के होते हैं, ऐसी स्थिति में दूसरे धर्म की शिक्षा देने से उस धर्म से अलग बालकों को भेदभाव की स्थिति का सामना करना पड़ता है।

2. वर्तमान समय तक की धार्मिक शिक्षा का स्वरूप क्या हो ? इस बात पर विद्वानों में मतभेद है।

3. विभिन्न धर्मों के लिए अलग-अलग विद्यालय खोलने होंगे, जिसके लिए अर्थ की समस्या उत्पन्न होगी।,

4. धार्मिक शिक्षा प्रदान करेन हेतु अनुभवी शिक्षकों की आवश्यकता होगी, जिसकी अत्यधिक कमी है।

बोध प्रश्न

टिप्पणी

(क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिये गये स्थान का प्रयोग कीजिए ।

(ख) अपने उत्तरों को इकाई के अन्त में दिये गये उत्तर से मिलान कीजिए।

20. धार्मिक शिक्षा प्रदान करने में आने वाली तीन समस्याएं बताओ।

(क) ....

(ख) ....

(ग) ....

10.13 सारांश

इस इकाई में धर्म का अर्थ और उसके कार्यों का वर्णन किया गयाऔर बताया गया कि धर्म का अर्थ जो धारण किया जाए। धर्म व्यक्तियों की आध्यात्मिकता एवं ईश्वरीय गुणों का विकास करके उसकी भावनाओं को उदात्त बनाती है साथ ही वह सामाजिक सम्बन्ध एवं सांस्कतिक स्वतन्त्रता की प्राप्ति कराती है। इसके बाद धर्म के अंग एवं हिन्दू धर्म की व्याख्या किया गया और बताया गया कि धर्म को चार भागों में बांटा जा सकता है और धर्म के दस लक्षण होते हैं, जिनको धारण करने से व्यक्ति का शुभ, मंगल एवं कल्याण होता है। इस इकाई में धर्म का नैतिकता एवं शिक्षा से सम्बन्ध को स्पष्ट किया गया और बताया गया कि धर्मविहीन नैतिकता मूल विहीन वृक्ष की भाँति और नैतिकता विहीन धर्म फलहीन वृक्ष के समान होता है। इसी प्रकार धर्म और शिक्षा का घनिट का लक्ष्य समान होता है। अन्त में इस इकाई में धर्म निरपेक्ष भारत में धार्मिक शिक्षा का लक्ष्य, पाठ्य सामग्री एवं आध्यापक कैसा होना चाहिए, बताया गया है और धार्मिक शिक्षा प्रदान करने में उत्पन्न होने वाली समस्याओं का भी

वर्णन किया गया है।

10.14 अभ्यास कार्य

1. धर्म के अर्थ की विवेचना कीजिए।

2. धर्म के कार्यो को विश्लेषित कीजिए।

3. धर्म के अंगों का उल्लेख कीजिए ।

4. हिन्दू धर्म की व्याख्या कीजिए।

5. धर्म एवं नैतिकता के सम्बन्धों की विवेचना कीजिए।

6. धर्म एवं शिक्षा के सम्बन्ध को विश्लेषित कीजिए।

7. धर्मनिरपेक्ष भारत में धार्मिक शिक्ष के स्वरूप को निम्न बिन्दुओं पर निर्धारित कीजिए-

(क) धार्मिक शिक्षा के लक्ष्य (ख) पाठ्य सामाग्री (ग) अध्यापक

8. धार्मिक शिक्षा की समस्याओं की विवेचना कीजिए।

10.15 बोध प्रश्न के उत्तर

1. जो धारण किया जाए।

2 (क) ईश्वरीय गुणों का विकास करना

(ख) आध्यात्मिक विकास करना

(ग) भावनाओं का उदात्तीकरण करना।

3. श्री प्रकाश

4. एक मनुष्य का दूसरे मनुष्य से सम्बन्ध स्थापित करना।

5 (क) धर्म प्रवर्तक का व्यक्तित्व (ख) उद्‌गम (ग) धार्मिक कार्य
(घ) नैतिक संहिता

6. यूनान के लोगों ने

7. (क) धैर्य (ख) क्षमा (ग) शान्ति

8. सामाजिक नियमों के पालन करने को नैतिकता कहा जाता है।

9. देश और काल से प्रभावित होते हैं।

10. सार्वकालिक एवं सार्वभौमिक होते हैं?

11. धर्म द्वारा

12. सत्यम्, शिवम् एवं सुन्दरम् की प्राप्ति में

13. धर्म एवं शिक्षा के सम्बन्धों का मुख्य कारण दोनों का लक्ष्य समान होना है।

14. सच्ची शिक्षाा का आधार धर्म हैं ।

15. संकीर्ण धर्म व्यक्तियों में भेदभाव उत्पन्न करता है और समाज में विभिन्न प्रकार के संघर्षों को जन्म देता है।

16. राज्य द्वारा सहायता प्राप्त किसी विद्यालय में धार्मिक शिक्षा नहीं दिया जायेगा, किन्तु यह बात उन शैक्षिक संस्थाओं पर लागू नहीं होगी, जिन्हें राज्य प्रशासित तो करता है, किन्तु उनकी स्थापना धार्मिक शिक्षा प्रदान करने वाले न्यास के द्वारा की गई हो ।

17.(क) नैतिकता की भावना का विकास करना तथा चरित्र को ऊँचा उठाना।

(ख) समाज, देश एवं मानवता के कल्याण हेतु त्याग की भावना उत्पन्न करना।

(ग) सभ्यता एवं संस्कृति की रक्षा करना एवं अच्छे पतन से बचाना।

18. (क) आत्मा परमात्मा का सम्बन्ध (ख) सृष्टि का परम सत्ता से सम्बन्ध

(ग) ईश्वर का स्वरूप

19. (क) मृदुभाषा (ख) सहनशीलता (ग) वस्तुनिष्ठ दृष्टिकोण

20. (क) धार्मिक शिक्षा के स्वरूप पर विद्धानों में मत भिन्नता

(ख) विभिन्न धर्मो हेतु विद्यालय खोलने के लिए धन की समस्या

(ग) धार्मिक शिक्षा हेतु अनुभवी शिक्षकों की कमी ।

इकाई 11 शैक्षिक मूल्य

संरचना

11.1 प्रस्तावना

11.2 उद्देश्य

11.3 मूल्य का अर्थ

11.4 मूल्य में गिरावट

11.5 मूल्यों की श्रेणियां

11.6 मूल्य शिक्षा का अर्थ

11.7 मूल्य शिक्षा के उद्देश्य

11.8 मूल्य शिक्षा की आवश्यकता

11.9 शिक्षा के उद्देश्यों का निर्णय

11.9.1 सामान्य एवं अन्तिम उद्देश्य

11.9.2 निश्चित एवं समीपवर्ती उद्देश्य

11.10 शिक्षा एवं मानव मूल्य

11.11 सारांश

11.12 अभ्यास कार्य

11.13 बोध प्रश्नों के उत्तर

11.1 प्रस्तावना

जीवन को बेहतर एवं सुसंस्कृत बनाने और उसमे स्वामित्व लाने के लिए मूल्यों की विशेष भूमिका होती है। जीवन और संसार को जिस रूप में हम समझने का प्रयास करते हैं, उस अर्थ को ही सामान्य रूप से मूल्य कहा जाता है। मूल्य की अवधारणा व्यक्ति के प्रत्येक चुनाव,निश्चित निर्णय कार्य में विद्यमान होती है। जब व्यक्ति दो वस्तुओं या कार्य निष्पादन का चुनाव करके, उसकी पूर्ति के लिए यह निश्चय करता है कि कौन सी वस्तु या प्रक्रिया सही, तत्पश्चात् इसका निर्णय कर जीवन में कार्य करता है तो वह मूल्य के क्षेत्र में प्रवेश करता है। इस चुनाव, निर्णय तथा निश्चय में

उन वस्तुओं के मूल्य की अवधारणा छिपी रहती है । व्यक्ति अपने जीवन के प्रत्येक दिन तथा प्रत्येक पल में कुछ ऐसे ही निर्णय हर कदम पर करता है, वह किसी वस्तु को पसन्द करता है,तो दूसरी को नापसन्द, एक को सही मानता है तो दूसरे को गलत एक की प्रशंसा करता है तो दूसरे की बुराई। ये सभी निर्णय मूल्य अवधारणा पर ही आधारित होता है। जीवन में अच्छे मूल्यों के प्रति आदर होने से व्यक्ति चरित्रवान बनता है। तथा गलत मूल्यों को अपनाने से चरित्र का पतन होता है। सभी शिक्षा शास्त्रियों ने मूल्यों की शिक्षा पर बल दिया है। वस्तुतःजीवन के कर्त्तव्यो का ठीक ढंग से निर्वाह करने के लिए यह आवश्यक है कि व्यक्ति का मूल्यो की शिक्षा में आस्था हो।

मूल्य ऐसी आचरण संहिता या सद्‌गुणों का समूह होता है, जिसे अपना कर व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का विकास करता है। परन्तु आज चारों ओर हर क्षेत्र में मूल्यों मे भारी गिरावट दिखाई दे रही है इसलिए शिक्षा ऐसी हो जिससे व्यक्ति स्वयं अपनी इच्छा से मूल्यों का पालन करे। जिससे उसका व समाज दोनों का कल्याण हो सके। इस इकाई में मूल्य का अर्थ एवं ह्रास का वर्णन किया गया है। मूल्यों के प्रकार एवं उनकी श्रेणियाँ बतायी गयी है। इसी इकाई में शिक्षा के उद्देश्यों का निर्णय एवं शिक्षा और मानव मूल्य का वर्णन किया गया है। इस प्रकार यह इकाई शिक्षार्थियों को मूल्यों के प्रति जागरुक करेगी।

11.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप इस योग्य हो जायेगे कि-

- मूल्य का अर्थ बता सकेंगे।
- मूल्यों के ह्रास को स्पष्ट कर सकेगे।
- मूल्यों के प्रकार बता सकेंगे।
- मूल्यों की श्रेणियों को स्पष्ट कर सकेंगे।
- शिक्षा के उद्देश्यो का निर्णय कर सकेंगे।
- मानवमूल्य एवं शिक्षा की विवेचना कर सकेंगे ।

11.3 मूल्य का अर्थ (Meaning of Values)

मूल्य को अंग्रेजी में Value कहते हैं, जिसका अर्थ किसी वस्तु की कीमत, विशेषता, गुण और उपयोगिता से लगाया जाता है। व्यावहारिक दृष्टि से मूल्य का

अर्थ बहुत व्यापक होता है। मूल्य ऐसी आचरण संहिता या सद्‌गुणों का समूह है, जिसे अपनाकर व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का विकास करता है। इसके अन्तर्गत व्यक्ति की धारणाएं विचार, विश्वास,मनोवृत्ति एवं आस्था आदि सम्मिलित होती है। व्यक्ति के जीवित रहने के लिए उसकी इच्छा पूर्ति का होना आवश्यक है। मूल्य ही वह प्रक्रिया है, जिसके द्वारा व्यक्ति अपनी इच्छा पूर्ति करता है। प्रोफेसर अर्बन ने अपनी पुस्तक 'फण्डामेण्टल आफ ऐथिक्स में लिखा है कि 'मूल्य वह है, जो मानव इच्छा की तृप्ति करे और जो व्यक्ति तथा इसकी जाति के संरक्षण में सहायता करें। इसी प्रकार का विचार हेण्डरसन का भी है। वे कहते हैं कि मनुष्य अपनी इच्छाओं की तृप्ति के लिए क्रियाशील रहता है, कोई भी वस्तु जो मानवीय आश्यकताओं की पूर्ति करती है, मूल्य कहलाती है। व्यक्ति जीवन पर्यन्त सीखकर निरन्तर अपने अनुभवों में वृद्धि करता है। अनुभव प्राप्त करने से उसमें एक परिपक्वता आती है, और वह ऐसे अनुभव प्राप्त करता है जो उसके व्यवहार को निर्देशित करता है। ये निर्देशक ही मूल्य कहलाते हैं। मूल्य का अर्थ स्पष्ट करते हुए एम0टी0 रामजी ने कहाहै कि 'मूल्य उसे कहते हैं, जिसे हम प्राप्त करने की इच्छा रखते है एवं जिसके लिए प्रयास करते हैं। मूल्य जीवनके वे दिशा निर्देशक आदर्श है, जो मानवके शारीरिक एवं मानसिक विकास में सहायक होने के अतिरिक्त सामाजिक कल्याण एवं समायोजन की प्रक्रिया को संस्कृति की आदर्शों के अनुरुप आगे बढ़ाते हैं। बेवर ने कहा है कि 'मूल्य निर्णय के वे कथन है, जो मानवीय क्रिया जगत में क्या होना चाहिए, क्या नहीं होना चाहिए, क्या वांछनीय है, क्या नही का निर्देश देते हैं।

मूल्यों के उद्‌भव पर गहराई से विचार करने पर प्रतीत होता है कि मूल्य सर्वप्रथम मनुष्य द्वारा अपने सामाजिक जीवन को नियमित करने की दृष्टि से ही निर्मित किये जाते हैं। दूसरे शब्दों में इन निमयों को मनुष्य किन्हीं बाह्य अतीन्द्रिय श्रोतों से प्राप्त नहीं करता, बल्कि स्वयं अपनी ही प्रकृति से प्राप्त करता है। इस नितान्त वैयाक्तिक दृष्टिकोण का समर्थन करते हुए कुछ विचारकों विशेष रूप से सार्त्र का कहना है कि 'मनुष्य अपने मुक्त संकल्पों के द्वारा मूल्यों को प्रस्तुत करता है, और उन्हीं के द्वारा उसका निजी व्यक्तित्व आकार ग्रहण करता है।

बोध प्रश्न

टिप्पणी

(क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिये गये स्थान का प्रयोग कीजिए ।

(ख) अपने उत्तरों को इकाई के अन्त में दिये गये उत्तर से मिलान कीजिए।

1. मूल्य किसे कहते हैं?

....

....

2. मूल्यों को क्यों निर्मित किये जाते हैं?

....

....

11.4 मूल्यों में गिरावट

इस भौतिक युग में व्यक्ति का स्वार्थ चरम पर है, इसी कारण मूल्यों में बहुत गिरावट हो रही है। व्यक्ति का मूल्यों के प्रति लगाव समाप्त होता जा रहा है। वर्तमान समाज में भौतिक मूल्यीं को आध्यात्मिक मूल्यों की तुलना में अधिक महत्व दिया जा रहा है। श्री कालाघाटी स्वामी ज्ञानेश्वरानन्द तथा उन जैसे अनेक विद्वानों का भी यही विचार है कि आज के समाज में आत्मा और जीवन के मूल्यों को निरर्थक कहकर छोड़ दिया गया है तथा जीवन की सफलता भौतिक प्रगति के आधार पर ही है तथा जीवन की सफलता भौतिक प्रगति के आधार पर ही आंकी जा रही है।

मूलतः भौतिक दृष्टिकोण के कारण आज का जीवन अव्यवस्थित एवं यान्त्रिक सा हो गया है। आधुनिक मानव किसी भी कार्य की उपयोगिता तथा व्यावहारिकता से ही अधिक प्रभावित दिखाई देता है। राधाकृष्णन ने कहा है कि- यह युग एक प्रकार से बौद्धिक और आध्यात्मिक वर्बरता का युग है,उन्होने इस युग को आध्यात्मिक दिवालियेपन का युग बताया है। इसी प्रवृत्ति के कारण देशमें अव्यवस्था फैल रही है और अपराधों की संख्या बढ़ रही है। देश की नई पीढ़ी यानि किशोर एवं युवा वर्ग भ्रष्ट हो रहे है, क्योंकि इनकी महत्वाकाक्षाएं अनियमित रूप से बढ़ गयी हैं और इन महत्वाकांक्षाओं के साथ अपने को समायोजित करने में वे असमर्थ हो रहे हैं।

यदि वर्तमान परिपेक्ष्य पर दृष्टिपात किया जाय तो चारो ओर हर क्षेत्र में मूल्यो मे भारी गिरावट देखने को मिलती है। प्रत्येक व्यक्ति अपना विकास करने के लिए दूसरो का गला काटने को तैयार है। हमारे व्यक्गित पारिवारिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय जीवन मे तनाव के कारण दिन-प्रतिदिन घुटन बढ़ रही है फलस्वरूप सामाजिक जीवन में सहयोग समाप्त होता जा रहा है।

पारिवारिक जीवन दुखद हो रहा है, गरीबों तथा असहायों का शोषण बढ़ रहा है। व्यक्ति स्वार्थी, अवसरवादी, चाटुकार एवं कर्त्तव्य विमुख होता जा रहा है। जीवन की शान्ति न जाने कहाँ भागे जा रही है। आंधी प्रति स्पर्धा की दौड़ में हर कोई दूसरे पर हावी होकर आगे बढ़ना चाह रहा है। भौतिकता की आंधी में, स्वार्थपरता के तूफान में सभी नैतिक , सामाजिक, अध्यात्मिक एवं धार्मिक मूल्य नष्ट होते जा रहे हैं। आज देश मे नैतिक भ्रष्टता,स्वार्थ, बेइमानी, शोषण,भ्रष्ट्रचार, रिश्वत, आदि का व्यवहार जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में स्पष्ट दिखाई दे रहा है। इस स्थिति को श्री कन्हैया लाल मणिक लाल मुंशी ने नैतिक शून्यता का नाम दिया है।

अपनी 'करप्शन' नामक पुस्तक में श्री मोन्टेरियो ने कहा है कि मूल्यों में विघटित आस्था ने मनुष्य को ऐसी स्थिति में पहुँचा दिया है, जहाँ उसका किसी भी सामाजिक संस्था और तत्सम्बन्धी दायित्यों में कोइ विश्वास नहीं रह गया है। वास्तव में यह स्थिति व्यक्ति के दृष्टिकोण के साथ-साथ सामाजिक तथा राष्ट्रीय हित की दृष्टि से भी अत्याधिक निराशाजनक है। आज के भारत में मनुष्यों ने मानवता, मानवीय सम्बन्धों और आध्यात्मिक मूल्यों में विश्वास खो दिया है, जिसके कारण शान्ति और सहअस्तित्व समाप्त हो गया है। आज का व्यक्ति ज्ञान और शक्ति तो रखता है, पर विवेक नहीं। जैसा कि टी0एस0 इलिएट ने कहा है कि 'हमने विवेक को कहाँ खोया ? ज्ञान में, हमने ज्ञान को कहाँ खोया? सूचना में। विगत बीस शताब्दियों में हम ईश्वर से दूर होते गये और व्यर्थ की चीजों के करीब होते गये।'

हमारी लौकिक इच्छायें इतनी अधिक बढ़ गयी है कि मनुष्य में स्थित दिव्यता को प्राप्त करने की इच्छा को हृदय में स्थान देने के लिए हमारे पास समय ही नहीं रह गया है और यह सब इसलिए हो रहा है कि आज का व्यक्ति किसी केन्द्रीय तथ्य के अभाव में निरुद्देश्य भटक रहा है। यही कारण है कि आज का मनुष्य न तो आन्तरिक रूप से प्रसन्न और शान्त है, और न ही नैतिक और आध्यत्मिक रूप से चेतना के उच्चतम लक्ष्यों की ओर बढ़ने का इच्छुक है। इस प्रकार आन्तरिक शान्ति और सुरक्षा के अभाव से पीड़ित आधुनिक मानव दया के योग्य प्राणी बन गया हैं, क्योंकि इनके अभाव से उसमें संवेगात्मक अंसतुलन और मानसिक अयोग्यता उत्पन्न हो गयी है। इस अवस्था को परिलक्षित करते हुए पालब्रंटन का कहना है कि 'आज का मनुष्य एक लक्ष्यहीन पथिक है। वह बाह्य परिस्थितियों से इतना अधिक प्रभावित है कि उसने जीवन के उच्चतम प्रयोजनों को वस्तुतः त्याग ही दिया है।'

मूल्यों के ह्रास के सम्बन्ध में राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986 के पैरा 8.4 में कहा गया है कि 'इस बात पर गहरी चिन्ता प्रकट की जा रही है कि जीवन के लिए आवश्यक मूल्यों का ह्रास हो रहा है और मूल्यों पर से लोगों का विश्वास उठता जा रहा है। शिक्षा क्रम में ऐसे परिवर्तन की जरुरत है, जिससे सामाजिक और नैतिक मूल्यों के विकास में शिक्षा एक सशक्त साधन बन सके।

बोध प्रश्न

टिप्पणी

(क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिये गये स्थान का प्रयोग कीजिए ।

(ख) अपने उत्तरों को इकाई के अन्त में दिये गये उत्तर से मिलान कीजिए।

3. वर्तमान समय में किन मूल्यों को अधिक महत्व दिया जा रहा है?

....

....

4. मूल्यों के ह्रास के विषय में राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986 में क्या कहा गया है?

....

....

11.5 मूल्यों की श्रेणियां

मूल्य सद्गुणों का वह समूह है जिसे मनुष्य अपने संस्कारों तथा पर्यावरण के माध्यम से अपना कर अपने निर्धारित लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु जीवन शैली का निर्माण करता है, और अपने व्यक्तित्व का विकास करता है।

मूल्यों की अपनी श्रेणियां एवं स्तर होते हैं। पशुओं एवं मनुष्यों के समान इच्छाओं पर आधारित मूल्य को निम्न मूल्य कहा जाता है। बौद्धिक इच्छाओं को उच्च मूल्य कहा जाता है, क्योंकि बौद्धिक इच्छा पशुओं में नहीं होती यह केवल मनुष्य में ही होती है। बौद्धिक इच्छाओं को भी दो श्रेणियां होती हैं -

1- नैमित्तिक एवं

2- आन्तरिक।

जिन विषयों का चयन व्यक्तिगत निर्णय पर आधारित होता है, उसे नैमित्तिक विषय कहा जाता है। नैमित्तिक विषय का स्तर उच्च नहीं होता है। इसके विपरीत जो विषय अपने में पूर्ण होते हैं तथा बिना किसी अन्य की इच्छा पर निर्भर करे वे आन्तरिक विषय होते हैं, इनमें आन्तरिक मूल्य होते हैं, इसीलिए ये श्रेष्ठ भी होते हैं।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि जिन वस्तुओं में उनकी पूरी रूपरेखा सन्निहित होती है, और जिनको चिदबिन्दु की बहुत कम आवश्यकता होती है, वे उच्च स्तर के होते है। बहुविषय जो नैमित्तिक होते हैं, व्यक्तिगत मान्यताओं पर निर्भर होते हैं, और जिसके विषय में पूर्व निश्चय नहीं किया जा सकता हो, वह निम्न स्तर के होते हैं।

विषय चयन में किसी शिक्षा पद्धति का चयन करना कठिन होता है, क्योंकि प्रणाली या विधि का प्रभाव दूर-दूर तक पड़ता है। उदाहरणार्थ बेरोजगारी की समस्या को लिया जा सकता है। यहाँ प्रश्न उठता है कि क्या छात्रों के लिए व्यावसायिक शिक्षा की व्यवस्था हो? या बेरोजगारी दूर करने के लिए निःशुल्क शिक्षा दी जाए? इस दशा में हमारा चुनाव मूल्यों की समस्या से ग्रसित होगा । इसके प्रभाव का अन्दाजा इसी बात से हो जायेगा कि समाज की सभी समस्याएं अपने में ही सीमित नहीं रहती, इसलिए उस समस्या के समाधान का प्रभाव भी सीमित नहीं रहेगा ।

नैमित्तिकवादी विचारक अच्छी तरह जानते हैं कि किसी मूल्य को पहले से निश्चित नहीं कर सकते। इस हेतु वह समस्या के कारण जानने का प्रयास करेगा तत्पश्चात् उसका समाधान निकालेगा वह किसी बात के अंतिम उद्देश्य पर विचार न करके समस्या पर ही विचार करेगा। आन्तरिक मूल्यों के समक्ष नैमित्तिक मूल्यों की बात का कोई महत्व नहीं होता। इसके बावजूद यह बात उचित एवं सही नही है कि आन्तरिक मूल्य वाले सभी विषय समान महत्व के होते है। उदाहरणतः हिन्दी के छात्र हेतु हिन्दी एवं गणित के छात्र के लिए गणित ही मूल्यवान होता है। इसलिए हिन्दी व गणित के विषयों की तुलना भी नहीं की जा सकती है।

मूल्यों को मानने के आधार के सम्बन्ध में आन्तरिक मूल्यों को मानने वाले विचारकों का कहना है कि चूंकि मनुष्य तार्किक एवं बुद्धिमान होता है इसीलिए विषयों का चयन तार्किक एवं बुद्धि के आधार पर करना चाहिए। चूंकि बौद्धिकता ही विश्व का आधार होता है, अतः इसी के अनुसार विषयों का चयन करना चाहिए,जिससे विश्व का ज्ञान प्राप्त हो सके।

बोध प्रश्न

टिप्पणी

(क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिये गये स्थान का प्रयोग कीजिए ।

(ख) अपने उत्तरों को इकाई के अन्त में दिये गये उत्तर से मिलान कीजिए।

5. निम्न मूल्यों किसे कहा जाता है?

....

....

6. उच्च मूल्य किसे कहा जाता है?

....

....

11.6 मूल्य शिक्षा का अर्थ

मूल्य शिक्षा की अवधारणा अपेक्षाकृत आधुनिक एवं बहुत व्यापक है। मूल्य शिक्षा का आशय उस प्रकार की शिक्षा से है, जिसमें हमारे नैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक मूल्य सम्मिलित होते हैं। इसके अन्तर्गत विभिन्न विषयों को मूल्योन्मुख करके उसके द्वारा विभिन्न मूल्यों को छात्रों के व्यक्तित्व में समाहित करने का प्रयास किया जाता है, जिससे बालक का सार्वोन्मुखी विकास हो सके।

मूल्य शिक्षा विद्यालय के अन्दर एवं बाहर अनौपचारिक रूप से बालक को विकास एवं व्यवहार की उचित दिशा प्रदान करती है। छात्रों को मूल्यों के प्रति प्रेरित करने के लिए आवश्यक है कि ऐसी परिस्थिति निर्मित की जाए जो बालकों में स्वयं मूल्यों की ओर ध्यान आकृष्ट कर उनका विकास करे जैसे नागरिक शास्त्र विषय द्वारा छात्रों में राष्ट्रप्रेम, भाषा शिक्षण द्वारा सहयोग,नैतिक शिक्षा द्वारा चारित्रिक तथा पाठ्य सहगामी क्रियाओं द्वारा प्रेम, सहयोग, दया,सहिष्णुता, परोपकार जसे मूल्यों का विकास किया जा सकता है।

11.7 मूल्य शिक्षा के उद्देश्य

मूल्य शिक्षा के निम्न उद्देश्य बताये जा सकते है-

1. छात्रों में सत्य, अहिंसा, करुणा, दया, प्रेम, सहानुभूति जैसे मानवीय गुणों

का विकास करना।

2. छात्रों में उचित एवं अनुचित में अन्तर करने की क्षमता का विकास करना।

3. छात्रों को देश के प्रति कर्त्तव्यों से अवगत करना।

4. छात्रों मे राष्ट्रीयता की भावना का विकास करना तथा अन्तर्राष्ट्रीय सहयोगके लिए प्रेरित करना।

5. देश की सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, धार्मिक एवं राजनैतिक परिस्थितियों के सम्बन्ध में उन्हे जागरुक करना।

6. छात्रों को स्वयं को जानने हेतु प्रेरित करना, ताकि वह स्वयं में आस्था रख सकें ।

7. छात्रों को अपने पर्यावरण के प्रति जागरुक बनाना।

8. संस्कृति को हस्तान्तारित करना तथा उसकी महत्ता बनाये रखना।

9. छात्रों में समाज के साथ उचित समायोजन की भावना का विकास करना।

10. छात्रों को एक योग्य एवं उत्तरदायी नागरिक बनाने के लिए प्रशिक्षित करना।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि मूल्य शिक्षा का उद्देश्य बालक के जीवन के प्रत्येक पक्ष का सुधार करना है।

11.8 मूल्य शिक्षा की आवश्यकता एवं महत्व

आज मूल्य की अवधारणा में परिवर्तन हो गया है। प्राचीन भारतीय मूल्य लुप्त होते नजर आ रहे हैं, जीवन मूल्यों का ह्ास हो रहा है। आधुनिकता की अंधी दौड़ में व्यक्ति अपने परम्पराओं एवं संस्कारों से विमुख होता जा रहा है, परिणामतः हमारे मूल्य दब सेगये है। फिर भी इस बात को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि मूल्यों का ह्ास हुआ है नाश नहीं। आज भी भारतीय संस्कृति जीवित है। आज भी व्यक्ति हिंसा को गलत एवं प्रेम, सहयोग, दया आदि कोसही मानता है। स्त्रियों का सम्मान करता है। अनैतिक कार्यों का विरोध करता है और नैतिक कार्यो का समर्थन , किन्तु आधुनिकता के कारण व्यक्ति कभी मूल्यों के नजदीक आता है, तो कभी दूर जाता है। व्यक्ति की इस संशय की स्थिति को दूर करने के लिए मूल्य शिक्षा की आवश्यकता निम्नलिखित कारणों से जान पड़ती है।

1. व्यक्ति के चारित्रिक विकास एवं उन्नति के लिए:- स्वामी रामकृष्ण परमहंस ने कहा है कि 'चरित्रवान बनो, जगत अपने आप मुग्ध हो जायेगा।' गांधी जी ने भी ज्ञान का उद्देश्य उत्तम चरित्र का निर्माण बताया और कहा कि सच्चरित्रता के बिना केवल बौद्धिक ज्ञान सुगन्धित शव की भांति होती है। इससे स्पष्ट होता है कि व्यक्ति के जीवन में चरित्र का बहुत महत्व होता है। व्यक्ति के जीवन में चरित्र का महत्व होते हुए भी आज इसकी स्थिति बहुत सोचनीय है। यद्यपि आज के शैक्षिक संस्थाओं द्वारा छात्रों में चारित्रिक विकास के लिए प्रयास किया जाता है, किन्तु स्थिति में विकास की बजाय गिरावट आती जा रही है। आज की शिक्षा संस्थाएं, जातिवाद, सम्प्रदायवाद, भ्रष्ट्राचार एवं शोषण के केन्द्र बनते जा रहे है। अच्छे चरित्र का निर्माण अच्छे मूल्यों से होता है, इसलिए छात्रों में चारित्रिक विकास एवं उन्नति के लिए मूल्य शिक्षा की अत्यधिक आवश्यकता है।

2. व्यक्तिगत एवं समाज के विकास के लिए:- व्यक्ति एक सामाजिक प्राणी है, उसमें उचित अनुचित, नैतिक अनैतिक समझने की क्षमता होती है, इसीलिए उसे नैतिक कहा जाता है। व्यक्ति समाज में रहता है, इसीलिए समाज व्यक्तियों का ऐसा समूह होता है, जहाँ मेलजोल एवं अच्छा कार्य व्यवहार आवश्यक होता है क्योंकि व्यक्तियों के अच्छे कार्यों से ही समाज का विकास होता है। जो व्यक्ति जितना अधिक समाज के साथ समायोजित होता है, उसमें उतना ही अधिक सहयोग, सामंजस्य, सहानुभूति की भावना होती है। जिस समाज के व्यक्तियों में ऐसी भावना होती है, उस समाज का विकास होता है। इसलिए व्यक्तियों मं उपर्यूक्त गुणों एवं समाज के विकास एवं उन्नति के लिए मूल्य शिक्षा की अत्याधिक आवश्यकता है।

3. राष्ट्रीयता की भावना के विकास के लिए:- व्यक्ति का चरित्र उसके निजी एवं राष्ट्रीय जीवन के विभिन्न क्रिया-कलापों से पता चलता है। वर्तमान समय में राजनीतिज्ञों एवं कुछ अन्य लोगों के क्रिया-कलापों द्वारा देश में विभिन्न प्रकार की समस्याएं उत्पन्न हो रही हैं इसीकारण अन्य देशों के लोगों की नजरे देश में अशान्ति एव खण्डता फैलाने पर लगी है। लोगों कोजाति, धर्म, वर्ण, सम्प्रदाय, भाषा, शिक्षा एवं अन्य आधारों पर बाँटकर वैमनस्यता फैलायी जा रही है। ऐसी स्थिति में लोगों के अन्दर राष्ट्रीयता की भावना उत्पन्न करना आवश्यक हो गया है। इसीलिए लोगों में राष्ट्रीयता का विकास हो, इसीलिए मूल्य शिक्षा दी जानी चाहिए।

4. वातावरण शुद्धिकरण के लिए:- विभिन्न परीक्षणों द्वारा यह सिद्ध हो चुका है कि बालक के व्यक्तित्व के प्रत्येक पहलू पर वातावरण का व्यापक प्रभाव

पड़ता है। मनोवैज्ञानिक वाट्सन ने व्यक्ति के विकास में वातावरण को अधिक महत्व दिया और यहाँ तक कहा कि "मुझे नवजात शिशु को दे दो, मैं उसे डाक्टर, वकील य जो चाहूँ बना सकता हूँ। स्पष्ट है कि व्यक्ति पर उसक वातावरण का प्रभाव पड़ता है। यह वातावरण विभिन्न प्रकार (परिवार, विद्यालय, समाज या राष्ट्र) का हो सकता है। इन वातावरणों से व्यक्ति का जीवन सम्बन्धित होता है। आज विभिन्न परिवारों, समाजों एवं राष्ट्रों के बीच जो तनाव, संघर्ष, कलह, मारपीट आदि है, का प्रभाव व्यक्ति पर पड़ रहा है। इसीलिए बालक के वातावरण के शुद्धिकरण हेतु मूल्य शिक्षा होनी अति आवश्यक है।

5. संस्कृति के संरक्षण एवं सम्वर्द्धन हेतु :- भारतीय संस्कृति व्यक्ति के जीवन को उत्तरादायित्वपूर्ण तरीके से जीने हेतु प्रेरित करती है, किन्तु वर्तमान समय में व्यक्तियों द्वारा पश्चिमी सभ्यता एवं संस्कृति के अन्धानुकरण से भारतीय संस्कृति का ह्रास हो रहा है। आज स्थायी सुख देने वाले मूल्यों की जगह क्षणिक सुख देने वाले मूल्यों को आत्मसात किया जा रहा है, इसी कारण लोगों में प्रतिस्पर्धा, नैराश्य, उदासीनता, हताशा, निराशा की भावना उत्पन्न हो रही है। इस स्थिति में भारतीय संस्कृति का मूल स्वरूप ही परिवर्तित होता जा रहा है। इसीलिए संस्कृति संरक्षण एवं सम्बर्द्धन हेतु मूल्यों की शिक्षा अति आवश्यक है।

उपर्युक्त के अलावा कुछ अन्य कारणों से भी मूल्य शिक्षा की आवश्यकता जान पड़ती है।

1. राष्ट्र के उन्नतिशील विकास एवं सुखद भविष्य के लिए
2. भौतिक एवं आध्यात्मिक संस्कृति में समन्वय के लिए
3. उचित एवं अनुचित में अन्तर रखने के लिए
4. व्यक्ति के सुखद एवं समृद्धिशाली भविष्य के लिए
5. बालक के सर्वांगीर्ण विकास के लिए
6. मूल्यों के ज्ञान एवं उसके प्रति आस्था के लिए।

बोध प्रश्न

टिप्पणी

(क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिये गये स्थान का प्रयोग कीजिए ।

(ख) अपने उत्तरों को इकाई के अन्त में दिये गये उत्तर से मिलान कीजिए।

7. मूल्य शिक्षा की आवश्यकता के लिए तीन कारण बताइये :-

(क) ....

....

(ख) ....

....

(ग) ....

....

11.9 शैक्षिक मूल्यो के आधार पर शिक्षा के उद्देश्य

शिक्षा का उद्देश्य क्या हो ? इस बात का निर्णय वर्तमान समय की आवश्यकता के आधार पर ही होता है। इससे हमे इच्छित उद्देश्य की जानकारी हो जाती है, परन्तु उन उद्देश्यों की जानकारी नहीं हो पाती जिनकी इच्छा होनी चाहिए। यद्यपि विचारक सत्य के सम्बन्ध में एकमत नहीं हैं, फिर भी हमें यह पता है कि शिक्षा का उद्देश्य दर्शन द्वारा ही निर्धारित होता है। दर्शन द्वारा शिक्षा के उद्देश्य को सामान्य एवं निश्चित तथा अन्तिम एवं समीप की श्रेणियों में बांटा जा सकता है ।

सामान्य तथा अन्तिम उद्देश्यः-

सामान्य तथा अन्तिम उद्देश्य का निश्चय दर्शन के आधार पर होता है। धार्मिक व्यक्तियों के लिए ईश्वर ही इस विश्व का श्रष्टा होता है इस बात का बोध कराना ही शिक्षा का उद्देश्य होता है । इसके लिए ईश्वर की आज्ञाओं को मानना और उसकी प्रतिच्छाया बनकर रहना ही जीवन का लक्ष्य होता है। इसी उद्देश्य के समान आत्मबोध का उद्देश्य होता है, जिससे मनुष्य की शक्तियों का संपूर्ण विकास होता है। आत्मबोध का उद्देश्य स्पष्ट नहीं होता है, क्योंकि हम यह जानते हैं। कि सभी मनुष्यों का विकास नही होता है। आत्मबोध के अर्थ का निश्चय न होने के कारण आत्मबोध का उद्देश्य स्पष्ट नहीं होता है । यदि हम मनुष्यों की तार्किक एवं बौद्धिक शक्तियों का विकास कर दें, तो शिक्षा का उद्देश्य इन शक्तियों का विकास हो जायेगा। आत्मबोध का एक रूप मनुष्य की बुद्धि का विकास भी होता है, तब आत्मबोध का दूसरा रूप मनुष्य को अपनी पूर्णता को प्राप्त करना भी होगा,अर्थात जिस प्रकार का समाज होता है, उसी प्रकार शिक्षा का उद्देश्य भी होता है।

कुछ विद्वान, शिक्षा समाज द्वारा संचालित होती है,ऐसा न मानकर उसे स्वतन्त्र रूप देते हैं,और शिक्षा के उद्देश्यों को शिक्षा प्रक्रिया में सन्निहित करते हैं। बाह्य सामाजिक ज्ञान शिक्षा को सामग्री देने का काम करता है, परन्तु उसके लिए मापदण्ड नहीं बन पाता । यदि शिक्षा का उद्देश्य शिक्षा प्रक्रिया में निहित है तो शिक्षा किसी बाह्य उद्देश्य से प्रभावित नहीं होगा वह स्वयं उद्देश्य होगा । जीवन एवं शिक्षा एक दूसरे के पहलू हैं । यदि जीवन विकास है, तो शिक्षा भी विकास है, इसलिए अन्तिम उद्देयश्य शिक्षा का विकास करना होगा। चूंकि विकास का कोइ अन्त नहीं होता इसलिए शिक्षा का भी अन्त नहीं होता है। यह उद्देश्य भी स्पष्ट नही है क्योंकि विकास एवं प्रगति को एक समान माना जाता है। परन्तु विकास एवं प्रगति को एक समान मानना भ्रम है। क्योंकि रोगी के बीमारी का विकास होने पर उसे रोगी की प्रगति नहीं कहा जा सकता। इस विचार धारा की सबसे बड़ी कमी यह है कि यह वर्तमान विकास को ही अन्तिम उद्देश्य मानता है। यह विचार धारा भविष्य की ओर नहीं देखता, जो इसकी कमी है।बुरा कार्य अन्त की ओर और अच्दा कार्य विकास की ओर ले जाता है, इसलिए अच्छे कार्यों के विषय में ही सोचना चाहिए। शिक्षा का उचित उद्देश्य होना चाहिए, जो बालक को आजीवन विकास के पथ पर ले जाये।

11.9.2 निश्चित और समीवपर्ती उद्देश्यः- आज तक शिक्षा के बहुत से उद्देश्यों का वर्णन हो चुका है, और अब भी हो रहा है। नेशनल एजुकेशन एसोसिएशन (संयुक्त राज्य) ने शिक्षा के कुछ उद्देश्य बताये है, जो अग्रलिखित है- (1) पढ़ना लिखना और गणित (2) स्वास्थ्य (3) गृह सदस्यता (4) व्यवसाय (5) राजनैतिक ज्ञान (6) अवकाश के समय का उपयोग एवं (7) नैतिक चरित्र।

नेशनल एजुकेशन एसोशिएशन द्वारा बताये गये उपर्युक्त उद्देश्य माध्यमिक उद्देश्य कहे जा सकते हैं, क्योंकि समीपवर्ती उद्देश्य तो प्रत्येक पग पर निश्चित करना पड़ता है, इसी कारण समीपवर्ती उद्देश्य की व्याख्या करना कठिन होता है। शिक्षा अमूर्त विषय होता है, इसीलिए इसके उद्देश्यों का निर्धारण नहीं हो पाता है। आन्तरिक मूल्य के समर्थकों के अनुसार 12 वर्ष की अवस्था तक के छात्र छात्राओं के पाठ्य सामग्री मे बहुत कम परिवर्तन करना चाहिए, हालांकि लिंगभेद, भौगोलिक एवं सामाजिक स्थिति के कारण उनके पाठ्य सामग्री में परिवर्तन आवश्यक होता है। चूंकि इस अवस्था के बाद ही विशेष योगरूता की अवस्था आती है, इसीलिए उस समय उनके पाठ्य सामग्री में परिवर्तन तथा संशोधन आवय होना चाहिए। यदि राज्य व्यक्ति की व्यक्गित भलाई का ध्यान रख कर नियमपूर्वक पाठ्यक्रम का निर्माण कर सके

तो भी राज्य का अधिकार होता है कि पाठ्यक्रम के निर्धारण मे हस्तक्षेप करे, अन्यथा राज्य को हस्तक्षेप करने का कोई अधिकार नही हैं।

आदर्शवादियों के लिए सत्यम, शिवम् एवं सुन्दरम् अंतिम एवं मुख्य मूल्य होता है। उनका विचार है कि शिक्षा द्वारा इनकी प्राप्ति होनी चाहिए । जिस शिक्षक ने उक्त मूल्यों को प्राप्त कर लिया है, वह अपने छात्रों को उन मूल्यों की प्राप्ति सरलता पूर्वक करा सकता है। आदर्शवादियों का विचार है कि शिक्षक को बालक पर अपनी बात थोपना नहीं चाहिए, बल्कि सत्य बोलकर, दूसरों का कल्याण करके तथा सौन्दर्य की उपासना करके सत्यम् शिवम् एवंसुन्दरम् की प्राप्ति के साधन बताना चाहिए। कनिघम का मानना है कि बुद्धि को अनुशासित करने के लिए विषयों को ध्यान में रखना चाहिए। इसलिए विषयों का चयन बहुत सोच समझ कर करना चाहिए।

बोध प्रश्न

टिप्पणी

(क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिये गये स्थान का प्रयोग कीजिए ।

(ख) अपने उत्तरों को इकाई के अन्त में दिये गये उत्तर से मिलान कीजिए।

8. धार्मिक व्यक्तियों के लिए शिक्षा का क्या उद्देश्य होता है?

....

....

9. नेशनल एजूकेशन एसोसिएशन (संयुक्त राज्य) द्वारा बताये गये शिक्षा के तीन उद्देश्य बताइये।

....

....

10. आदर्शवादियों के लिए अंतिम मूल्य क्या होता है।

....

....

11.10 शिक्षा एवं मानव मूल्य

शिक्षा और मानव मूल्य पर विचार करते समय हमारे समक्ष यह प्रश्न उपस्थित

होता है कि आखिर युग मूल्य बने कैसे? अथवा एक काल विशेष में एक समाज के अन्तर्गत वे कौन से कारक हैं जो मूल्य के बनाने में सहायता करते हैं? इन प्रश्नोंके उत्तर हेतु हमें व्यक्ति, समाज तथा शिक्षा इन तीनों की समस्त गतिविधियों को देखना तथा उस पर विचार करना होगा।। विद्यार्थी वह बीज है जो सम्पूर्ण मूल्यों के विकास को अपने अन्दर सँजोये हुए है तथा शिक्षा वह परिवेश है जो इस बीज को खाद -पानी देकर विकसित होने के लिए सुअवसर प्रदान करती है। इन दोनों के योगदान से ही मूल्य का उद्‌भव संभव हो सकता है। शिक्षा समाज की सीढ़ी होती है। व्यक्ति इस शिक्षा रूपी सीढ़ी पर पैर रखकर अपने संस्कारों को सँवारता है तथा शिक्षा को दिशा प्रदान करता है। प्रायः समाज के सभी व्यक्तियों द्वारा महान व्यक्तिर्यों के जीवन के उद्देश्य को स्वीकार किया जाता है। व्यक्ति और समाज के कल्याण सम्बन्धी बातों का निर्धारण व्यक्ति, समाज और शिक्षा तीनों मिलकर करते हैं।

भारत में धर्मनिरपेक्षता की बात कहकर मूल्य निरपेक्ष शिक्षा का नारा दिया गया। अस्तु आज देश में विघटनकारी तत्व पहले से अधिक विद्यमान हैं। आज का युवा वर्ग विध्वंसात्मक कार्यों में संलिप्त है। वर्तमान शिक्षा पद्धति मानव में शोक, हर्ष, राग द्वेष आदि उत्पन्न कर रही है। इसी के कारण मानव मूल्यों में गिरावट आ रही है। आज की शिक्षा शिक्षार्थियों में न तो अनुशासन और न ही स्वाध्याय का विकास कर पा रही है। शिक्षार्थी अपना कर्तव्य नहीं करना चाहता। शिक्षा आदर्श तथा यथार्थ में अन्तर करती हैं। अन्ततः बालक जब आदर्शों को यथार्थता से भिन्न पाता है तो असहाय हो जाता है। मूल्यों और आज की शिक्षा प्रणाली में कोई समन्वय नहीं दिखाई देता । शिक्षार्थियों के परीक्षण का मापदण्ड, नोट्स, लेक्चर तथा प्रश्नोत्तर को रटना कौशल हो गया है। शिक्षार्थी अपने अस्तित्व को नहीं पहचान पा रहा है। शिक्षा जगत के लिए यह गिरता हुआ मूल्य एक चुनौती है। इसे सुधारने के लिए शिक्षा पद्धति में सुधार करना ही होगा।

शिक्षा ऐसी होनी चाहिए जिससे व्यक्ति अपनी प्राथमिकताओं, अपने कर्तव्य, अपने कार्य के प्रतिनिष्ठा तथा अपने स्व को समझ सके। तभी उसके अन्दर मानव मूल्य को विकसित करने की क्षमता आयेगी। यह पाठ्‌यक्रम, पाठ्‌यवस्तु तथा परीक्षा व्यवस्था से जुड़ी हुई समस्या है वर्तमान समय में ऐसी शिक्षा व्यवस्था की आवश्यकता है जिसमें व्यक्ति सत्य आधारित अहिंसा द्वारा प्रेमपूर्वक अपने जीवन का निर्वहन कर सके। शिक्षा द्वारा ऐसे व्यक्ति बनाने चाहिए जो स्वयं अपनी इच्छा से शाश्वत मूल्यों का पालन कर सके और जिससे व्यक्ति तथा समाज का भला हो सके। यह तभी संभव

है जब शिक्षा द्वारा व्यक्ति की आत्मा के जागृत कर दिया जाये । इसके लिए आध्यात्मिक शिक्षा की आवश्यकता होगी। आज के वैज्ञानिक विकास के कारण आध्यात्म की जड़े कमजोर हो गई हैं। विज्ञान ने आध्यात्म को पंगु सा बना दिया है। आध्यात्म को शिक्षा में स्थान देना ही होगा। तभी मूल्य पुनः स्थापित हो सकते हैं।अन्यथा आज की जो शिक्षा व्यवस्था है। उससे भारतीय सांस्कृतिक मूल्यों का संरक्षण करना बहुत कठिन है।

भारतीय संविधान को नैतिक मूल्यों का अमूल्य आधार कहा जाता है। भारतीय संविधान की प्रस्तावना में बताये गये मूल्यों को शिक्षा द्वारा ही शिक्षार्थियों के जीवन में उतारा जा सकता है। प्रजातन्त्र, समाजवाद, धर्मनिरपेक्षता, न्याय, सहिष्णुता, व्यक्ति की गरिमा, विचार तथा अभिव्यक्ति आदि मूल्य हमारे संविधान की प्रस्तावना में बताये गये हैं। इसके अतिरिक्त इमानदारी, उपकार, विनम्रता, अहंकार, निःस्वार्थता, समभाव, मन, वचन, सद्कर्म जैसे मूल्यों को शिक्षार्थियों के जीवन में उतारना है। इसके बिना व्यक्ति बिल्कुल असहाय होता है। इसलिए शिक्षार्थियों को मूल्यपरक शिक्षा दी जानी चाहिए। मूल्य को बताने के लिए केवल उपदेश का ही सहारा नहीं लेना चाहिए, बल्कि इसके लिए चिन्तन, अनुभूति तथा क्रियान्विति की आवश्यकता होती है।

युवकों में मूल्यों का विकास करने हेतु नई राष्ट्रीय शिक्षा नीति ने शिक्षा की प्रक्रिया का अभिविन्यास करने का प्रयास किया। युवकों को यही अनुभव कराने का प्रयास किया किस प्रकार वे शोषण एवं असुरक्षा को रोक सकते हैं। शिक्षार्थियों में सत्य, सहायोग, कर्तव्य परायणता सम्बन्धी विकास करने के लिए अनुकूल शिक्षा देने की बात कही गई है। माता-पिता का व्यवहार मूल्य सम्बन्धी होना चाहिए क्योंकि बालक सर्वप्रथम माता-पिता से ही शिक्षा ग्रहण करता है। पाठ्यक्रम में नैतिकता मूल्य सम्बन्धी अंशों का विस्तार करने चाहिए तथा पाठ्यपुस्तकों में भी नैतिक मूल्य सम्बन्धी अंश जोड़ना चाहिए।

विद्यालयों में शिक्षार्थी के अधिक से अधिक अनुभवों से जोड़ने का प्रयास करना चाहिए। इसके लिए धार्मिक उत्सवों का आयोजन, महापुरुषों की जयन्तियां, समय-समय पर संगोष्ठी तथा भाषण आदि का आयोजन करना चाहिए। शिक्षक सभी शिक्षार्थियों का आदर्श होता है। इसलिए शिक्षक को अपने आदर्श के प्रति सजग रहना चाहिए। शिक्षक के सदाचरण का प्रभाव शिक्षार्थियों पर पड़ता है शिक्षक के अन्दर उन मूल्यों को विकसित होना चाहिए जिन मूल्यों को वह प्रदान करना चाहता है।

समाज में मूल्यों का ह्रास हो रहा है यह हमारी शिक्षा व्यवस्था के लिए एक चुनौती है। इसके लिए शिक्षा में सुधार करना आवश्यक है। तभी मूल्यों का विकास होगा। शिक्षा राष्ट्र एवं समाज के विकास का एक प्रमुख साधन है । इसी के द्वारा

मनुष्य के शिवत्व और विनाश दोनों स्थितियां उत्पन्न हो सकती हैं कुशिक्षा व्यक्ति समाज तथा राष्ट्र तीनों को हानि पहुँचाती है।

विज्ञान और तकनीकी विस्तार के कारण ज्ञान तो बढ़ रहा है। किन्तु बुद्धि तथा विवेक संकुचित होता जा रहा है। इस कारण व्यक्ति का पतन हो रहा है। जनसंख्या विस्फोट के कारण छात्र संख्या बढ़ रही है, गुणवता घट रही है। समाज में अराजकता फैल रही है। मानव भयावह स्थिति में पहुँच गया है। संहारक यन्त्रों का विकास विज्ञान की देन है। 'न्यूक्लियर बम' के कारण सारा विकास, विनाश के कगार पर खड़ा है। शिक्षा ही इन सभी समस्याओं का समाधान कर सकती है। अतः शिक्षा की गुणवत्ता पर जोर दिया जाना चाहिए। विज्ञान के साथ-साथ आध्यत्मिक शिक्षा भी दी जानी चाहिए जिससे विज्ञान और मानवीय मूल्य दोनों का विकास हो सके।

बोध प्रश्न

टिप्पणी

(क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिये गये स्थान का प्रयोग कीजिए ।

(ख) अपने उत्तरों को इकाई के अन्त में दिये गये उत्तर से मिलान कीजिए।

11. समाज के विकास सम्बन्धी बातों का निर्धारण कौन करता है?

....

....

12. वर्तमान शिक्षा कैसी होनी चाहिए?

....

....

13. संविधान की प्रस्तावना में बतायें गये तीन मूल्य बताइये।

(क) ....

(ख) ....

(ग) ....

14. एक शिक्षक मूल्य शिक्षा किस स्थिति में प्रदान कर सकता है?

....

....

11.11 सारांश

इस इकाई में मूल्य का अर्थ एवं गिरावट का वर्णन किया गया और बताया गया कि मूल्य ऐसी आचरण संहिता होती है, जिससे व्यक्ति क व्यक्तित्व का विकास होता है, परन्तु वर्तमान समय में व्यक्ति के अत्याधिक स्वार्थी होने के कारण हर क्षेत्र में मूल्य का ह्रास हो रहा है। इसके बाद मूल्यो का प्रकार एवं उनकी श्रेणियों को स्पष्ट किया गया और बताया गया कि मूल्य दो प्रकार के होते है और उनकी दो श्रेणियां निम्न एवं उच्च होती है। शिक्षा क उद्देश्य को भी स्पष्ट किया गया और सामान्य एवं अंतिम उद्देश्य तथा निश्चित एवं समीपवर्ती उद्देश्य दो प्रकार के उद्देश्यों को बताया गया। अन्त में इस इकाई में शिक्षा एवं मानव मूल्य का वर्णन किया गया और बताया गया कि शिक्षा व्यवस्था इस प्रकार हो कि बालक सत्य एवं अहिंसा के द्वारा प्रेम पूर्वक जीवन निर्वाह करना सीख सके। वह स्वयं अपनी इच्छा से मूल्यों को अपनाये ताकि उसका एवं समाज दोनों का कल्याण हो सके। इसके लिए व्यक्ति के आत्मा को जागरुक होना आवश्यक है। इसलिए शिक्षा में आध्यात्म को रखना चाहिए, तभी वर्तमान शिक्षा भारतीय संस्कृति के मूल्यों को संरक्षित करने में समर्थ होगी।

11.12 अभ्यास कार्य

1. मूल्य किसे कहते है? स्पष्ट कीजिए।

2. अपने अनुभव के आधार पर बताइये कि वर्तमान समय में मूल्यों का ह्रास हो रहा है या नहीं? यदि हाँ तो कैंसे?

3. मूल्यो के प्रकार एवं श्रेणियों को स्पष्ट कीजिए।

4. शिक्षा के उद्देश्यों को विश्लेषित कीजिए।

5. शिक्षा एवं मानव मूल्य की विवेचना कीजिए।

11.13 बोध प्रश्न के उत्तर

1. मूल्य ऐसी आचरण संहिता या सद्‌गुणों का समूह होता है जिसे अपनाकर व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का विकास करता है, इसके अन्तर्गत व्यक्ति की धारणाएं विचार, विश्वास, मनोवृत्ति एवं आस्था आदि सम्मिलित होती है।

2. व्यक्ति द्वारा अपने सामाजिक जीवन को नियमित करने की दृष्टि से ।

3. भौतिक मूल्यों को

4. इस बात पर गहरी चिन्ता प्रकट की जा रही है कि जीवन के लिए आवश्यक मूल्यों का ह्रास हो रहा है और मूल्यों पर से लोगों का विश्वास उठता जा रहा है। शिक्षा क्रम में ऐसे परिवर्तन की जरुरत है, जिससे सामाजिक और नैतिक मूल्यों के विकास में शिक्षा एक सशक्त साधन बन सके।

5. पशुओं एवं मनुष्यों के समान इच्छाओं पर आधारित मूल्य को निम्न कहा जाता है।

6. बौद्धिक इच्छाओं को उच्च मूल्य कहा जाता है। (क) व्यक्ति के चारित्रिक विकास एवं उन्नति के लिए (ख) व्यक्ति एंव समाज के विकास के लिए (ग) सांस्कृतिक संरक्षण एवं सम्बर्द्धन के लिए।

7. (क) व्यक्ति के चारित्रिक विकास एवं उन्नति के लिए ।

(ख) व्यक्ति एवं समाज के विकास के लिए।

(ग) संस्कृति के संरक्षण एवं संवर्द्धन के लिए।

8. ईश्वर ही विश्व स्रष्टा है, इस बात का बोध कराना।

9. (क) स्वास्थ्य (ख) राजनतिक ज्ञान (ग) नैतिक चरित्र।

10. सत्यम् शिवम् एवं सुन्दरम् ।

11. समाज के कल्याण सम्बन्धी बातों का निर्धारण शिक्षा, समाज तथा व्यक्ति तीनों मिलकर करते हैं ।

12. वर्तमान शिक्षा ऐसी होनी चाहिए जिससे व्यक्ति सत्य तथा अहिंसा द्वारा प्रेम पूर्वक जीवन का निर्वाहन कर सके।

13 (क) प्रजातन्त्र (ख) समाजवाद (ग) धर्म निरपेक्षता

14. जब उसमे स्वयं अच्छे मूल्य उत्पन्न होंगे, क्योंकि शिक्षक छात्रों का प्रेरणा स्रोत होता है।

इकाई 12 स्वतन्त्रता तथा अनुशासन

संरचना

12.1 प्रस्तावना

12.2 उद्देश्य

12.3 स्वतन्त्रता तथा अनुशासन का महत्व

12.3.1 स्वतन्त्रता का महत्व

12.3.2 अनुशासन का महत्व

12.4 स्वतन्त्रता तथा अनुशासन का अर्थ

12.4.1 स्वतन्त्रता का अर्थ

12.4.1.1 शिक्षा के क्षेत्र में स्वतन्त्रता का अर्थ

12.4.2 अनुशासन का अर्थ

12.4.2.1 शिक्षा के क्षेत्र में अनुशासन का अर्थ

12.5 अनुशासन और व्यवस्था में अन्तर

12.5.1 दमनात्मक अनुशासन

12.5.2 प्रभावात्मक अनुशासन

12.5.3 मुक्तात्मक अनुशासन

12.6 अनुशासन के तीनों सिद्धान्तों की समीक्षा

12.7 सारांश

12.8 अभ्यास कार्य

12.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

12.1 प्रस्तावना

शिक्षा के क्षेत्र में स्वतन्त्रता एवं अनुशासन दो मनोवृत्तियाँ हैं, जिनका प्रयोग बहुत दिनों से होता चला आ रहा है । अनुशासन एवं स्वतन्त्रता के विषय में कुछ विरोधी मत प्रचलित हैं । कुछ शिक्षा शास्त्री यह मानते हैं कि विद्यालय तथा समाज में स्वतन्त्रता के कारण उच्छ्शृंखलता आती है, और अनुशासन में बाधा पड़ती है ।

लेकिन कुछ शिक्षा शास्त्री इसे सही नहीं मानते । स्वन्त्रता का तात्पर्य आत्म नियन्त्रण से है । यह एक प्रकार की भावना है, जिसमें व्यक्ति एक दूसरे का ध्यान रखता है। इसका फल अनुशासन होता है । अर्थात अनुशासित रहकर ही स्वतन्त्रता का फल प्राप्त किया जा सकता है । इस प्रकार स्वतन्त्रता एवं अनुशासन में घनिष्ठ सम्बन्ध है। समाज एवं शिक्षा के क्षेत्र में अनुशासन एवं स्वतन्त्रता दोनो का विशेष महत्व है । दोनो व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास के लिए परम आवश्यक हैं। नियमों का पालन करना अनुशासन तथा, मुक्त रूप से विचार करना, खोज एवं आविष्कार करना स्वतन्त्रता है । शिक्षा का लक्ष्य व्यक्तित्व का विकास करना हे, और इसके लिए स्वतन्त्र विचार एवं क्रिया के लिए एक व्यवस्था एवं परिस्थिति के अनुकूल व्यवहार व आचरण की आवश्यकता होती है, और यह अनुशासन द्वारा ही सम्भव है।

ए.एन.ह्वाइट हेड का विचार है कि अनुशासन एवं स्वतन्त्रता में कोई विरोध नहीं है। बालक के व्यक्तित्व के विकास के लिए दोनों ही आवश्यक हैं । नन महोदय ने कहा है कि 'अनुशासन आवेगों तथा शक्तियों के नियन्त्रण में होता है और इसी के द्वारा व्यक्ति को कार्य करने की अधिक क्षमता प्राप्त होती है ।

उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है कि अनुशासन एवं स्वतन्त्रता में घनिष्ठ सम्बन्ध है, दोनो एक ही सिक्के के दो पहलू है । जिस प्रकार आत्मा के अभाव में शरीर बेकार है, तथा शरीर के अभाव में आत्मा का अस्तित्व प्रगट नहीं हो पाता, उसी प्राकार अनुशासन एवं स्वतन्त्रता भी एक दूसरे पर निर्भर है । बिना स्वतन्त्रता के बाहर से थोपा गया अनुशासन बेकार है । वास्तव में स्वतन्त्रता पर आधारित अनुशासन ही सच्चा अनुशासन है जो स्वेच्छा से स्वीकार किया जाता है । इस इकाई में अनुशासन एवं व्यवस्था का वर्णन किया गया है और उनके मध्य अन्तरों को स्पष्ट किया गया है। व्यवस्था के तीनों रूपों की व्याख्या एवं समीक्षा भी की गयी है ।

12.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप इस योग्य हो जायेगें कि-

- अनुशासन एवं स्वतन्त्रता के सम्बन्धों की विवेचना कर सकेंगे ।
- व्यवस्था और अनुशासन के अन्तर को बता सकेगें ।
- व्यवस्था के प्रकारों की विवेचना कर सकेगें ।
- व्यवस्था के प्रकारों में से कौन सी व्यवस्था छात्रों के लिए अच्छी है, बता

सकेगें ।

12.3 स्वतन्त्रता तथा अनुशासन का महत्व

12.3.1 स्वतन्त्रता का महत्व

बालक के व्यक्तित्व के सम्पूर्ण विकास हेतु स्वतन्त्रता अति आवश्यक है। स्वतन्त्रता के बिना बालक की व्यक्तिगत रूचियों, रूझानों,आवेगों तथा इसकी शारीरिक, मानसिक,नैतिक एवं अन्य शक्तियों का विकास नहीं हो सकता । अक्सर देखा गया है कि जब किसी बालक को नियन्त्रित परिस्थिति में रखकर कोई कायर्य करने को कहा जाता है, तो वह कार्य उसके लिए एक कठिन कार्य हो जाता है । बालक उस कार्य को लोगों के कहने के कारण करता तो अवश्य है,परन्तु उसे उस कार्य में कोई रूचि नहीं होती है । इसके विपरीत यदि किसी बालक को उसकी इच्छानुसार कोई कार्य करने की स्वतन्त्रता दे दिया जाय तो बालक उस कार्य को रूचि के साथ करता है । इसका तात्पर्य यह है कि स्वतन्त्रता की परिस्थिति में बालक किसी भी कार्य को रूचि पूर्वक करता है । स्वतन्त्रता से बालक को स्वतन्त्र चिन्तन का अवसर मिलता है । इसी कारण रूसों ने बाध्यबल एवं बंधन को अस्वीकार करके बालकों की पूर्ण स्वतन्त्रता पर बल दिया है

12.3.2 अनुशासन का महत्व

बालक के सम्पूर्ण विकास के लिए स्वतन्त्रता के साथ-साथ अनुशासन भी अति आवश्यक है । यदि बालक को उसकी प्रकृति के अनुसार स्वतन्त्रतापूर्वक विकसित होने के अवसर दे दिया जाय तो वह विकास तो क्करेगा लेकिन, परन्तु उनमें ऐसे गुणों का विकास नहीं होगा जो आदर्श समाज के लिए आवश्यक होता है । स्वतन्त्रता प्राप्त बालक अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए सामाजिक नियमों की अवहेलना करता रहेगा जिसके फलस्वरूप सामाजिक जीवन अस्त व्यस्त हो जायेगा । वर्तमान युग में बालक को सच्चा व्यक्ति बनाने के लिए उन गुणों एवं आदतों का विकास करना आवश्यक है, जो आदर्श समाज के लिए आवश्यक है । इस हेतु बालकों का अनुशासन प्रिय होना आवश्यक है। अनुशासन के द्वारा बालक की मूल प्रवृत्यात्मक इच्छाओं एवं आवेगों को सुधारकर ऐसे गुणों का विकास किया जा सकता है, जिससे उसका व्यवहार समाज के स्वीकृत मानदण्डों के अनुसार हो जाये। प्राचीन काल में अनुशासन का इतना अधिक महत्व था कि इसे शिक्षा-जगत में साधन नहीं अपितु

साधना मान लिया गया था ।

12.4 स्वतन्त्रता तथा अनुशासन का अर्थ

12.4.1 स्वतन्त्रता का अर्थ

शिक्षा का उद्देश्य बालक का सर्वांगीण विकास करना होता है। बालक के विकास के लिए स्वतन्त्रता का होना आवश्यक है।

सामान्यतः स्वतन्त्रता का अर्थ किसी प्रकार का बन्धन न होने से लिया जाता है । स्वतन्न्रता का अंग्रेजी रूपान्तर फ्रीडम का शाब्दिक अर्थ भी यही होता है । परन्तु स्वतन्त्रता का शाब्दिक अर्थ इससे भिन्न है । स्वतन्त्रता का शाब्दिक अर्थ है- स्व + तन्त्र अर्थात अपना शासन। अर्थात स्वतन्त्रता वह स्थिति है ,जिसमें व्यक्ति स्व के शासन में रहता है।

स्वतन्त्रता वास्तव में एक सामाजिक तथ्य होता है क्योंकि अपनी स्वतन्त्रता बनाये रखने हेतु इस बात का ध्यान रखना आवश्यक होता है कि अपनी स्वतन्त्रता से किसी अन्य की स्वतन्त्रता बाधित न हो । स्वतन्त्रता की स्थिति में नियमों का पालन आवश्यक होता है और स्वतन्त्रता से लाभ उठाने के लिए नियम एवं नियन्त्रण का होना आवश्यक माना जाता है । इस सम्बन्ध में रास का कहना है कि आत्मानुशासन को ही सच्चे अर्थों में स्वतन्त्रता कहा जा सकता है । स्वतन्त्र व्यक्ति वही है जिसे यह ध्यान है कि जिस कानून का मै पालन कर रहा हूँ वह मैने ही बनाया है । रूसों का कहना है कि- वह व्यक्ति स्वतन्त्र है जो अपने समाज की इच्छाओं का पालन करता है ।

12.4.1.1 शिक्षा के क्षेंत्र में स्वतन्त्रता का अर्थ

शिक्षा के क्षेत्र में स्वतन्त्रता शब्द का प्रयोग मुख्यतः दो रूपों में होता है । कुछ विचारक बच्चों को किसी प्रकार के बन्धन में नहीं रखना चाहते हैं। वे बच्चों को निश्चित पाठ्यक्रम एवं विद्यालय की सीमाओं से बांधना नहीं चाहते हैं । वे बच्चों को अपनी रूचि, रूझान और इच्छानुसार कुछ भी और कहीं भी सीखने की स्वतन्त्रता देते हैं। इस स्थिति में औपचारिक शिक्षा का विधान नहीं हो सकता,इसलिए इस प्रकार की स्वतन्त्रता का समर्थन नहीं किया जा सकता है। इसलिए कुछ विद्वान बच्चों की पूर्ण स्वतन्त्रता के हिमायती नहीं हैं क्योंकि उनका मानना है कि पूर्ण स्वतन्त्रता से बच्चे

असामाजिक हो सकते हैं।

शिक्षा के क्षेत्र में स्वतन्त्रता का दूसरा अर्थ है, बच्चों को अपनी रूचि, रूझान एवं इच्छानुसार विकास करने के पूर्ण अवसर प्रदान करना, परन्तु इस सावधानी के साथ कि उससे दूसरे छात्रों को किसी प्रकार की छति न हो । अर्थात प्रत्येक छात्र अपना विकास करने के लिए स्वतन्त्र ही, परन्तु उसे दूसरे के विकास में बाधा डालने की स्वतन्त्रता न हो । आज शिक्षा के क्षेत्र में स्वतन्त्रता का अर्थ इसी रूप में ही लिया जाता है।

12.4.2 अनुशासन का अर्थ

सामान्यतः अनुशासन का अर्थ नियमों के पालन से लिया जाता है। परन्तु अनुशासन का वास्तविक अर्थ इससे भिन्न होता है 'अनुशासन' संस्कृत भाषा का शब्द है जिसका अर्थ होता है - आज्ञा या आदेश । अनुशासन के अंग्रेजी पर्याय 'डिसिप्लिन' का शाब्दिक अर्थ भी होता है - आदेश या नियन्त्रण को मानना । प्रारम्भ में अनुशासन एवं डिसिप्लिन दोनों शब्दों का प्रयोग आदेश पालन अथवा नियन्त्रण में रहने से लिया जाता था, परन्तु वर्तमान समय में अनुशासन का अर्थ इससे अलग रूप से लिया जाता है। आज अनुशासन शब्द का अर्थ व्यापक रूप में लिया जाता है और उसमें आन्तरिक प्रेरणा, आत्म नियन्त्रण, आत्मसंयम और आत्म व्यवहार को सम्मिलित किया जाता है ।

12.4.2.1 शिक्षा के क्षेत्र में अनुशासन का अर्थ

मध्यकाल तक अनुशासन एवं डिसिप्लिन शब्दों का अर्थ शिष्यों द्वारा गुरू के आदेशों का पालन करने अथवा उनके नियन्त्रण में रहने से लिया जाता था । परन्तु वर्तमान युग में अनुशासन का अर्थ छात्रों द्वारा विद्यालयी नियमों का पालन करने और समाज अनुकूल व्यवहार करने से लिया जाता है । वर्तमान समय में छात्रों पर विद्यालयी नियम थोपे नहीं जाते और न ही उन्हे समाजानुकूल व्यवहार करने के लिए बाध्य किया जाता है । वर्तमान समय में छात्रों को ऐसी परिस्थिति दी जाती है कि वे यह सब कार्य के लिए स्वयं सोचते हैं, वैसा करने के लिए स्वयं अपने अन्दर शक्ति का विकास करते हैं और इस प्रकार व्यवहार करते हैं। आज के विचारक इस स्थिति को स्वानुशासन की संज्ञा देते हैं और इसे ही सही अनुशासन कहते हैं।

बोध प्रश्न

टिप्पणी

(क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिये गये स्थान का प्रयोग कीजिए ।

(ख) अपने उत्तरों को इकाई के अन्त में दिये गये उत्तर से मिलान कीजिए।

1.बालको के लिए स्वतन्त्रता क्यों आवश्यक है ?

....

....

2. बालकों को पूर्ण स्वतन्त्रता देने की बात किसने की है ?

....

....

3. प्राचीन काल में अनुशासन को क्या माना गया था ?

....

....

4. स्वतन्त्रता का क्या अर्थ है ?

....

....

5. रूसो के अनुसार स्वतन्त्र व्यक्ति किसे कहेगें ?

....

....

6. अनुशासन का क्या अर्थ होता है ?

....

....

12.5 अनुशासन तथा व्यवस्था में अन्तर

सामान्यतः लोग अनुशासन एवं व्यवस्था में कोई भेद नहीं समझते, परन्तु इनमें बहुत अन्तर होता है । व्यवस्था एक वाह्य वस्तु है,परन्तु अनुशासन आन्तरिक होता है । व्यवस्था का अर्थ केवल नियम पालन से होता है, जबकि अनुशासन में

नियम पालन के साथ-साथ नियम पालन में व्यक्ति का विश्वास भी शामिल होता है, जबकि अनुशासन का सम्बन्ध वर्तमान एवं भविष्य दोनों से होता है। व्यवस्था वाह्य नियन्त्रण द्वारा कायम होती है, जबकि अनुशासन व्यक्ति की अन्तःकरण से नियन्त्रित होता है, इसी कारण जहाँ अनुशासन होता है, वहाँ व्यवस्था अवश्य होती है, परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि जहाँ व्यवस्था हो वहाँ अनुशासन भी हो । अनुशासित व्यक्ति अपने अन्तःकरण से प्रभावित होकर समाजोनुकूल व्यवहार करता है, इसलिए उसके द्वारा कभी भी अव्यवस्था नहीं हो सकतीं व्यवस्था वाह्य नियन्त्रण द्वारा कायम की जाती है, अनुशासन के अभाव में वाह्य नियन्त्रण हटते ही वह समाप्त हो सकती है । इससे स्पष्ट होता है कि यह आवश्यक नहीं है कि जहाँ व्यवस्था हो, वहाँ अनुशासन भी हो । अच्छे अनुशासन का अर्थ चरित्र में अनुशासन को उतारना तथा स्थायी रखना होता है ।

सन्त जेरेमिया के विचारों से प्रभावित होकर ईसाई मत के लोग बालक की उत्पत्ति पाप के कारण होती है, ऐसा मानते हैं । इसी कारण उसे दण्ड देकर शैतान के चंगुल से बचाकर ईश्वर की ओर लाना चाहते हैं। जेरेमियाँ हृदय को धोखेबाज तथा नीच मानता है और हृदय को काबू में करने के लिए दण्ड को उचित मानता है । कुछ सीमा तक मनोविज्ञान भी दण्ड देकर छात्रों में सद्गुण उत्पन्न करने को उचित मानता है । अनुशासन की समस्या का मूल कारण दर्शन एवं मान्यताएं हैं । आदर्शवादी तथा प्रकृतिवादी हमको विपरीत दिशा की ओर ले जाते हैं क्योकि एक अनुशासन को महत्व देता है तो दूसरा स्वतन्त्रता ाको ।

नार्मन मेकमन ने अपनी पुस्तक 'दी चाइल्ड पथ आफ फ्रीडम' तथा एडम्स ने अपनी पुस्तक 'माडर्न डेवलपमेंट इन एजूकेशनल प्रैक्टिस' में विभिन्न दार्शनिक सिद्धान्तों का विश्लेषण करके निम्न तीन अनुशासन बताये हैं :-

1. दमनात्मक अनुशासन
2. प्रभावात्मक अनुशासन
3. मुक्तात्मक अनुशासन

12.5.1 दमनात्मक अनुशासन

दमनात्मक व्यवस्था को मानने वाले शिक्षा शास्त्रियों नेकहा है कि बालक को अत्याधिक स्वतन्त्रता नहीं दी जानी चाहिए। इस अनुशासन (व्यवस्था) के अन्तर्गत बाह्य शान्ति एवं व्यवस्था को बहुत महत्व दिया जाता है। स्वतन्त्रतापूर्वक खेलने एवं चुलबुलाने आदि पर कठोर दण्ड दिया जाता है और अनुशासित रहना सीखाया जाता

है। इस अनुशासन को मानने वाले शायद ही आज मिले, परन्तु 17वीं शताब्दी के अन्त तक यूरोप में इस अनुशासन का बहुत महत्व था। दमनात्मक (निरोध) व्यवस्था को मानने वालों का यह विश्वास जेरेमिया (Jermiah) के इस कथन में था जिसके अनुसार मनुष्य का हृदय धोखेबाज तथा दुष्ट होता है। जेरेमिया के अनुसार बालक को सुधारने के लिए दण्ड एवं भय का प्रयोग अवश्य करना चाहिए। हम व्यवस्था के समर्थकों का विश्वास था कि -डण्डा छूटा और बालक बिगड़ा''। इस प्रकार प्राचीन यूरोप तथा भारत में केवल डण्डा ही शिक्षक की सहायक सामग्री समझी जाती थी।

दमनात्मक अनुशासन के पक्ष में तर्कः- दमनात्मक अनुशासन के पक्ष में निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत किया जा सकता है-

1. इस अनुशासन के विचारकों का मानना है कि बालकों को शिक्षित करने के लिए शारीरिक दण्ड सर्वोत्तम विधि है।

2. इन विचारकों का मानना है कि दण्ड देने से बालक अनुशासन में रहता है। इसलिए बालक को अनुशासित रखने के लिए शारीरिक दण्ड आवश्यक है।

3. शारीरिक दण्ड के डर से एक बालक दूसरे बालकों के साथ सामाजिक व्यवहार करने लगता है।

4. इस अनुशासन के विचारकों का मानना है कि भय के बगैर प्रीत नहीं होती इसलिए बालक शिक्षा तभी प्राप्त करेगा, जब उसे अपने गुरुजी का भय व्याप्त होगा।

दमनात्मक अनुशासन के विपक्ष में तर्कः- दमानात्मक अनुशासन के विपक्ष में निम्नलिखित तर्क दिया जा सकता है-

1. शाारीरिक दण्ड से बालक में विरोध की भावना आती है और वह बागी बन जाता है।
2. शाारीरिक दण्ड के कारण बालक पढ़ाई छोड़ देता है।
3. दण्ड के भय से बालक के व्यक्तित्व का विकास ठीक ढंग से नहीं हो पाता है।
4. दण्ड के भय से बालक जो कुछ सीखता है, वह विचलित होकर भूल जाता है।
5. दण्ड देने के कारण बालक शिक्षक को अपना शत्रु मानने लगता है।

12.5.2 प्रभावात्मक अनुशासन

इस अनुशासन को मानने वाले शिक्षाशास्त्रियों का विचार है कि बिना किसी

दण्ड के ही शिक्षक के व्यक्तित्व का प्रभाव छात्रों पर पड़ना चाहिए और उनका चरित्र अच्छा बन जाना चाहिए। अपने छात्रों पर प्रभाव डालने वाला शिक्षक महान आदर्शों से प्रेरित, चलता-फिरता सद्गुणों का पिण्ड अर्थात् गुणवान बालक को अपने स्कूल से समाज में भेजता है। गुणवान एवं आदर्शवनबालक उत्पन्न करने वाला स्कूल (इंग्लैण्ड का पब्लिक स्कूल) प्राचीन काल में रहे। इस अनुशासप को मानने वाले आर्नल्ड, विंग आदि प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके हैं। इस प्रकार का अनुशासन (व्यवस्था) बालकों को अन्तर्मुखी एवं नकलची बना देती है और उनकी सृजनात्मकता को कुंठित कर देती है।

प्रभावात्मक अनुशासन के पक्ष में तर्कः- प्रभावात्मक अनुशासन के पक्ष में निम्नलिखित तर्क दिया जा सकता है-

1. इस अनुशासन में बालक अपने शिक्षक का अनुकरण करके उनके अनुसार कार्य करता है।

2. इस प्रकार के अनुशासन में अत्याधिक स्वतन्त्रता तथा अत्यधिक कठोरता के बीच का रास्ता चुना जाता है। इससे बालक सुचारु रूप से शिक्षा ग्रहण करता है।

3. इस प्रकार के अनुशासन में शिक्षा की प्रक्रिया सुचारु रूप से चलती है, क्योंकि इसमें शिक्षक एवं छात्र का सम्बन्ध प्रेम एवं सहानुभूति पर आधारित होती है।

4. इस अनुशासन में बालक प्रभाव द्वारा स्वयं अनुशासन में रहता है।

प्रभावात्मक अनुशासन के विपक्ष में तर्कः- प्रभावात्मक अनुशासन के विपक्ष में निम्नलिखित तर्क दिया जा सकता है-

1. इस अनुशासन में शिक्षक का मुख्य स्थान होने के कारण वह बालक के चरित्र का निर्माणकर्त्ता समझने लगता है।

2. इस प्रकार के अनुशासन में बालक अपनी प्रकृति के अनुसार विकसित नहीं हो पाता है।

3. इसमें बालक शिक्षक के प्रति अच्छी श्रद्धा रखने के कारण स्वतन्त्ररूप से चिन्तन, मनन एवं कार्य नहीं कर सकता।

4. वर्तमान समय मे आदर्श शिक्षक की कमी के कारण, इस प्रकार की अनुशासन कोरी कल्पना है।

वर्तमान समय में ऐसे शिक्षकों की संख्या बहुत कम है जो अपने क्रिया-कलाप से बच्चों को प्रभावित कर सकें। इसलिए इस प्रकार के अनुशासन की केवल कल्पना की जा सकती है।

12.5.3 मुक्तात्मक अनुशासन

इस अनुशासन (व्यवस्था) को मानने वाले शिक्षा शास्त्रियों का विचार है कि बालक को अधिक से अधिक स्वतन्त्रता देनी चाहिए। बालक को स्वतन्त्रता देने से ही उसका विकास ठीक प्रकार से होगा। इसी कारण इसके समर्थक बालक को स्वच्छन्द एवं सभी प्रकार के बन्धनों से मुक्त रखना चाहते हैं। उनके लिए मूल प्रवृत्तियों का आदेश ही अच्छा आदेश होता है। इन लोगों के अनुसार बालक जन्म से अच्छा होता है, जैसा कि रास ने कहा है कि 'बालक जन्म से अच्छा होता है, परन्तु समाज उसे खराब कर देता है।' मनोवैज्ञानिक वुड्सवर्थ ने कहा है कि 'बालक दैवीय गुणों वाला होता है। प्रकृतिवादी दर्शनिक रूसों तथा हरवर्ट स्पेन्सर ने मोक्षण व्यवस्था को सबसे अच्छा माना है। इस व्यवस्था के लोग इस बात पर जोर देते हैं कि बालकों को उनकी नैसार्गिक, रूचियों, प्रवृत्तियों एवं भावनाओं के अनुसार विकास करने की पूरी स्वतन्त्रता देनी चाहिए, ताकि उनको आत्म प्रदर्शन के सर्वाधिक अवसर मिल सकें तथा वे अपने व्यक्तित्व का यथोचित निर्माण कर सकें।

मुक्तात्मक अनुशासन के पक्ष में तर्कः- मुक्तात्मक अनुशासन के पक्ष में निम्नलिखित तर्क दिया जा सकता है-

1. इस अनुशासन में बालक का स्वाभाविक विकास होता है और उसमें आत्मानुशासन की भावना पैदा होती है।

2. इस प्रकार के अनुशासन में बालक स्वतन्त्रता पूर्वक कार्य करता है और यदि वह कोई गलत कार्य करता है, तो प्रकृति उसे स्वयं दण्ड देती है।

3. चूंकि बालक जन्म से स्वतन्त्र होता है, इसलिए उसे कृत्रिम बन्धनों में जकड़ना बहुत बड़ा अन्याय है।

4. इस प्रकार के अनुशासन में बालक को अपनी प्राकृति के अनुसार विकसित होने का अवसर होता है, इससे उसके मन में किसी प्रकार की ग्रन्थियां नहीं उत्पन्न हो पाती और वह मानसिक रोगों से भी स्वतन्त्र रहता है।

मुक्तात्मक अनुशासन के विपक्ष में तर्कः- मुक्तात्मक अनुशासन के विपक्ष में निम्नलिखित तर्क दिया जा सकता है-

1. बालक की जन्मजात प्रवृत्तियां पाशविक होती है यदि बालक अपनी प्रवृत्ति अनुसार कार्य करेगा तो वह कार्य समाज विरोधी होगा।

2. बालकों को अच्छे एवं बुरे के अन्तर को समझने के लिए शिक्षक का हस्तक्षेप आवश्यक होता है।

3. प्रायः बालक स्वतन्त्रता को अधिकार समझ लेता है, इससे वह अपने कर्त्तय भूल जाता है।

4. बालकों में आत्मनियंत्रण एवं आत्मानुशासन का विकास करने के लिए स्वतन्त्र नहीं छोड़ा जा सकता है।

बालक के व्यक्तित्व विकास के लिए स्वतन्त्रता आवश्यक है, परन्तु इसके लिए उसे अनियन्त्रित रूप से स्वतंत्र नहीं छोड़ा जा सकता। बालक को उसी सीमा तक स्वतंत्रता दी जा सकती है। जिस सीमा तक वह उचित निर्देशन द्वारा अपना विकास कर सके ।

बोध प्रश्न

टिप्पणी

(क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिये गये स्थान का प्रयोग कीजिए ।

(ख) अपने उत्तरों को इकाई के अन्त में दिये गये उत्तर से मिलान कीजिए।

7. व्यवस्था एवं अनुशासन में दो अन्तर बताइये ?

(क) ....

(ख) ....

8. व्यवस्था के प्रकार बताइये ?

....

....

9. निरोध व्यवस्था के समर्थक किस बात पर विश्वास करते हैं?

....

....

10. प्रभाव व्यवस्था के दोष बताइये ।

....

....

11. प्रकृतिवादी दार्शनिक किस व्यवस्था को सबसे अच्छी व्यवस्था मानते हैं ?

....

....

12.6 अनुशासन के तीनों सिद्धान्तों की समीक्षा

उपर्युक्त तीनों व्यवस्थाओं (सिद्धान्तों) में से कौन सी व्यवस्था अच्छी है और कौन सी नही यह विचार करने पर ज्ञात होता है कि प्रथम व्यवस्था (निरोध) निम्न और वर्जित कोटि की व्यवस्था है, क्योंकि बालकों को दण्ड तभी दिया जाना चाहिए जब अन्य सभी उपाय विफल हो जाएं। मनोवैज्ञानिक फ्रायड एवं प्राचीन दार्शनिक तथा शिक्षक क्विन्तलियन ने बालकों को शारीरिक दण्ड देना अनुचित माना है। शारीरिक दण्ड से बचपन की दबी हुई बातें अचेतन मन में पहुँच जाती है, जो कभी भी निकलकर मस्तिष्क की स्नायुक्रिया को असन्तुलित कर देती है। परन्तु यदि बालक को दण्ड देने का कारण बता दिया जाए, तो दण्ड के हानिकारक प्रभाव से बचा जा सकता है। बालकों को सावधानी पूर्वक दण्ड दिया जा सकता है।

दूसरी अवस्था (प्रभाव) को मानने वाले विचारक बालक की सृजनात्मकता को नष्ट करने वाले होते हैं। वे बालकों को आज्ञाकारी बनना सिखाते हैं। चूंकि शिक्षक समाज का प्रतिनिधि होता है, इसलिए बालकपर शिक्षक का प्रभाव पड़ता ही है।यदि आदर्शयुक्त शिक्षक छात्रो को राष्ट्र के आदर्श एवं महान नेताओं की जीवनी बतायें तो विद्यालय आदर्श बनेगा ही साथ ही आदर्शवान छात्र भी होंगे। किन्तु आदर्शवान छात्र बनाने के चक्कर में छात्र कही अपूर्ण व्यक्तित्व वाला छात्र न बन जाय, इस बात का ध्यान रखना आवश्यक होगा। प्रभाववादियों का मत है कि आदर्श चरित्र की ओर उन्मुख छात्र चरित्रवान होते हैं और वह आदर्श समाज की स्थापना करते है।

तीसरी अवस्था (मोक्षण) निरोध व्यवस्था की प्रतिक्रिया है। इस व्यवस्था के समर्थक बालक के पूर्ण स्वतन्त्रता के पक्षपाती हैं। ये विचारक बालक की स्वाभाविक प्रवृत्ति को गलत चित्रित करते हैं। वे ये भूल जाते हैं कि बालक नित्य प्रति बहुत से कार्यो को दुहरा कर करते हैं। यहाँ प्रश्न उठता है कि बालक को पूर्ण स्वतन्त्रता देना उचित है या अनुचित ? कहना न होगा कि बालक को पूर्ण स्वतन्त्रता देने से उसमें संकीर्ण दृष्टिकोण उत्पन्न हो सकता है और असमाजिक कार्य भी कर सकता है। इसके बावजूद स्वतन्त्रता बुरी वस्तु नहीं है, बालक को स्वतन्त्रता देनी चाहिए, किन्तु उतनी ही स्वतन्त्रता दी जाय जितनी बालक जीवन के लिए उपयोगी हो।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि बालक को देश के आदर्श एवं महान नेताओं के चरित्र से अवगत कराकर निर्देशित स्वतन्त्रता के वातावरण में रखना चाहिए और सामाजिक कर्त्तव्यो से परिचित कराना चाहिए। बालकों को सोच समझकर कभी-

कभी दण्ड दिया जा सकता है, परन्तु दण्ड तभी दिया जाना चाहिए जब अन्य सभी उपाय बेकार हो जाय और बालकों को उतनी ही स्वतन्त्रता देनी चाहिए, जितना आवश्यक हो।

प्रजातान्त्रिक विद्यालयों की व्यवस्था और नेताओं द्वारा अनुशासित बालकों की स्वयं की व्यवस्था द्वारा अच्छे गुणों वाले बालक बनाया जा सकता है। इस बात का समर्थन कुर्टलेविन एवं लिप्पिट के कार्यों द्वारा भी हो चुका है। विभिन्न प्रकार के यूनियन एवं एसोाएिशन द्वारा छात्रों को नेतृत्व के गुणों का विकास करने का अवसर प्रदान करना चाहिए और राजनैतिक व्यवस्था के अनुसार ही विद्यालय की व्यवस्था भी करनी चाहिए।

बहुत से विद्वानों ने अनुशासन हीनता की समस्या के विषय पर विचार किया और अनुशासनहीनता दूर करने हेतु कुछ न कुछ सुझाव दिया, उन लोगों ने अनुशासनहीनता के जो कारण बताए उनमें निम्न बातें समान थीं जैसे -आदर्शहीनता, उद्देश्यहीनता एव दुर्व्यवस्थित समाज का दुर्व्यवस्थित विद्यालय। इन विद्वानों ने अनुशासनहीनता दूर करने के लिए कहा कि आदर्शों की खोज एवं पुनः स्थापना होना चाहिए।

अनुशासन एवं स्वतन्त्रता एक दूसरे के विरोधी न होकर एक दूसरे के सहयोगी हैं। नन् महोदय ने कहा हैं कि अच्छा काय करने की कोई विधि नही होती है और उस कार्य के आदर्श पहले से ही निश्चित नहीं हो सकते है। स्वतन्त्रता की स्थिति में ही व्यक्ति का अनशासित चरित्र पूर्ण रुप से दिखाई देता है और व्यक्ति द्वारा अपने नियमों का पालन करना ही स्वतन्त्रता होती है।

बालकों में विभिन्न गुणों का विकास स्वतन्त्र वातावरण के बिना नहीं किया जा सकता। जो बालक स्वतन्त्र वातावरण में शिक्षा प्राप्त करते हैं, उनमें ही संवेदनशीलता उत्पन्न होती है। इस सम्बन्ध मे प्रसिद्ध दार्शनिक कृष्णमूति ने कहा है कि शिक्षा वाह्य एंव आन्तरिक जगत में सामंजस्य स्थापित करती है। संवेदनहीनता, दया, करुणा का अभाव एवं जड़ता वर्तमान शिक्षा की देन है। उनके अनुसार संवेदनशीलता चेतना का आधारभूत तत्व है जिसे पुस्तकीय ज्ञान से नही प्राप्त किया जा सकता। इस स्थिति मे शिक्षा की महत्ता इसी से है कि वह बच्चों में अनुशासन के साथ-साथ प्राकृतिक सौन्दर्य बोध विकसित करें।चूंकि संवेदनशीलता स्वतन्त्रता की स्थिति में आती है इसलिए शिक्षक का कर्त्तव्य हो जाता है कि वह छात्रों को बाह्य एवं आन्तरिक

स्वतन्त्रता प्रदान करे, जिससे वे अपने व्यक्तित्व का विकास कर सकें ।

व्यक्ति के सम्पूर्ण विकास के लिए वैज्ञानिक बुद्धि एवं आध्यात्मिकता दोनों में सामन्जस्य होना आवश्यक है। स्वतन्त्रता एवं अनुशासन एक दूसरे के विरोधी न होकर एक दूसरे के पूरक है। व्यक्ति के जीवन में अनुशासन एवं स्वतन्त्रता दोनो का समावेश आवश्यक है। स्वतन्त्रता का अभिप्राय व्यक्तियो की इच्छा को ध्यान मे रखते हुए अपना कार्य करना है। स्वतन्त्रता मे निहित अनुशासन को प्राप्त किया जा सकता है जब व्यक्तियों में दूसरो के प्रति नम्रता, विवेकशीलता और वातावरण के प्रति सजगता हो । अनुशासन की स्थिति में ही स्वतन्त्रता उपजती है। वाहर से थोपी गयी अनुशासन चेतना को जड़ बना देती है। भय युक्त चेतना जीवन की सार्थकता को समझ सकती है। भय व्यक्ति में अनुकरण करने की प्रवृत्ति को बढ़ाती है और सोचने एवं सझने की क्षमता को कुठित करती है। अपने से श्रेष्ठात्ता को स्वीकारने का तात्पर्य चेतना एवं विवेक शीलता को समाप्त करना है। दार्शनिक कृष्णमूर्ति के अनुसार चेतना का तात्पर्य शारीरिक एवं मानसिक रूप से चेतन होने से है। शिक्षक का कार्य छात्रो में बाह्य एवं आन्तरिक चेतन होने से है। शिक्षक का कार्य छात्रों में बाह्य एवं आन्तरिक चेतना पैदा करना है। शिक्षा बालकों को विकास का अवसर प्रदान करती है। इसलिए छात्रों को स्वतन्त्रतापूर्वक अपने कार्य करने का अवसर देना चाहिए ताकि उनका सर्वांगीण विकास हो सके।

बोध प्रश्न

टिप्पणी

(क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिये गये स्थान का प्रयोग कीजिए ।

(ख) अपने उत्तरों को इकाई के अन्त में दिये गये उत्तर से मिलान कीजिए।

12. बालकों को दण्ड कब दिया जाना चाहिए?

....

....

13. अनुशासनहीनता के तीन कारण बताइये ।

....

....

14. बालक के सर्वांगीण विकास के लिए क्या आवश्यक है?

....

....

12.7 सारांश

इस इकाई में व्यवस्था और अनुशासन का वर्णन एवं विश्लेषण किया गया है और व्यस्था एवं अनुशासान के अन्तर को स्पष्ट किया गया है। इसके बाद व्यवस्था के तीनों प्रकारों निरोध, प्रभाव एवं मोक्षण की व्याख्या की गई है। अंत में इस इकाई में तीनों व्यवस्थाओं की समीक्षा की गयी है। इस प्रकार इस इकाई से स्पष्ट होता है कि व्यवस्था वर्तमान से सम्बन्धित होती है और बाह्य नियन्त्रण द्वारा कायम होती है, जबकि अनुशासन वर्तमान एवं भविष्य दोनों से सम्बन्धित होती है और अन्तःकरण से नियन्त्रित होता है। बालकों को सोच समझकर कभी-कभी दण्ड दिया जा सकता है, परन्तु दण्ड तभी दिया जाना चाहिए जब अन्य सभी उपाय बेकार हो जाए और बालको को उतनी ही स्वतन्त्रता देनी चाहिए जितना आवश्यक है।

12.8 अभ्यास कार्य

1. व्यवस्था एवं अनुशासन के अन्तर को स्पष्ट कीजिए।

2. व्यवस्था के तीनों प्रकार को विश्लेषित कीजिए।

3. अपने अनुभव के आधार पर बताइये कि निरोध, प्रभाव एवं मोक्षण में से किस व्यवस्था को अपनाना चाहिए।

4. क्या आप महसूस करते है कि बालकों को दण्ड दिया जाना चाहिए?

12.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

1. बालक के व्यक्तित्व के सम्पूर्ण विकास हेतु ।

2. रुसो ने।

3. प्राचीनकाल में अनुशासन को साध्य माना गया था।

4. किसी प्रकार का बन्धन न होना।

5. स्वतन्त्र व्यक्तिसे कहेंगे, जो अपने समाज की इच्छाओं का पालन करता है।

6. नियमों के पालन से लिया जाता है।

7. (क) व्यवस्था का सम्बन्ध वर्तमान से होता है,जबकि अनुशासन का सम्बन्ध वर्तमान एवं भविष्य दोनों से होता है।

(ख) व्यवस्था बाध्य नियन्त्रण द्वारा कायम होती है, जबकि अनुशासन

व्यक्तिके अन्तःकरण से कायम होती है।

8. (क) निरोध

(ख) प्रभाव

(ग) मोक्षण

9. निरोध व्यवस्था के समर्थक 'डण्डा छूटा और बालक बिगड़ा' के सिद्धान्त पर विश्वास करते हैं।

10. यह व्यवस्था बालक को दब्बू एवं नकलची बना देती है और सृनात्मक को कुंठित कर देती है।

11. मोक्षण व्यवस्था को।

12. जब अन्य सभी उपाय बेकार हो जायें।

13. (क) आदर्शहीनता

(ख) उद्देश्यहीनता

(ग) अव्यवस्थित समाज

14. आध्यात्मिकता एवं वैज्ञानिक बुद्धि दोनों में समन्वय होना आवश्यक है।

कुछ उपयोगी पुस्तकें

एन.आर.स्वरूप सक्सेना	–	शिक्षा के दार्शनिक एवं समाज शास्त्रीय सिद्धान्त, आर० लाल बुक डिपो मेरठ, 2005
नील कमल	–	शिक्षा सिद्धान्त, लायल बुक डिपो, मेरठ, 1993
डॉ. राम शकल पाण्डेय	–	शिक्षा की दार्शनिक एंव समाजशास्त्रीय पृष्ठभूमि, विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा, 2005
डॉ. राम शकल पाण्डेय	–	उदीयमान भारतीय समाज मे शिक्षक विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा, 2005
रमन विहारीलाल	–	शिक्षा के दार्शनिक एवं समाजशास्त्रीय सिद्धान्त, रस्तोगी पब्लिकेशन्स, शिवाजी रोड, मेरठ

लाल जी त्रिपाठी एवं ओम नरायण लाल श्रीवास्तव	–	शिक्षा और समाज, द्विवेदी प्रकाशन मन्दिर, गोरखपुर, 2005
एस0के0 पाल, एल0एन0 गुप्त मदन मोहन	–	शिक्षा और समाज, न्यू कैलाश प्रकाशन,इलाहाबाद, 2006
सत्यदेव सिंह	–	शिक्षा सिद्धान्त एवं दर्शन, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 1984
एस0एस0 माथुर	–	शिक्षा के दार्शनिक तथा सामाजिक आधार अग्रवाल पब्लिकेशन्स, आगरा,2007/2008
सफाया,शैदा,शुक्ला	–	उदीयमान भारतीय समाज में शिक्षक, धनपतराय पब्लिशिंग कम्पनी (प्रा0)लिमिटेड नई दिल्ली-2005
Alberty H.B. and Bode B.D.	–	Educational Freedom & Democracy Newyark Appelton, 1938
Badley, W.C.	–	School and Society, Sep. 8. 1945
Bosanqnet A. K.	–	The Principle of Individuaity and Value 1912 Macilian
Mathur, S.S.	–	A Sociological Approach to Indian Education
Pandey, R. S.	–	Principle of Education
Brubacher J. S.	–	(Editor) The Public School and Spiritual values New York Harper1944

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

UGED-102
शिक्षा के दार्शनिक एवं सामाजिक आधार

खण्ड
4
शिक्षा का सामाजिक आधार

इकाई-13 225

शिक्षा में समाजशास्त्र का योगदान तथा बालक का समाजीकरण

इकाई-14

संस्कृति और शिक्षा 241

इकाई-15

विद्यालय तथा समुदाय 253

इकाई-16

शिक्षा और सामाजिक परिवर्तन 269

विशेषज्ञ समिति

प्रो0 एस0पी0 गुप्ता	निदेशक, शिक्षा विद्या शाखा, उ0प्र0रा0ट0मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
प्रो0 राम शकल पाण्डेय	पूर्व आचार्य,शिक्षाशास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
प्रो0 हरिकेश सिंह	आचार्य, शिक्षा संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

परिमापक

डॉ0 सरोज पाण्डेय	वरिष्ठ उपाचार्य एन0सी0ई0आर0टी0, नयी दिल्ली

सम्पादक

प्रो0 राम शकल पाण्डेय	पूर्व आचार्य, शिक्षाशास्त्र विभाग इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

लेखक

डॉ0 यू0 एन0 तिवारी	प्रवक्ता, शिक्षा विद्या शाखा, उ0प्र0रा0ट0मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

© उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

सर्वाधिकार सुरक्षित। इस पाठ्य-सामग्री का कोई भी अंश उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति लिए बिना, मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

UGED-102 शिक्षा के दार्शनिक एवं सामाजिक आधार

खण्ड 1- शिक्षा के दार्शनिक आधार

इकाई-1 शिक्षा, दर्शन एवं शिक्षा -दर्शन

इकाई-2 प्रकृतिवाद

इकाई-3 आदर्शवाद

इकाई-4 प्रयोजनवाद तथा यथार्थवाद

खण्ड 2- प्रमुख शिक्षाशास्त्री

इकाई-5 प्लेटो एवं रूसो

इकाई-6 जॉन डीवी, माण्टेसरी एवं फ्रोबेल

इकाई-7 स्वामी विवेकानन्द एवं श्री अरविन्द घोष

इकाई-8 रवीन्द्र नाथ टैगोर एवं महात्मा गाँधी

खण्ड 3- दार्शनिक दृष्टिकोण से शैक्षिक समस्याएँ

इकाई-9 शिक्षा में व्यक्ति एवं समाज

इकाई-10 धर्म और शिक्षा

इकाई-11 शैक्षिक मूल्य

इकाई-12 स्वतंत्रता तथा अनुशासन

खण्ड 4- शिक्षा का सामाजिक आधार

इकाई-13 शिक्षा में समाजशास्त्र का योगदान तथा बालक का समाजीकरण

इकाई-14 संस्कृति और शिक्षा

इकाई-15 विद्यालय तथा समुदाय

इकाई-16 शिक्षा और सामाजिक परिवर्तन

खण्ड परिचय -4 शिक्षा का सामाजिक आधार

व्यक्ति एक सामाजिक प्राणी है और समाज में ही विकास करता है। बिना समाज के व्यक्ति का कोई जीवन नहीं है । इतिहास इस बात का साक्षी है कि व्यक्ति ने अपने सामाजिक विकास में सदैव मित्रता, सहयोग एवं नेतृत्व की इच्छा प्रकट की है। इकाई 13 में समाजीकरण क्या है समाजीकरण किस प्रकार होता है और समाजीकरण की प्रक्रिया में शिक्षक की क्या भूमिका होता है आदि का वर्णन किया गया है।

संस्कृति के व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास होता है। संस्कृति और शिक्षा का घनिष्ट सम्बन्ध होता है। दोनों एक दूसरे को प्रभावित करते हैं तथा एक के अभाव में दूसरे के विकास की कल्पना नहीं की जा सकती है। इकाई 14 मे संस्कृति के अर्थ एवं स्वरूप को स्पष्ट किया गया है। सभ्यता को स्पष्ट करते हुए सभ्यता एवं संस्कृति में अन्तर बताया गया है। तत्पश्चात उपसंस्कृति, संस्कृति के कार्यों की व्याख्या तथा संस्कृति और शिक्षा के सम्बन्धों आदि का वर्णन एवं विश्लेषण किया गया है।

विद्यालय एवं समुदाय दोनों में घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। दोनों एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। इकाई 15 मे विद्यालय एवं समुदाय के अन्तः सम्बन्धों को स्पष्ट किया गया है। तत्पश्चात् समुदाय के विद्यालय पर प्रभाव एवं विद्यालय के समुदाय पर प्रभाव एवं विद्यालय के समुदाय पर प्रभाव, सामुदायिक केन्द्र के रूप में विद्यालय तथा स्थानीय साधनों के उपयोग का वर्णन किया गया है। अन्त में विद्यालय में सामूहिक जीवन विकसित करने के उपायों का वर्णन किया गया है।

परिवर्तन प्रकृति का नियम है। प्रकृति की भाँति समाज में भी परिवर्तन होता रहता है। चूँकि समाज एक गतिशील संस्था है। इसलिए उसमें परिवर्तन होना स्वाभाविक है। इकाई 16 में सामाजिक परिवर्तन का अर्थ एवं विशेषताएँ, सामाजिक परिवर्तन एवं नगरीकरण के विषय में जानकारी दी गई है। इस इकाई में सामाजिक परिवर्तन के प्रतिनिधि के रूप में शिक्षण एव सामाजिक परिवर्तन में शिक्षक की भूमिका के विषय में भी बताया गया है।

इकाई - 13 शिक्षा में समाजशास्त्र का योगदान तथा बालक का समाजीकरण

संरचना

13.1 प्रस्तावना
13.2 उद्देश्य
13.3 समाजशास्त्र की प्रकृति
13.4 शैक्षिक समाजशास्त्र
  13.4.1 शैक्षिक समाजशास्त्र के उद्देश्य
  13.4.2 शैक्षिक समाजशास्त्र का क्षेत्र
13.5 सामूहिक जीवन
13.6 विद्यालय तथा समाज
13.7 समाज की प्रकृति
13.8 समाज और शिक्षा के कार्य
13.9 शिक्षा तथा समाज की पारस्परिक निर्भरता
13.10 शिक्षा के कार्य
13.11 समाजीकरण का अर्थ
13.12 समाजीकरण की विशेषताएं
13.13 समाजीकरण की प्रक्रिया
13.14 समाजीकरण करने वाले तत्व
  13.14.1 परिवार
  13.14.2 पड़ोस
  13.14.3 स्कूल
  13.14.4 खेलकूद
  13.14.5 स्काउटिंग एवं गाइडिंग
  13.14.6 समुदाय या समाज
13.15 समाजीकरण में बाधक तत्व
13.16 समाजीकरण में शिक्षक का स्थान
13.17 सारांश
13.18 अभ्यास कार्य
13.19 बोध प्रश्नों का उत्तर

13.1 प्रस्तावना

व्यक्ति एक सामाजिक प्राणी है। वह समाज में ही जन्म लेता है और समाज में ही विकास करता है। बिना समाज के व्यक्ति का कोई जीवन ही नहीं है। इसी कारण प्रत्येक देश

एवं काल में व्यक्ति ने अपने लोगों से सम्पर्क में रहने की इच्छा प्रकट की है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि व्यक्ति ने अपने सामाजिक विकास में सदैव मित्रता, सहयोग एवं नेतृत्व की इच्छा प्रकट की है। व्यक्ति की यह इच्छा सिर्फ सामाजिक सम्पर्क द्वारा ही पूरा हो सकता है। इसलिए व्यक्ति तथा समूह से सदैव अन्तःप्रक्रिया हुई, हो रही है और होती रहेगी। इस परस्पर होने वाली अन्तः प्रक्रिया में विभिन्न सामाजिक प्रक्रियाएं एवं सामाजिक तत्व सम्मिलित होते हैं। इन सामाजिक प्रक्रियाओं एवं तत्वों का ज्ञान हमें समाज शास्त्र देता है। शिक्षा की प्रक्रिया समाज के हाथों में होती है। इस कारण शिक्षा में समाज की आवश्यकताओं की उपेक्षा नहीं की जा सकती। इस इकाई में यह वर्णन किया जायेगा कि शिक्षा और समाज किस प्रकार एक दूसरे पर निर्भर होते हैं और शिक्षा से समाजशास्त्र किस प्रकार योगदान करता है। इसी इकाई में समाजीकरण क्या हैं, समाजीकरण किस प्रकार होता है और समाजीकरण की प्रक्रिया में शिक्षक की क्या भूमिका होती है, का भी वर्णन किया जायेगा।

13.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप इस योग्य हो जायेंगे कि –

- समाजशास्त्र एवं समाज का स्वरूप निर्धारित कर सकेंगे।
- विद्यालय एवं समाज के सम्बन्धों की विवेचना कर सकेंगे।
- समाज़ के प्रति शिक्षा के कर्तव्य एवं शिक्षा तथा समाज के सम्बन्धों को स्पष्ट कर सकेंगे।
- समाजीकरण क्या है और समाजीकरण किस प्रकार होता है? बता सकेंगे।
- समाजीकरण करने वाले तत्वों की व्याख्या कर सकेंगे।
- समाजीकरण की प्रक्रिया में शिक्षक की भूमिका को स्पष्ट कर सकेंगे ।

13.3 समाजशास्त्र की प्रकृति

'सोशियोलाजी' शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम 1837 में अगस्त काम्टे ने अपने भाषण में किया था। काम्टे ने सभी विज्ञानों को क्रमबद्ध किया, जिसमें समाजशास्त्र को मुख्य स्थान देते हुए बताया कि समाजशास्त्र एक विस्तृत विज्ञान है। यह सभी विज्ञानों का समन्वय है और इसका प्रयोग सामाजिक पुनर्निर्माण में किया जाना चाहिए। काम्टे के पश्चात सन 1876 में हरबर्ट स्पेन्सर ने 'समाजशास्त्र के सिद्धान्त' नामक पुस्तक का प्रकाशन करके समाजशास्त्र की प्रगति में विशेष योगदान किया। इनके अतिरिक्त इस विषय के दूसरे प्रवर्तकों ने भी समाजशास्त्र के विभिन्न पक्षों पर लेख लिखकर इसकी प्रगति में योगदान किया। परिणामस्वरूप समाजशास्त्र को एक स्वतंत्र विषय के रूप में मानकर इसके वैज्ञानिक अध्ययन पर बल दिया जाने लगा।

समाजशास्त्र में समाज एवं व्यक्ति के प्रकृति का अध्ययन किया जाता है । समाज के अध्ययन के लिए वैज्ञानिक विधि का प्रयोग किया जाता है, इसी कारण समाजशास्त्र को विज्ञान की श्रेणी में रखा जाता है। समाज का अध्ययन करने के कारण समाजशास्त्र को काम्टे

सर्वोत्कृष्ट विज्ञान मानता था।

व्यक्ति किसी न किसी समूह का सदस्य होता है, यह समूह व्यक्ति के व्यवहार को प्रभावित करता है। एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के सम्पर्क में आकर किस प्रकार का व्यवहार करता है, इस बात का अध्ययन समाजशास्त्र में किया जाता है अर्थात समाजशास्त्र मुख्य रूप से सामाजिक अन्तःक्रिया का ज्ञान प्रदान करता है। इस बात का समर्थन करते हुए मैकाइवर एवं डंकन आदि समाजशास्त्रियों ने कहा है कि सामाजिक अन्तः क्रिया अथवा सामाजिक सम्बन्ध को समाजशास्त्र का मुख्य विषय होना चाहिए।

13.4 शैक्षिक समाजशास्त्र

समाजशास्त्र की अनेक शाखाएँ हैं, उनमें एक शाखा है शैक्षिक समाजशास्त्र। शैक्षिक समाजशास्त्र समाजशास्त्र का ऐसा अंग है जो शिक्षा तथा समाजशास्त्र का समन्वित रूप है। शैक्षिक समाजशास्त्र इस बात पर बल देता है कि समाजशास्त्र के उद्देश्यों को शैक्षिक प्रक्रिया के द्वारा प्राप्त किया जाये। शैक्षिक समाजशास्त्र सामाजिक विकास और उन्नति के लिए उन सभी सामाजिक प्रतिक्रियाओं एवं सामाजिक अन्तः-प्रक्रियाओं का अध्ययन करता है, जिनको जाने बिना शिक्षा के स्वरूप एवं समस्याओं का समाधान नहीं किया जा सकता। संक्षेप में शैक्षिक समाजशास्त्र वह विज्ञान है, जो शिक्षा सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाली प्रक्रियाओं, जन समूहों, संस्थाओं तथा समितियों का अध्यन करता है।

जार्ज पेनी को शैक्षिक समाजशास्त्र का पिता कहा जाता है। इसने अपनी पुस्तक 'दि प्रिन्सिपिल्स आफ एजूकेशनल सोशियोलाजी' में कहा है कि शिक्षा का सामूहिक जीवन पर तथा सामूहिक जीवन का शिक्षा पर प्रभाव पड़ता है। उसने यह भी बताया कि व्यक्ति के सर्वांगीण विकास के लिए उस पर पड़ने वाली सामाजिक शक्तियों के प्रभाव का अध्ययन करना अति आवश्यक है। जार्ज पेनी के अलावा जान डीवी, मूर, फ्रेडरिक लेप्ले, डंकन, कोल, मैकाइवर, मेरिल, डेविस, डोलार्ड, दुर्खीम, क्लार्क आदि विद्वानों ने शैक्षिक समाजशास्त्र के विकास में महत्वपूर्ण योगदान किया है। जान डीवी ने अपनी पुस्तक 'स्कूल तथा समाज' एवं 'जनतन्त्र और शिक्षा' में शैक्षिक समाजशास्त्र के महत्व को स्वीकार करते हुए शिक्षा को सामाजिक प्रक्रिया माना है।

बोध प्रश्न –

टिप्पणी (क) – अपने उत्तरों के लिए नीचे दिये गये स्थान का प्रयोग कीजिए।

(ख) - अपने उत्तरों को इकाई के अन्त में दिये गये उत्तर से मिलान कीजिए।

(1) सोशियोलाजी शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम किस समाजशास्त्री ने किया था?

....

....

....

(2) शैक्षिक समाजशास्त्र का क्या अर्थ है?

....

....

....

(3) शैक्षिक समाजशास्त्र का पिता किसे कहा जाता है?

....

....

....

13.4.1 शैक्षिक्र समाजशास्त्र के उद्देश्य

हेरिंगटन ने शैक्षिक समाजशास्त्र के निम्नलिखित उद्देश्यों को बताया है -

(1) सामाजिक प्रगति के लिए शिक्षक एवं स्कूल के कार्यों का समाजिक संदर्भ में ज्ञान प्राप्त करना।

(2) विद्यालय को प्रभावित करने वाले सामाजिक तत्वों का अध्ययन करना।

(3) छात्रों पर पड़ने वाले सामाजिक तत्वों के प्रभाव का ज्ञान प्राप्त करना।

(4) सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक पक्षों को ध्यान में रखकर सामाजिक दृष्टिसे शैक्षिक पाठ्यक्रम का निर्माण करना।

(5) जनतांत्रिक विचारधाराओं का ज्ञान प्राप्त करना।

(6) शैक्षिक समाजशास्त्र के उद्देश्यों की पूर्ति हेतु विभिन्न अनुसंधान विधियों का प्रयोग करना।

13.4.2 शैक्षिक समाजशास्त्र का क्षेत्र

शैक्षिक समाजशास्त्र के अन्तर्गत निम्नलिखित बातों का अध्ययन किया जाता है -

(1) शिक्षक एवं छात्रों का परस्पर सम्बन्ध

(2) समाज में शिक्षक की स्थिति

(3) सामाजिक आवश्यकताएं एवं समस्याएं

(4) विभिन्न सामाजिक इकाइयों के परस्पर सम्बन्ध

(5) बालक एवं विद्यालय पर सामाजिक जीवन का प्रभाव

(6) सामाजिक प्रक्रिया में रेडियो, सिनेमा एवं प्रेस का मूल्यांकन

(7) व्यक्ति एवं समाज की प्रगति हेतु पाठ्यक्रम में आवश्यक परिवर्तन

(8) सामाजिक नियंत्रण एवं सामाजिक प्रगति के साधनों का मूल्यांकन ।

13.5 सामूहिक जीवन

समाजशास्त्र सें हमें ज्ञात होता है कि व्यक्ति समूह अर्थात समाज में रहता है। वह अपने साथियों के साथ जीवन यापन करता है। इसी कारण व्यक्ति को सामाजिक प्राणी कहा जाता

है।

दो या दो से अधिक व्यक्ति मिलकर समूह का निर्माण करते है । समूह की प्राथमिक इकाई परिवार होता है। परिवार का निर्माण माता पिता एवं बच्चों से होता है। समान विचार एवं समान पूर्वजों वाले परिवार से मिलकर कुल या गोत्र का निर्माण होता है। व्यक्ति अपना सामूहिक जीवन इसी में व्यतीत करता है। समूह में ही व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का निर्माण एवं विकास करता है। समूह में रह कर ही व्यक्ति समूह के प्रति अपने कर्तव्यों को समझता है। व्यक्ति समाज में कई समूह होने के कारण व्यक्ति कई समूहों का सदस्य होता है। समाज में पाये जाने वाले विभिन्न समूहों में से कुछ समूह रक्त से सम्बन्धित होते हैं, तो कुछ व्यापार, व्यावसाय या अन्य उद्देश्यों के आधार पर बन जाते हैं। इन समूहों का प्रभाव व्यक्ति के व्यवहार पर तथा व्यक्ति के व्यवहार का प्रभाव इन समूहों पर पड़ता है। विद्यालय को भी समूह माना जाता है। जहाँ पर छात्र सामूहिक जीवन के विषय में ज्ञान प्राप्त करते हैं वहाँ का सामाजिक वातावरण छात्रों के व्यक्तित्व विकास में सहायक होता है। इसी प्रकार के समूहों में रह कर ही व्यक्ति सहयोग, भाई चारा, प्रतिद्वन्द्विता, प्रेम करना, दया करना, अनुकरण करना आदि सीखता है। नैतिकता का पालन करना भी समूह के द्वारा ही सीखते हैं।

13.6 विद्यालय तथा समाज

व्यक्ति एक सामाजिक प्राणी है। वह समाज के अनुकूल चलने का प्रयास करता है। शिक्षा उसकी इस कार्य में सहायता करती है। शिक्षा व्यक्ति को इस योग्य बनाती है कि वह समाज का प्रगतिशील प्राणी बन सके। और अपनी शिक्षा द्वारा समाज की आर्थिक सामाजिक तथा नैतिक आवश्यकताएं पूरी कर सके। स्पष्ट है कि व्यक्ति शिक्षा द्वारा समाज की आवश्यकताओं को समझता है और उसकी मांगों को पूरा करने का प्रयास करता है। अपनी मागों की पूर्ति के पश्चात समाज विकास पथ पर अग्रसर होता है। उसने अपने विकास के लिए विद्यालयों की स्थापना की है। विद्यालयों के द्वारा ही बालकों के मन में ऐसे संस्कार पड़ते हैं जो समाज में प्रगतिशील जीवन बिताने के लिए आवश्यक होते हैं और जिस समाज में जितने अधिक व्यक्ति प्रगतिशील होंगे, वह समाज उतना ही अधिक उन्नत होगा। इस प्रकार शिक्षा समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति में सहायक होती है।

शिक्षा समाज की सभ्यता तथा संस्कृति को अक्षुण बनाये रखने एवं विकसित करने की प्रक्रिया है। चिरकाल से ही समाज द्वारा स्वीकृत सभ्यता तथा संस्कृति की रक्षा करना तथा उसकी भावी संतति तक पहुंचाना विद्यालयों का मुख्य कर्तव्य माना जाता है। विद्यालयों की सहायता के बिना बालक अपने थोड़े से जीवन काल में न तो समाज की अब तक की सभ्यता एवं संस्कृति का ज्ञान प्राप्त कर सकता है और न ही उससे लाभ उठा सकता है। समाज एवं संस्कृति के रूप इतने जटिल एवं पेचीदा होते हैं कि बालक उन्हें सरलता से ग्रहण नहीं कर सकता। विद्यालय समाज की जटिलता एवं पेचीदापन को दूर करते हैं और बालकों के समक्ष केवल उन्हीं तथ्यों को सरल एवं शुद्ध रूप में प्रस्तुत करते हैं, जो उनके विकास में सहायक हों। जान डीवी का कथन है कि 'बालक को रस्म रिवाज, विचार, परम्परा आदि जो एक जाति

के आवश्यक गुण हैं, प्रदान करने के लिए शिक्षा की आवश्यकता होती है। विद्यालयों के अनेक सामाजिक कार्य इस उद्देश्य की पूर्ति करते हैं।

विद्यालय समाज के आदर्शों एवं क्रियाओं का विवेचन करती हैं आवश्यक तथा अनावश्यक आदर्शों का निर्णय करती हैं। अनुपयोगी, असामाजिक, रूढ़िगत विचारों, परम्पराओं तथा आदर्शों से समाज की रक्षा करती है। वह नयी परिस्थितियों के अनुकूल समाज के समक्ष नये विचार, भाव एवं आदर्श उपस्थित करती है जिससे समाज नई परिस्थितियों के अनुकूल अपने आप को बना सके। इस प्रकार विद्यालय समाज के नवनिर्माण में सहायक होती है। समाज के निर्माण का बहुत कुछ भार शिक्षकों के कन्धों पर ही होता है। क्योंकि वे ही बालकों के अन्दर नवीन विचार, भाव तथा आदर्श उत्पन्न करते हैं और उनकी समस्त शक्तियों का विकास इस प्रकार करते हैं कि वे नवीन समाज के निर्माण में अपना योग दे सकें। इसीलिए समाज शिक्षा में अत्यधिक रूचि लेता है। विद्यालयों की स्थापना एवं उनके संचालन में समाज का हाथ होना स्वाभाविक ही है। विद्यालय को कभी कभी समाज का अनुरूप कहा जाता है।

उपयुक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि विद्यालय एवं समाज का घनिष्ठ सम्बन्ध है। यदि हम शिक्षा के इतिहास पर दृष्टि डालें तो ज्ञात होता है कि प्रत्येक देश में शिक्षा के उद्देश्य एवं पाठ्यक्रम उस देश की सामाजिक व्यवस्था के अनुसार रहती है। प्राचीन यूनान में स्पार्टा एवं एथेन्स नगर राज्यों की सामाजिक व्यवस्था भिन्न होने के कारण दोनों राज्यों की शिक्षा व्यवस्था में भी भिन्नता थी। इसी प्रकार कई देशों में शिक्षा में पादरियों का आधिपत्य था क्योंकि उस समाज में पादरी लोगों की पूजा होती थी। स्पष्ट है कि समाज जैसा होता है, वैसी ही शिक्षा होती है। और जैसी शिक्षा होती है वैसा ही समाज होता है।

बोध प्रश्न –

टिप्पणी (क) – अपने उत्तरों के लिए नीचे दिये गये स्थान का प्रयोग कीजिए।

(ख) - अपने उत्तरों को इकाई के अन्त में दिये गये उत्तर से मिलान कीजिए।

(4) समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति में कौन सहायक होता है?

....

....

....

(5) समाज के आवश्यक एवं अनावश्यक आदर्शों का निर्णय कौन करता है?

....

....

....

13.7 समाज की प्रकृति

सामान्यतः लोग समाज को मानव समूह मानते हैं परन्तु सही अर्थों में समाज निराकार तथा अमूर्त है।समाज मानवों का समूह नहीं बल्कि व्यक्तियों के सामाजिक सम्बन्धों का समूह

होता है। प्रसिद्ध समाजशास्त्री मैकाइवर का विचार है कि 'सामाजिक सम्बन्धों का जाल ही समाज है' । सामाजिक सम्बन्ध विचारणीय प्रत्यय हैं क्योंकि कुछ सम्बन्ध भौतिक होते हैं, कुछ कार्यात्मक जैसे कुर्सी, मेज, पेड़, पौधा आदि का सम्बन्ध भौतिक तथा चन्द्रमा एवं समुद्र का सम्बन्ध कार्यात्मक होता है। परन्तु इन भौतिक एवं कार्यात्मक सम्बन्धों में पारस्परिक सम्बन्धों की चेतना का अभाव है। सामाजिक सम्बन्धों में एक दूसरे को आपस के सम्बन्धों की जानकारी होती है। इसी कारण विभिन्न प्रकार के सामाजिक सम्बन्धों के जाल को मैकाइवर ने समाज कहा है। समाज के सम्बन्ध में राइट ने कहा है कि 'समाज एक वास्तविक वस्तु है, किन्तु वास्तव में इसका आशय एक अवस्था, एक दशा और रूप से है। इसीलिए यह अमूर्त है। समाज को स्पर्श नहीं कर सकते और न ही देख सकते हैं, सिर्फ इसका अनुभव किया जा सकता है।

समाज व्यक्ति का रक्षक होता है। व्यक्ति जन्म से मृत्यु तक भोजन, आश्रय शारीरिक सुरक्षा एवं व्यक्तित्व के विकास के लिए समाज पर आश्रित रहता है। व्यक्ति की नैसर्गिक प्रवृत्तियाँ व्यक्ति को समाज में रहने के लिए बाध्य करती है, क्योंकि व्यक्ति की सभी आवश्यकताएं समाज में ही पूर्ण होती हैं। उसके व्यक्तित्व का विकास समाज मे ही होता है। आदिम एवं वर्तमान मनुष्यों की तुलना में जो अन्तर दिखाई देता है उसका कारण समाज की गतिशीलता ही है। समाज गत्यात्मक होता है, क्योंकि समाज में स्थिरता आना उसकी अवनति मानी जाती है।

समाज का अस्तित्व समान शरीरों एवं समान विचारों में ही सम्भव है। इसीलिए व्यक्ति अपने उद्देश्यों को सरलता से पूरा करता है। यदि व्यक्ति समान विचार वाले नहीं होंगे, तो एक दूसरे को समझे बिना, मित्रता, घनिष्ठता और सम्पर्क नहीं होगा । ये बातें समान जीवन, समान शरीर और समान विचारों में ही सम्भव होता है।

समाज को एक प्रकार का समुदाय माना गया है। समुदाय शब्द का प्रयोग समाजशास्त्री विशिष्ट अर्थ में करते हैं। समाजशास्त्री कुक ने समुदाय के विषय में कहा है कि 'एक भौगोलिक क्षेत्र के अन्तर्गत मानवीय सम्बन्धों का एक निश्चित रूप अर्थात व्यक्ति, संस्कृति एवं भूमि का समन्वित रूप समुदाय है। जिस समुदाय के लोग अपनी जीवन पद्धति के लिए जागरूक रहते हैं और सामान्य उद्देश्यों एवं आदर्शों से प्रेरित होकर एकता की ओर बढ़ते हैं, वह समुदाय, समाज बन जाता है। प्रत्येक समाज को राजनैतिक एवं आर्थिक तत्व प्रभावित करते हैं, जिससे समाज का रहन सहन प्रभावित होता है और समाज की संस्कृति का निर्माण होता है।

13.8 समाज हेतु शिक्षा के कार्य

प्रत्येक समाज की अपनी भाषा, रहन सहन, खाने पीने का ढंग, मान्यताएं एवं विश्वास होता है, जिसके आधार पर उस समाज में शिक्षा की नींव रखी जाती है। यदि शिक्षा उस आधार पर समाज के प्रति अपने कर्तव्यों को नहीं करती है तो वह कभी अपने उद्देश्यों की पूर्ति नहीं कर पाती है। स्पष्ट है कि समाज के प्रति शिक्षा के कुछ कार्य होते हैं, जो निम्नलिखित हैं -

1. शिक्षा का सर्वप्रमुख कार्य यह है कि समाज की संस्कृति तथा सभ्यता का संरक्षण करे क्योंकि समाज के रीति रिवाज परम्परायें, नैतिकता, आदर्श एवं भाषा आदि शिक्षा एवं संस्कृति के आधार होते हैं। इसलिए शिक्षा को इनका संरक्षण करना चाहिए।

2. शिक्षा का अन्य कार्य यह है कि वह समाज की संस्कृति तथा सभ्यता का पोषण करे। इसके लिए शिक्षा व्यक्तियों को इस प्रकार तैयार करे कि वे समाज की सभ्यता एवं संस्कृति के अनुसार आचरण करें।

3. शिक्षा का अन्य कार्य यह है कि वह समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति करें। प्रत्येक समाज की अपनी आवश्यकताएं होती हैं जो देश काल एवं परिस्थिति के अनुसार बदलती रहती हैं। इसलिए शिक्षा का कर्तव्य है कि वह समाज की बदलती हुई आवश्यकताओं को पहचाने तथा व्यक्तियों को इस प्रकार शिक्षा प्रदान करे कि वे समाज की बदलती हुई आवश्यकताओं को पूरा करें।

4. शिक्षा का अन्य प्रमुख कार्य यह है कि वह समाज की बदलती हुई आवश्यकताओं के अनुसार अपने पाठ्यक्रम में परिवर्तन करे।

5. शिक्षा का अगला कार्य यह है कि बालकों की रचनात्मक शक्तियों का विकास करें, तभी वे समाज के विकास में महत्वपूर्ण योगदान कर सकेंगे।

6. शिक्षा का अन्य प्रमुख कार्य यह है कि वह समाज की बुराइयों को दूर करे और ऐसे वातावरण का निर्माण करे जिससे समाज के प्रत्येक सदस्य की शारीरिक, मानसिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक विकास हो सके।

13.9 शिक्षा तथा समाज की पारस्परिक निर्भरता

शिक्षा एवं समाज एक दूसरे पर निर्भर तथा एक दूसरे के पूरक होते हैं, क्योंकि इनका सम्बन्ध पारस्परिक कारण और परिणाम का है। इसी कारण जैसा समाज होता है वैसी ही शिक्षा होती है, और जैसी शिक्षा होती है,वैसा ही समाज होता है। शिक्षा एवं समाज की अन्योन्याश्रितता के सम्बन्ध में बायड एच. बोड ने कहा है कि शिक्षा एवं समाज का सम्बन्ध पारस्परिक कारण एवं परिणाम का है। किसी भी समाज का स्वरूप उसकी शिक्षा व्यवस्था के स्वरूप को निर्धारित करता है, और शिक्षा व्यवस्था का स्वरूप समाज के स्वरूप को निर्धारित करता है।

शिक्षा और समाज की परस्पर निर्भरता निम्नलिखित पंक्तियों में कुछ उदाहरणों द्वारा स्पष्ट की जा रही है । प्राचीन एवं मध्यकालीन शिक्षा में आदर्श, मूल्य एवं धर्म की शिक्षा पर बल दिया जाता था, इस कारण समाज का प्रत्येक व्यक्ति आदर्श एवं धर्म से युक्त होता था, परन्तु वर्तमान समय की शिक्षा में विज्ञान एवं तकनीकी को अधिक महत्व दिया जा रहा है, इस कारण समाज के व्यक्तियों में धर्म एवं मूल्य का स्थान गौण हो गया है, आज समाज के व्यक्तियों में मूल्यों का विकास होने के बजाय प्रतिस्पर्धा, धन लोलुपता आदि की भावना विकसित हो गयी है। जिस प्रकार शिक्षा पर समाज निर्भर होता है उसी प्रकार समाज पर शिक्षा भी निर्भर होती है। उदाहरणार्थ - भारतीय समाज की प्रकृति जनतांत्रिक है। इस लिए यहाँ की

शिक्षा में स्वतंत्रता, समानता, सहकारिता तथा सहयोग आदि पर बल देते हुए व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवन के आदर्शों को प्राप्त करने का प्रयास किया जाता है। और सभी व्यक्तियों को बिना किसी भेदभाव के जनतान्त्रिक आदर्शों एवं मूल्यों के अनुसार शिक्षा प्रदान की जाती है। इसी प्रकार यदि शिक्षा समाज के व्यक्तियों को व्यवसाय चयन हेतु तैयार करती है तो व्यवसाय प्राप्ति हेतु विभिन्न प्रकार की व्यावसायिक संस्थाओं की स्थापना समाज करता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि शिक्षा एवं समाज एक दूसरे के पूरक हैं। अपने हितों एवं आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए समाज, शिक्षा के स्वरूप को निश्चित करता है और शिक्षा समाज के पुराने विचारों को स्वीकार करते हुए उसके परिवर्द्धित स्वरूप को प्रस्तुत करने में तथा नवनिर्माण में योग देती है।

बोध प्रश्न –

टिप्पणी (क) – अपने उत्तरों के लिए नीचे दिये गये स्थान का प्रयोग कीजिए।

(ख) - अपने उत्तरों को इकाई के अन्त में दिये गये उत्तर से मिलान कीजिए।

(6) व्यक्ति समाज में रहने के लिए बाध्य क्यों होता है?

....

....

....

(7) समाज के प्रति शिक्षा के तीन कर्तव्य बताइये।

(क) ....

(ख) ....

(ग) ....

(8) शिक्षा और समाज का सम्बन्ध किस प्रकार का है?

....

....

....

13.10 शिक्षा के कार्य

समाज के आदर्शों एवं मूल्यों के आधार पर ही शिक्षा की आधारशिला होती है, इसी आधार पर चल कर ही शिक्षा अपने उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु विभिन्न प्रकार के कार्य करती है। संक्षेप में शिक्षा निम्नलिखित कार्य करती है - (1) संस्कृति का संरक्षण, (2) सामाजिक पुनर्रचना (3) समालोचनात्मक चिन्तन का विकास। शिक्षा का महत्वपूर्ण कार्य समाज की संस्कृति का संरक्षण करना है। शिक्षा समाज की परम्पराओं, आदर्शों, मान्यताओं एवं मूल्यों को भावी पीढ़ी तक पहुँचाती हैं इससे बालक इन सांस्कृतिक आदर्शों से प्रेरित होकर उन्हें अपनाता है और समाज में विशिष्ट पहचान प्राप्त करता है। संस्कृति के द्वारा ही व्यक्ति अपनी परम्पराओं से अवगत होता है। इस प्रकार शिक्षा संस्कृति का संरक्षण करती है। शिक्षा केवल समाज की संस्कृति को संरक्षित ही नहीं करती, बल्कि उसका विकास भी करती है, शिक्षा छात्रों

को समाज के पुराने आदर्शों, मान्यताओं एवं मूल्यों का ज्ञान भी प्रदान करती है। इन नये आदर्शों एवं मूल्यों से प्रेरित होकर बालक नये समाज का निर्माण करता है और इस प्रकार के समाज की रचना होती रहती है। शिक्षा का एक और महत्वपूर्ण कार्य बालाकों में सृजनात्मक एवं आलोचनात्मक चिन्तन का विकास करना है। चूंकि प्रजातंत्र की सफलता योग्य नागरिकों पर निर्भर करती है, इसलिए शिक्षा बालकों में सृजनात्मक चिन्तन का विकास करके योग्य नागरिकों का निर्माण करती है।

13.11 समाजीकरण का अर्थ

समाजीकरण वह प्रक्रिया है, जिसके द्वारा व्यक्ति अपने समाज की जीवनशैली सीखता है और समाज में समायोजन करता है। व्यक्ति जिस समाज में जन्म लेता है और रहता है, उसे उस समाज की भाषा रहन-सहन, खान-पान एवं आचरण की विधियाँ और रीति रिवाज सीखने होते हैं। बिना सीखे वह उस समाज में समायोजन नहीं कर सकता। और उसका सदस्य नहीं बन सकता। व्यक्ति को यह सब कार्य सीखने में काफी समय लगता है । जन्म के कुछ दिन बाद व्यक्ति अपने समाज की भाषा सीखने लगता है, रहन सहन, खान-पान और आचरण की विधियाँ सीखने लगता है, और जैसे जैसे बड़ा होता है वैसे - वैसे समाज के रीति रिवाज सीखकर उस अनुसार आचरण करके अपने समाज में समायोजन करता है। इस प्रक्रिया के द्वारा व्यक्ति जनकल्याण की भावना से प्रेरित होकर अपने आपको अपने परिवार, पड़ोस तथा अन्य सामाजिक वर्गों के अनुकूल बनाने का प्रयास करता है, जिससे वह समाज का एक श्रेष्ठ, उपयोगी तथा उत्तरदायी सदस्य बन जाये तथा उक्त सभी सामाजिक संस्थाएं एवं बर्ग उनकी प्रशंसा करते रहें। इस प्रकार समाजीकरण की सम्पूर्ण प्रक्रिया अन्तर्प्रक्रिया अथवा सामाजिक् कार्य के अन्तर्गत आती है। ड्रेवर के अनुसार - 'समाजीकरण वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा व्यक्ति अपने सामाजिक वातावरण के साथ अनुकूलन करता है, और इस प्रकार वह उस समाज का मान्य, सहयोगी एवं कुशल सदस्य बन जाता है।'

मानव विज्ञानी मारगरेट मीड और लिण्टन ने किसी समूह की संस्कृति को ग्रहण करने की प्रक्रिया को समाजीकरण माना है।

हैविघर्स्ट एवं न्यूगार्टन के अनुसार 'समाजीकरण वह प्रक्रिया है, जिसके द्वारा बालक अपने समाज के स्वीकृत ढंगों को सीखते हैं तथा इन ढंगों को अपने व्यक्तित्व का एक अंग बना लेते हैं।

13.12 समाजीकरण की विशेषताएँ

समाजीकरण की निम्नलिखित विशेषताएँ बताई जा सकती हैं -

1. समाजीकरण सीखने की प्रक्रिया है। इसमें उन्हीं व्यवहारों को सीखा जाता है जो आदर्श प्रतिमान एवं मूल्य समाज द्वारा स्वीकार किये गये हैं।
2. समाजीकरण द्वारा बालक समाज का सदस्य बनता है और उसे यह ज्ञात हो जाता है कि किस परिस्थिति में किस प्रकार कार्य करना है।

3. समाजीकरण द्वारा बालक अपने समाज की संस्कृति को ग्रहण करता है और वह संस्कृति उसके व्यक्तित्व में सम्मिलित हो जाती है।

4. समाजीकरण जीवन पर्यन्त चलती रहती है। इससे बालक समाज द्वारा स्वीकृत व्यवहारों को सीख जाता है।

5. समाजीकरण से समाज की संस्कृति संरक्षित रहती है। इसमें पुरानी पीढ़ी नई पीढ़ी को संस्कृति का हस्तान्तरण करती रहती है।

6. समाजीकरण से समाज में निरन्तरता बनी रहती है।

13.13 समाजीकरण की प्रक्रिया

समाजीकरण की प्रक्रिया का आधार अन्तःक्रिया है।अर्थात समाजीकरण में व्यक्ति अन्य व्यक्तियों से अन्तःक्रिया करता हुआ सामाजिक आदतों, विश्वासों, रीति रिवाजों, तथा परम्पराओ एवं अभिवृत्तियों को सीखता है।

सामाजिक अन्तःक्रिया के कई प्रकार दिखाई देते हैं। सामाजिक अन्तःक्रिया का प्रथम प्रकार प्रतिद्वन्द्विता का है, जिसमें अविभाज्य लक्ष्य को दो या दो से अधिक व्यक्ति प्राप्त करने के लिए संघर्ष करते हैं। सामाजिक अन्तःक्रिया का दूसरा प्रकार सहयोग का है, जिसमें सामान्य उद्देश्य की प्राप्ति हेतु सामूहिक रूप से प्रयास किया जाता है। अन्तः क्रिया का तीसरा प्रकार द्वन्द का है, जिसमें पारस्परिक विरोध होता है। सामाजिक अन्तःक्रिया का चौथा प्रकार समंजन का है, इसमें परस्पर अनुकूलन होता है।

सामाजिक अन्तःक्रिया का परिणाम हमें दूसरों के रूचि के साथ तादात्मीकरण के रूप में भी दिखायी देता है। सामाजिक अन्तःक्रिया के प्रकार में संकेत एवं अनुकरण भी प्रभावशाली होती है। अपनी प्रगति के लिए प्रतिद्वन्द्विता तथा सामूहिक प्रगति के लिए सहयोग, अतिआवश्यक सामाजिक अन्तःक्रिया मानी जाती है। उपर्युक्त सामाजिक अन्तःक्रियाओं पर ही किसी बालक का समाजीकरण निर्भर होता है।

बोध प्रश्न –

टिप्पणी (क) – अपने उत्तरों के लिए नीचे दिये गये स्थान का प्रयोग कीजिए।

(ख) - अपने उत्तरों को इकाई के अन्त में दिये गये उत्तर से मिलान कीजिए।

(9) सामाजिक दृष्टि से शिक्षा के कार्य बताइये ?

....

....

....

(10) समाजीकरण का क्या अर्थ है?

....

....

....

(11) समाजीकरण किस प्रकार होता है?

....

....

13.14 समाजीकरण करने वाले साधन

बालक जन्म के समय पशु के समान होता है। वह जैसे जैसे अन्य व्यक्तियों तथा सामाजिक संस्थाओं के सम्पर्क में आकर विभिन्न प्रकार की सामाजिक क्रियायें करने लगता है, वैसे-वैसे वह अपनी पाशविक प्रवृत्तियों पर नियन्त्रण करते हुए सामाजिक आदर्शों तथा मूल्यों को सीखता रहता है। इस प्रकार बालक के समाजीकरण की प्रक्रिया निरन्तर चलती रहती है। बालक के समाजीकरण में निम्न तत्व सहायक होते हैं-

13.14.1 परिवार

समाजीकरण करने वाले तत्वों में परिवार सर्वाधिक महत्वपूर्ण तत्व है, क्योंकि बालक परिवार में ही जन्म लेता है और सर्वप्रथम अपने माता पिता, भाई-बहनों तथा परिवार के अन्य सदस्यों के सम्पर्क में आते हुए प्रेम,सहानुभूति सहनशीलता तथा सहयोग आदि अनेक सामाजिक गुणों को सीखता है। इसके अतिरिक्त वह परिवार के आदर्शों, मूल्यों, रीति रिवाजों, परम्पराओं, मान्यताओं तथा विश्वासों को भी सीख जाता है। संक्षेप में परिवार के सभी सदस्यों के साथ अन्तःक्रिया द्वारा बालक का समाजीकरण होता रहता है।

13.14.2 पड़ोस

पड़ोस का महत्व बालकों के ही नहीं, युवकों के समाजीकरण में भी होता है। जिस प्रकार बालक परिवार के विभिन्न सदस्यों के साथ अन्तःक्रिया द्वारा अपनी संस्कृति एवं सामाजिक गुण सीखता है, ठीक उसी प्रकार वह पड़ोस में रहने वाले विभिन्न लोगों से विभिन्न सामाजिक बातें सीखता है। इस दृष्टि से यदि पड़ोस अच्छा है तो उसका बालक के व्यक्तित्व के विकास पर अच्छा प्रभाव पड़ेगा,और यदि पड़ोस खराब है तो बालक के बिगड़ने की सम्भावना होती है इसी कारण अच्छे परिवार के लोग अच्छे पड़ोस में रहना चाहते हैं ।

13.14.3 स्कूल

बालक के समाजीकरण करने में परिवार एवं पड़ोस के पश्चात स्कूल बहुत महत्वपूर्ण तत्व है। स्कूल में विभिन्न परिवारों के बालक शिक्षा प्राप्त करने आते हैं। बालक इन विभिन्न परिवारों के बालकों के बीच तथा शिक्षकों के बीच रहते हुए सामाजिक अन्तःक्रिया करता है, जिससे बालक का समाजीकरण होने लगता है।। स्कूल में रहते हुए बालक को जहाँ एक ओर विभिन्न विषयों के प्रत्यक्ष शिक्षा द्वारा सामाजिक नियमों रीति रिवाजों परम्पराओं, मान्यताओं, विश्वासों, आदर्शों तथा मूल्यों का ज्ञान होता है वहीं स्कूल की विभिन्न सामाजिक योजनाओं में सक्रिय रूप से भाग लेते हुए अप्रत्यक्ष रूप से विभिन्न सामाजिक गुणों का विकास होता है।

13.14.4 खेल-कूद

खेल- कूद से भी बालक का समाजीकरण होता है। प्रत्येक बालक खेलते समय जाति पाति,ऊँच नीच,तथा अन्य प्रकार के भेदभावों से ऊपर उठकर दूसरे बालकों के साथ अन्तःक्रिया करता है। खेलकूद द्वारा बालक में प्रेम, सहानुभूति सहनशीलता तथा सहयोग आदि अनेक गुण विकसित होते हैं।

13.14.5 स्काउटिंग तथा गाइडिंग

स्काउटिंग तथा गर्ल गाइडिंग भी बालक एवं बालिकाओं के समाजीकरण में सहायक होते हैं। ये संगठन बालक तथा बालिकाओं को जन कल्याण के लिए सामूहिक कार्यों को करने के अवसर प्रदान करते हैं। इन कार्यों को करने से बालक एवं बालिकाओं में परस्पर सहयोग, त्याग एवं निःस्वार्थ भाव से सेवा करने की भावनाएं विकसित होती हैं।

13.14.6 समुदाय या समाज

प्रत्येक समुदाय अथवा समाज अपने विभिन्न साधनों तथा विधियों द्वारा बालक का समाजीकरण करना अपना उत्तरदायित्व समझते हैं। समाज के समाजीकरण के साधन अग्रलिखित हैं - संस्कृति, कला, साहित्य, सामाजिक परम्पराएं,प्रथायें,जातीय तथा राष्ट्रीय प्रथाएं एवं परम्परायें, धार्मिक कट्टरता, मनोरंजन एवं राजनीतिक विचारधारायें, वर्ण एवं वर्ग, शिक्षा के साधन तथा अन्य सुविधाएं।

13.15 समाजीकरण में बाधक तत्व

यद्यपि बालक का समाजीकरण आजीवन होता रहता है, परन्तु उसके जीवन में कुछ ऐसी परिस्थितियाँ आती हैं जिसके कारण बालक के समाजीकरण में बाधा उत्पन्न होती। मैसलो ने कुछ परिस्थितियों का उल्लेख किया है जो बालक को समाजीकरण में बाधक होते हैं -

1. **बाल्यावस्था की परिस्थितियाँ** - बाल्यावस्था की कुछ परिस्थितियाँ जैसे - माता-पिता का प्यार न पाना, अनुचित दण्ड, असुरक्षा, माता पिता से झगड़ा होना, आदि के कारण बालक के समाजीकरण में बाधा उत्पन्न होती है।

2. **सांस्कृतिक परिस्थितियाँ** - कुछ सांस्कृतिक परिस्थितियाँ जैसे - धर्म, जाति वर्ण, आदि से सम्बन्धित पूर्ण धारणाएं समाजीकरण में बाधा उत्पन्न करती हैं।

3. **तत्कालीन परिस्थितियाँ** - बालक के समाजीकरण में तत्कालीन परिस्थितियाँ जैसे - कठोरता,ईर्ष्या अन्याय,अपमान,निराशा आदि भी बाधक होती हैं।

4. **अन्य परिस्थितियाँ** - उपर्युक्त के अतिरिक्त कुछ अन्य परिस्थितियों के कारण भी बालक के समाजीकरण में कठिनाई होती है जैसे - कार्य में असफलता, शिक्षा की कमी, निर्धनता, शारीरिक हीनता,आत्मविश्वास एवं आत्मर्भिरता की कमी आदि।

13.16 समाजीकरण में शिक्षक का स्थान

बालक के समाजीकरण की प्रक्रिया में माता-पिता के पश्चात शिक्षक का महत्वपूर्ण स्थान होता है। इसलिए बालक के समाजीकरण की प्रक्रिया को तीव्र गति प्रदान करने हेतु शिक्षक को निम्नलिखित बातों की ओर ध्यान देना चाहिए-

1. बालक के समाजीकरण को तीव्र गति प्रदान करने के लिए शिक्षक को चाहिए कि वह बालक के माता पिता से सम्पर्क स्थापित करके बालक की मनोवृत्तियों तथा रूचियों के विषयों में जानकारी प्राप्त करें एवं उन्हें विकसित होने के अवसर प्रदान करें।

2. शिक्षक का कर्तव्य है कि वह बालक का स्कूल की परम्पराओं में विश्वास उत्पन्न करे तथा उसे उन्हीं के अनुसार कार्य करने के लिए प्रोत्साहित करे।

3. शिक्षक को चाहिए कि वह बालक को स्कूल में होने वाले विभिन्न सामूहिक क्रियाओं में सक्रिय रूप से भाग लेने के लिए प्रोत्साहित करे।

4. बालकों को समाज की संस्कृति का ज्ञान प्रदान करना चाहिए।

5. बालकों में अन्तर सांस्कृतिक भावना का विकास करे, जिससे बालक केवल अपनी संस्कृति को ही अच्छा न समझे वरन, विभिन्न संस्कृतियों का आदर करना सीख जाये।

6. कक्षा में खेल के मैदान में तथा सांस्कृतिक और साहित्यिक क्रियाओं द्वारा बालकों के समक्ष सामाजिक आदर्श प्रस्तुत करना चाहिए। इन आदर्शों का अनुकरण करने से बालक का समाजीकरण धीरे-धीरे हो जायेगा।

7. शिक्षक को चाहिए कि वह दूसरे बालकों, शिक्षकों, तथा विद्यालय के प्रधानाचार्य के साथ स्वस्थ मानवीय सम्बन्ध स्थापित करे। इससे विद्यालय का सामाजिक वातावरण स्वस्थ होगा, फलस्वरूप बालक का समाजीकरण सही दिशा में होगा ।

8. बालकों में सामाजिक मूल्यों के प्रति सृजनात्मक दृष्टिकोण उत्पन्न करना चाहिए ताकि बालकों में संस्कृति का विकास हो सके।

9. विद्यालय को सामुदायिक केन्द्र के रूप में परिवर्तित करना चाहिए ताकि बालकों को स्थानीय समुदाय की मान्यताओं का ज्ञान हो सके।

10. बालकों में स्वस्थ प्रतियोगिता की भावना का विकास करना चाहिये।

बोध प्रश्न –

टिप्पणी (क) – अपने उत्तरों के लिए नीचे दिये गये स्थान का प्रयोग कीजिए।

(ख) - अपने उत्तरों को इकाई के अन्त में दिये गये उत्तर से मिलान कीजिए।

(12) समाजीकरण करने वाले तीन तत्वों का नाम बताइये ।

(क)...

(ख)...

(ग)...

(13) बालक के समाजीकरण में सबसे महत्वपूर्ण तत्व कौन सा है?

....

....

....

(14) बालक के समाजीकरण में शिक्षक को किन तीन बातों को ध्यान में रखना चाहिए?

(क)...

(ख)...

(ग)...

13.17 सारांश

इस इकाई में समाजशास्त्र के स्वरूप एवं शैक्षिक समाजशास्त्र की व्याख्या की गयी है। और बताया गया कि समाजशास्त्र में समाज एवं व्यक्ति के प्रकृति का अध्ययन किया जाता है तथा शैक्षिक समाजशास्त्र शिक्षा एवं समाज शास्त्र का समन्वित रूप है यह इस बात पर बल देता है कि समाजशास्त्र के उद्देश्यों को शैक्षिक प्रक्रिया के द्वारा प्राप्त किया जाय। इसके बाद विद्यालय एवं समाज के सम्बन्ध का वर्णन किया गया है और बताया गया है कि विद्यालय एवं समाज का घनिष्ठ सम्बन्ध है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि प्रत्येक देश में शिक्षा के उद्देश्य एवं पाठ्यक्रम उस देश की सामाजिक व्यवस्था के अनुसार होती है। इसके बाद इस इकाई में समाज के प्रति शिक्षा के कर्तव्य एवं शिक्षा तथा समाज की परस्पर निर्भरता का वर्णन किया गया है और बताया गया है कि समाज की संस्कृति एवं सभ्यता का संरक्षण एवं पोषण करना शिक्षा का कर्तव्य होता है। शिक्षा एवं समाज एक दूसरे के पूरक एवं परस्पर सम्बन्धित होते हैं और इनका सम्बन्ध पारस्परिक कारण एवं परिणाम का होता है। इसी इकाई में समाजीकरण का अर्थ एवं समाजीकरण किस प्रकार होता है का वर्णन किया गया है। इसमें व्यक्ति अपने समाज की जीवनशैली सीखता है और समाज में समायोजन करता है तथा सामाजिक अन्तःक्रिया द्वारा अपना समाजीकरण करता है। अन्त में इस इकाई में समाजीकरण करने वाले विभिन्न तत्वों (परिवार, पड़ोस, स्कूल, खेलकूद, स्काउटिंग तथा गर्ल गाइडिंग एवं समुदाय) एवं समाजीकरण में शिक्षक की भूमिका का वर्णन एवं विश्लेषण किया गया है। जैसे बालकों को स्कूल की परम्पराओं में विशवास उत्पन्न कराना, समाज की संस्कृति का ज्ञान प्रदान करना अन्तर सांस्कृतिक भावना का विकास करना, सामाजिक मूल्यों के प्रति सृजनात्मक दृष्टिकोण उत्पन्न करना तथा स्वस्थ प्रतियोगिता की भावना उत्पन्न करना आदि ।

13.18 अभ्यास कार्य

1. शैक्षिक समाज की अवधारणा की विवेचना कीजिए।
2. विद्यालय एवं समाज के सम्बन्धों को विश्लेषित कीजिए।
3. समाज के स्वरूपों को स्पष्ट कीजिए।
4. समाज के प्रति अपने कर्तव्यों को शिक्षा किस प्रकार पूरा करती है? स्पष्ट कीजिए।
5. शिक्षा एवं समाज के अन्योन्याश्रितता को उदाहरण देकर स्पष्ट कीजिए।
6. समाजीकरण क्या है? और किस प्रकार होता है? स्पष्ट कीजिए।
7. समाजीकरण में कई तत्व सहायक होते हैं। उदाहरण सहित चर्चा कीजिए।
8. समाजीकरण की प्रक्रिया में शिक्षक सक्रिय भूमिका कैसे निभा सकता है। उदाहरण देकर स्पष्ट कीजिए।

13.19 बोध प्रश्नों के उत्तर

1. अगस्त काम्टे ने सन 1837 में

2. शैक्षिक समाजशास्त्र शिक्षा सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाली प्रक्रियाओं, जन समूहों, संस्थाओं तथा समितियों का अध्ययन करती है।

3. जार्ज पेनी को

4. शिक्षा

5. विद्यालय

6. अपनी नैसर्गिक प्रवृत्तियों के कारण

7. क) समाज की सभ्यता एवं संस्कृति का संरक्षण करना।
   ख) समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति करना।
   ग) समाज की बुराइयों को दूर करना ।

8. पारस्परिक कारण एवं परिणाम का ।

9. संस्कृति का संरक्षण करना, सामाजिक पुनर्रचना करना तथा समालोचनात्मक चिन्तन का विकास करना।

10. समाजीकरण एक प्रक्रिया है, जिसके द्वारा व्यक्ति अपने समाज की जीवन शैली सीखता है और समाज में समायोजन करता है।

11. सामाजिक अन्तःक्रिया द्वारा

12. क) परिवार
    ख) पड़ोस
    ग) स्कूल

13. परिवार

14. क) समाज की संस्कृति का ज्ञान एवं अन्तर सांस्कृतिक भावना का विकास करना चाहिए।
    ख) सामाजिक मूल्यो के प्रति सृजनात्मक दृष्टिकोण उत्पन्न करना चाहिए।
    ग) स्वस्थ प्रतियोगिता की भावना का विकास करना चाहिए।

इकाई -14 संस्कृति और शिक्षा

संरचना

14.1 प्रस्तावना

14.2 उद्देश्य

14.3 संस्कृति की प्रकृति

14.4 संस्कृति की विशेषताएं

14.5 संस्कृति के प्रकार

14.6 संस्कृति की इकाइयां

14.7 सभ्यता और संस्कृति

14.8 उपसंस्कृति

14.9 संस्कृति के कार्य

14.10 संस्कृति तथा शिक्षा

14.11 परिवार में बालक की सांस्कृतिक शिक्षा

14.12 विद्यालय में बालक की सांस्कृतिक शिक्षा

14.13 सारांश

14.14 अभ्यास कार्य

14.15 बोध प्रश्नों के उत्तर

14.1 प्रस्तावना

इस इकाई में आप संस्कृति एवं शिक्षा के विषय में अध्ययन करेंगे, जिसमें संस्कृति के अर्थ, स्वरूप तथा सभ्यता एवं संस्कृति का विस्तृत वर्णन किया गया है। सभ्यता एवं संस्कृति के अन्तर को भी स्पष्ट किया गया है। इस इकाई का उद्देश्य संस्कृति पर ध्यान केन्द्रित कर उपसंस्कृति पर प्रकाश डालना है। इसी इकाई में संस्कृति के कार्यों का वर्णन किया गया है। संस्कृति द्वारा ही व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का विकास करता है। इकाई में मानवीय सम्बन्धों को बेहतर बनाने के उद्देश्य से संस्कृति एवं शिक्षा की व्याख्या की गई है। इस इकाई के अन्त में बालक के सांस्कृतिक विकास हेतु परिवार में बालक की शिक्षा तथा विद्यालय में बालक की सांस्कृतिक शिक्षा के बारे में विस्तृत वर्णन किया गया है।

14.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप इस योग्य हो जायेंगे कि-

- संस्कृति का अर्थ एवं स्वरूप जान सकेंगे।
- सभ्यता एवं संस्कृति में अन्तर कर सकेंगे।
- संस्कृति का निर्माण कैसे होता है यह बता सकेंगे।
- उपसंस्कृति के विषय में जान सकेंगे।
- संस्कृति के कार्य बता सकेंगे।
- संस्कृति और शिक्षा के सम्बन्धों की विवेचना कर सकेंगे।
- परिवार तथा विद्यालय में बालक की सांस्कृतिक शिक्षा के बारे में जानकारी कर सकेंगे।

14.3 संस्कृति की प्रकृति

मानव एक सामाजिक प्राणी है । समाज से पृथक उसका कोई अस्तित्व नहीं है। अतः वह समाज के अस्तित्व को बनाये रखने के लिए अपने प्रयत्न से उसे एक संगठन का रूप देता है तत्पश्चात वह समाज में एक निर्धारित व्यवस्था विकसित कर स्थापित करता है। इसी सम्पूर्ण व्यवस्था को हम संस्कृति कहते हैं। संस्कृति का अर्थ भिन्न-भिन्न अनुशासनों में भिन्न भिन्न लिया गया है। इतना ही नहीं किसी एक अनुशासन में भी इसके मूल तत्वों के विषय में विद्वान एक मत नहीं हैं। संसार की समस्त वस्तुओं एवं क्रियाओं को मोटे तौर पर दो वर्गों में बांटा जा सकता है - (1) प्राकृतिक और (2) मानव द्वारा निर्मित एवं विकसित। व्यापक अर्थ में संस्कृति में वह सब आता है जो मानव द्वारा निर्मित एवं विकसित हैं जैसे - बर्तन, वस्त्र, आभूषण, मकान, मशीन, हथियार, आवागमन के साधन, रहन-सहन एवं खान-पान की विधियाँ, व्यवहार मानदण्ड, भाषा साहित्य, कला कौशल, संगीत, नृत्य, धर्म-दर्शन, आदर्श, विश्वास एवं मूल्य आदि। परन्तु कुछ विद्वान मनुष्य की समस्त उपलब्धियों को संस्कृति नहीं मानते। उनके अनुसार लोकहितकारी उपलब्धियां ही संस्कृति का अंग होती हैं । संस्कृति शब्द का अर्थ भी यही निकलता है जैसे संस्कृति = सम + कृति अर्थात ठीक प्रकार से सोच समझ कर किया गया कार्य ।

वर्तमान युग में संस्कृति पर सबसे अधिक चिन्तन मानव विज्ञानियों एवं समाजशास्त्रियों ने किया। मानव विज्ञानी न तो मनुष्य की समस्त उपलब्धियों को संस्कृत मानते हैं, और न उसे केवल धर्म, दर्शन, आदर्श, विश्वास और मूल्यों तक सीमित रखते हैं।उनके अनुसार किसी संस्कृति में वह सब आता है; जिसे मनुष्य, समाज के सदस्य के रूप में सीखता है जैसे - ज्ञान विज्ञान, कला कौशल, रीति रिवाज, आदि। प्रसिद्ध मानवशास्त्री टायलर ने संस्कृति को

इसी रूप में परिभाषित करते हुए कहा है कि - 'संस्कृति वह जटिल पूर्णता है, जिसमें उन सब ज्ञान, विश्वास, कला, नैतिकता, विधि, रीति- रिवाज तथा इसी प्रकार की अन्य क्षमताओं तथा आदतों का समावेश होता है, जिन्हें मनुष्य समाज के एक सदस्य के रूप में सीखता है।

समाजशास्त्र संस्कृति को सीखे हुए व्यवहार के रूप में स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार संस्कृति में वह सब आता है, जो हम समाज के सदस्य के रूप में सीखते हैं। इस प्रकार समाजशास्त्री संस्कृति को सामाजिक उपलब्धि एवं विरासत के रूप में स्वीकार करते हैं। ओटावे ने संस्कृति के विषय में कहा है कि -'किसी समाज की संस्कृति से अर्थ उस समाज की सम्पूर्ण जीवन पद्धति से होता है।

बोध प्रश्न

टिप्पणी : क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिये गये स्थान का प्रयोग कीजिए।

ख) अपने उत्तर को इकाई के अन्त में दिये गये उत्तरों से मिलान कीजिए।

(1) संस्कृति का क्या अर्थ है?

....

....

(2) समाजशास्त्री संस्कृति को किस रूप में स्वीकार करते हैं?

....

....

....

14.4 संस्कृति की विशेषताएँ

संस्कृति की निम्नलिखित विशेषताएँ बताई जा सकती हैं -

1- संस्कृति सीखे हुए व्यवहार प्रतिमानों का योग होता है।

2- संस्कृति में सीखने का ही नहीं, बल्कि हस्तान्तरित होने का गुण भी होता है। अर्थात पीढ़ी दर पीढ़ी संचारित होती रहती है।

3- संस्कृति परिवर्तनशील होती है।

4- संस्कृति सिर्फ मानव समाज में पायी जाती है।

5- संस्कृति में संतुलन तथा संगठन का गुण होता है।

6- संस्कृति व्यक्ति की उन आवश्यकताओं को पूरा करती है जो स्वयं साध्य हैं।

7- संस्कृति में समायोजन करने की क्षमता होती है।

8- संस्कृति किसी समाज या समूह के लिए आदर्श होती है, जिसके अनुसार समाज के

लोग आचरण करने का प्रयास करते हैं।

9- संस्कृति सार्वभौमिक, सामाजिक और विशिष्ट होती है।

10- संस्कृति वैयक्तिक न होकर सामाजिक होती है।

संस्कृति की उपर्युक्त विशेषताओं से स्पष्ट होता है कि संस्कृति सामाजिक, आदर्शात्मक एवं सीखी हुई होती है। और व्यक्ति की नैतिक एवं सामाजिक आवश्यकताओं को पूरा करती है।

14.5 संस्कृति के प्रकार

विभिन्न सिद्धान्तों ने संस्कृति के विभिन्न प्रकार बताये हैं, उनमें प्रमुख निम्नलिखित हैं-

1. **लिण्टन के अनुसार**

लिण्टन ने संस्कृति के तीन प्रकार बताये हैं, -

(अ) **सार्वभौमिक संस्कृति** - सार्वभौमिक संस्कृति के अन्तर्गत वे सभी बातें आती हैं जिन्हें समाज के सभी लोग मानते हैं जैसे - वैवाहिक पद्धतियां, राज्य की कार्यप्रणाली आदि।

(ब) **वैकल्पिक संस्कृति** - वैकल्पिक संस्कृति के अन्तर्गत वे बातें आती हैं जिनका चयन व्यक्ति अपने अनुसार करता अर्थात उनके चयन का अधिकार व्यक्ति को होता है जैसे - विवाह, अदालत के द्वारा सम्पन्न करायेंगे या पण्डित द्वारा ।

(स) **विशिष्ट संस्कृति** - इसका आशय कुछ विशिष्ट कार्यों या विशिष्ट विशेषताओं से होता है जिससे अपने कार्यों द्वारा उसकी पहचान बने जैसे चिकित्सक, वकील, शिक्षक आदि ।

2. **बीरस्टेड के अनुसार**

बीरस्टेड ने संस्कृति के तीन प्रकार बताये हैं -

(अ) **विचार** - प्रत्येक समाज में दो प्रकार के विचार पाये जाते हैं अच्छा एवं बुरा। इसी प्रकार धर्म, राजनीति, जादू टोना, झाड़फूक आदि से सम्बन्धित विचार लगभग सभी समाज में किसी न किसी रूप में पाये जाते हैं।

(ब) **व्यवहार आदर्श** - व्यवहार आदर्श का आशय सोचने के ढंग से नहीं बल्कि कार्य करने के ढंग से होता है। विचार की ही भाँति प्रत्येक समाज के अपने अपने व्यवहार आदर्श भी होते हैं, इसी व्यवहार आदर्शनुसार लोग कार्य करते हैं, इसमें मुख्य रूप से तीन बातें सम्मिलित होती हैं - नियम, आशायें एवं समाज स्वीकृत कार्य पद्धतियां।

(स) **भौतिक पदार्थ** - इनमें सभी भौतिक संस्कृति सम्मिलित होती हैं जैसे - मकान, मोटर, हथियार।

3. बी0 मेलिनास्की के अनुसार

प्रसिद्ध समाजशास्त्री बी0 मेलिनास्की से संस्कृति के निम्नलिखित प्रकार बताया है -

(अ) **सार्वभौमिक एवं विशिष्ट संस्कृति** - सार्वभौमिक संस्कृति के अन्तर्गत वे सभी बातें आती हैं, जिन्हें समाज के सभी लोग स्वीकार करते हैं। विशिष्ट संस्कृति में वे बातें आती हैं जो विभिन्नीकरण की प्रक्रिया पर आधारित होती हैं उदाहणार्थ विभिन्न व्यवसायों की अलग अलग संस्कृति होती हैं जैसे - शिक्षक, डाक्टर, वकील आदि।

(ब) **जन्मजात एवं अर्जित संस्कृति** - जन्मजात संस्कृति में वह बातें आती है जो व्यक्ति की आधारभूत इच्छाओं पर आधारित होती हैं जैसे - भोजन, सुरक्षा। परन्तु अर्जित संस्कृति में खेलकूद जाति, प्रजाति समुदाय धर्म एवं परिवार से प्राप्त चीजों को रखा जाता है।

(स) **भौतिक एवं अभौतिक संस्कृति** - भौतिक संस्कृति में मूर्त वस्तुएं आती हैं जैसे यन्त्र, भवन, यातायात के साधन, वेश भूषा,आदि। अभौतिक संस्कृति में अमूर्त वस्तुओं को रखा जाता है जैसे - मूल्य, परम्परा,विश्वास, आस्था आदि।

14.6 संस्कृति की इकाइयाँ

संस्कृति के अन्तर्गत निम्न इकाइयाँ आती हैं -

1. सांस्कृतिक गुण - संस्कृति की सबसे छोटी इकाई सांस्कृतिक गुण होती है। संस्कृति में इसका वही महत्व होता है जो व्यक्ति में कोशिका का। इसकी तीन विशेषताएं हैं - (1) संस्कृति के प्रत्येक गुण की उत्पत्ति एवं विकास का एक इतिहस होता है (2) प्रत्येक गुण अन्य गुणों के साथ एक समूह मे होते हैं (3) प्रत्येक गुण गतिशील होता है।

2. सांस्कृतिक संकुल - एक गुच्छे की भाँति प्रस्तुत किया गया सांस्कृति गुण ही सांस्कृतिक संकुल कहा जाता है।

3. सांस्कृतिक प्रतिमान - जिस प्रकार सांस्कृतिक गुण मिलकर संकुल का निर्माण करते हैं उसी प्रकार विभिन्न सांस्कृतिक संकुल मिलकर सांस्कृतिक प्रतिमान का निर्माण करते हैं। यह दो प्रकार का होता है - साचरणात्मक तथा आदर्शात्मक ।

4. सांस्कृतिक वैशिष्टय - प्रत्येक संस्कृति की अपनी कुछ विशेषताएं होती हैं इसी कारण वह दूसरी संस्कृति से भिन्न होती है। अतः ये विशेषताएं ही सांस्कृतिक वैशिष्टय कहलाती हैं।

5. सांस्कृतिक क्षेत्र - जब किसी भौगोलिक क्षेत्र में सांस्कृतिक लक्षण संयुक्त रूप से पाये जाते हैं जो अन्य भौगोलिक क्षेत्रों में संयुक्त रूप से नहीं मिलता तो उस क्षेत्र को सांस्कृतिक क्षेत्र कहा जाता है।

14.7 सभ्यता और संस्कृति

प्रायः लोग सभ्यता एवं संस्कृति में भेद नहीं करते, और कुछ लोग तो सभ्यता एवं संस्कृति को एक संयुक्त प्रत्यय के रूप में प्रयोग करते हैं जैसे वैदिक सभ्यता एवं संस्कृति पाश्चात्य सभ्यता एवं संस्कृति, आधुनिक सभ्यता एवं संस्कृति आदि। लोगों द्वारा सभ्यता एवं सस्कृति को संयुक्त प्रत्यय में प्रयोग करने का मुख्य कारण यह है कि सभ्यता एवं संस्कृति के मूल तत्व समान हैं । परन्तु सभ्यता और संस्कृति में अन्तर होता है अर्थात ये दो भिन्न सम्प्रत्यय हैं। सभ्यता वाह्य पक्ष है और संस्कृति आन्तरिक पक्ष।

किसी समाज की सभ्यता में वह सब कुछ आता है जो उसके जीवन सतर को निश्चित करता है। अपने आदि काल में मनुष्य का जो जीवन स्तर था, उसे ऊपर उठाने हेतु किसी समाज ने वस्तुओं खाद्य पदार्थ, मकान, बर्तन, आवागमन एवं दूरसंचार के साधन आदि का निर्माण किया। जिन क्रियाओं रहन-सहन, खान पान की विधियों, कला कौशल एवं संगीत नृत्य आदि का विकास किया और जिन विचारों भाषा साहित्य, धर्म दर्शन आदर्श, विश्वास और मूल्य आदि का विकास किया है वह सब उसकी सभ्यता है। जब इन वस्तुओं, क्रियाओं एवं विचारों का व्यक्ति के मन पर प्रभाव पड़े और हमारे मूल्यों में परिवर्तन आ जाय, तो उसे संस्कृति कहा जायेगा। संस्कृति में उद्देश्य, लक्ष्य, मूल्य, कला, नैतिकता आदि की प्रधानता रहती है।

सभ्यता एवं संस्कृति के अन्तर को निम्न उदाहरण द्वारा सहझा जा सकता है सभी समाजों ने विचारों के आदान प्रदान के लिए अपनी- अपनी भाषाओं का विकास किया है। भाषा का विकास उनकी सभ्यता का द्योतक है, परन्तु किस समाज ने किस भाषा विशेष का विकास किया, यह उसकी संस्कृति है। एक दूसरा उदाहरण - प्रायः सभी समाजों में एक दूसरे का अभिवादन करने की विधियों का विकास हुआ है, यह उनकी सभ्यता है, परन्तु किस समाज में एक दूसरे का अभिवादन किस रूप में किया जाता है, यह उनकी संस्कृति है। किसी समाज में हाथ जोड़कर अभिवादन किया जाता है, किसी में हाथ उठाकर और किसी समाज में हाथ मिलाकर। किसी समाज में गले मिलकर अभिवादन किया जाता है तो किसी में माथे पर चुम्बन लेकर। हिन्दू संस्कृति में तो अपने से बड़ें, बराबर वालों एवं छोटों का अभिवदन करने की भिन्न-भिन्न विधियाँ हैं।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि किसी समाज के जीवन स्तर को ऊंचा उठाने के लिए जिन वस्तुओं, क्रियाओं एवं विचारों का निर्माण एवं विकास होता है,वह उस समाज की सभ्यता होती है और इन वस्तुओं, क्रियाओं और विचारों का वह विशिष्ट रूप जो उस समाज की पहचान होती है, वह उस समाज की संस्कृति होती है। सभ्यता और संस्कृति में एक अन्तर यह भी होता है कि किसी भी समाज की सभ्यता का रूप समान होता है। और उसकी संस्कृति के तत्व असमान होते हैं। सभ्यता मनुष्य के बुद्धि पक्ष की देन है और संस्कृति उसके भाव पक्ष की स्वीकृति है प्रायः सभ्यता एवं संस्कृति साथ-साथ चलते हैं।

बोध प्रश्न

टिप्पणी : क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिये गये स्थान का प्रयोग कीजिए।

ख) अपने उत्तर को इकाई के अन्त में दिये गये उत्तर से मिलान कीजिए।

(3) सभ्यता से क्या तात्पर्य है?

....

....

(4) सभ्यता एवं संस्कृति में दो अन्तर बताइये।

(क) ....

(ख) ....

14.8 उपसंस्कृति

यह विश्व बहुत विशाल है। इस विश्व की विशालता के कारण सम्पूर्ण जनसंख्या का एक दूसरे के सम्पर्क में आना असम्भव है। इसलिए सम्पूर्ण मानव जाति अनेक राष्ट्रों तथा समूहों में विभक्त है। ये राष्ट्र तथा समुदाय अपने पर्यावरण के अनुसार अपने को सुव्यवस्थित करते हैं।

एक देश अथवा समाज के अन्दर विभिन्न प्रकार की संस्कृतियाँ होती है। अर्थात एक समुदाय की संस्कृति दूसरे समुदाय की संस्कृति से भिन्न होती है। इन संस्कृतियों को ही हम उपसंस्कृति कहते हैं।

उप संस्कृति को समझने के लिए किसी समाज के व्यक्तियों की निम्नलिखित बातों पर ध्यान दिया जाता है - निवास स्थान, भाषा, व्यवसाय, आय, व्यय आदि। इसके अलावा उस समाज के व्यक्तियों के रहन -सहन के तरीकों को देखते हैं। रहन-सहन के तरीकों में निम्न तत्व (बातें) सम्मिलित किये जाते हैं जैसे - भोजन, पहनावा, शारीरिक स्वभाव, मानसिक स्वभाव, विवाह तथा पारिवारिक जीवन आदि। किसी समाज की संस्कृति को समझने के लिए वहाँ के व्यक्तियों के विश्वासों को समझना चाहिए। इसको जानने के लिए निम्न बातों पर ध्यान देना होता है : धार्मिक, विश्वास, राजनैतिक व्यवस्था, सामाजिक आकांक्षा, नैतिकता तथा जीवन उद्देश्य आदि।

इसके अतिरिक्त यह भी देखने की आवश्यकता होती है कि समाज के व्यक्ति अवकाश के समय का दुरूपयोग किस प्रकार करते हैं। अवकाश कालीन कार्यों में जिन बातों को देखा जाता है वे इस प्रकार हैं : मनोरंजन, मनन, अध्ययन, कलात्मक अभिव्यक्ति तथा उनके साधन आदि।

बोध प्रश्न

टिप्पणी : क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिये गये स्थान का प्रयोग कीजिए।

ख) अपने उत्तर को इकाई के अन्त में दिये गये उत्तर से मिलान कीजिए।

(5) उपसंस्कृति से क्या तात्पर्य है?

....

....

14.9 संस्कृति के कार्य

व्यक्ति जन्मतः पशु के समान होता है। परन्तु वह अपनी पाशविक शक्तियों पर नियंत्रण तथा समाजोपयोगी तत्वों का विकास संस्कृति के द्वारा करता है। अर्थात व्यक्ति अपना विकास संस्कृति के द्वारा ही करता है।व्यक्ति के आस पास का प्राकृतिक वातावरण उस पर बहुत प्रभाव डालता है। इस प्राकृतिक वातावरण में व्यक्ति को समायोजित होने में संस्कृति बहुत सहायता करती है। समायोजन की प्रक्रिया में व्यक्ति जो नये नये आविष्कार करता है, वे संस्कृति के ही अंग हैं। भारतवर्ष में विभिन्न जनजातियों के सदस्य अपने प्राकृतिक वातावरण से समायोजित करने के लिए भिन्न भिन्न प्रकार के व्यवहार करते हैं और यह व्यवहार जनजाति द्वारा नई पीढ़ी को सिखा दिया जाता है।

संस्कृति प्राकृतिक वातावरण ही नहीं, सामाजिक वातावरण से भी सामंजस्य स्थापित करने का साधन है। संस्कृति में रीति रिवाज, परम्पराओं और चालू व्यवहार प्रतिमान सम्मिलित होते हैं उसमें हमारे विश्वास और विचार, निर्णय और मूल्य तथा सामाजिक संस्थाएं निहित होती हैं । इन सबसे व्यक्ति को सामाजिक वातावरण से समायोजन होने में सहायता मिलती है।

संस्कृति से व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का विकास भी करता है। मानव शास्त्रियों ने अपने अध्ययनों द्वारा यह बताया है कि भिन्न भिन्न संस्कृतियों में पाये जाने वाले भेद के अनुसार भिन्न भिन्न समाजों में व्यक्तित्व प्रतिमान में भेद पाया जाता है। कहीं पर व्यक्ति अधिक आक्रामक होते हैं तो कहीं पर उनमें समर्पण की भावना अधिक होती है। संस्कृति व्यक्ति के शारीरिक, सामाजिक, संवेगात्मक नैतिक और सौन्दर्यात्मक सभी पक्षों का विकास करती है।

कभी कभी व्यक्ति संस्कृति के सार्वभौमिक रूप में भी भाग लेता है। सस्कृति के सार्वभौमिक रूप के अतिरिक्त उसका एक विशिष्ट रूप भी होता है, जिसमें एक वर्ग भाग लेता है। कुछ व्यक्ति इस विशिष्ट रूप के सदस्य होते हैं, जिसमें एक वर्ग भाग लेता है। कुछ व्यक्ति इस विशिष्ट संस्कृति में सहभागी बनकर अपना विकास करते हें। जो व्यक्ति वैकल्पिक रूप से संस्कृति के विशिष्ट तत्वों को जितना ही अधिक महत्व देता है उसका व्यक्तित्व उतना ही अधिक सुविकसित एवं उन्नत माना जाता है।

बोध प्रश्न

टिप्पणी : क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिये गये स्थान का प्रयोग कीजिए।

ख) अपने उत्तर को इकाई के अन्त में दिये गये उत्तर से मिलान कीजिए।

(6) संस्कृति के दो कार्य बताइये ।

....

....

14.10 संस्कृति तथा शिक्षा

संस्कृति किसी समाज की पहचान होती है। यह उसके रहन सहन एवं खान पान की विधियों, व्यवहार प्रतिमानों, रीति रिवाज, कला कौशल, संगीत नृत्य, भाषा साहित्य, धर्म दर्शन, आदर्श-विश्वास और मूल्यों के विशिष्ट रूप में जीवित रहती है। तब किसी समाज की शिक्षा पर उसकी संस्कृति का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है। जिस समाज की संस्कृति अध्यात्म प्रधान होती है उस समाज की शिक्षा स्कूल की अपेक्षा सूक्ष्म की प्राप्ति की ओर अधिक झुकी हुई होती है और जिस समाज की संस्कृति भौतिकवादी होती है, उस समाज की शिक्षा में भौतिक उद्देश्यों की प्राप्ति, पाठ्यक्रम में लौकिक विषयों की प्रधानता, लौकिक सम्बन्धों पर आधारित गुरू शिष्य परम्परा एवं प्रतियोगिता होती है। इसके विपरीत जिस समाज की संस्कृति अभौतिकवादी होती है उस समाज की शिक्षा में प्रतियोगिता का महत्व कम होता है। ऐसे समाज में शिक्षा का उद्देश्य आध्यात्मिकता का विकास करना होता है। वहाँ के पाठ्यक्रम में लौकिक विषयों के अतिरिक्त नैतिक, धार्मिक, दार्शनिक, कलात्मक एवं साहित्यिक विषयों की प्रधानता होती है और वहाँ गुरू-शिष्य का सम्बन्ध आध्यात्मिक आधार पर होता है।

भिन्न भिन्न समाजों की भिन्न भिन्न संस्कृति होती है। कुछ समाज नगर प्रधान संस्कृति वाले होते हैं तो कुछ ग्राम प्रधान संस्कृति के नगर प्रधान संस्कृति वाले समाज की शिक्षा बहुत अच्छी होती है। वहाँ उद्योगों के लिए विशेष योग्यता रखने वाले व्यक्तियों की आवश्यकता होती है। इसीलिए वहाँ की शिक्षा उच्च स्तरीय तथा तकनीकी एवं प्राविधिक पर आधारित होती है। इसके विपरीत ग्राम प्रधान संस्कृति वाले समाज में तकनीकी शिक्षा का अभाव रहता है और साहित्यिक शिक्षा पर ही अधिक बल होता है।

प्रत्येक समाज में किसी न किसी विचार या वस्तु की प्रधानता होती है, जिसे अपनाने पर व्यक्ति को सम्मान मिलता है। जिस वस्तु या विचार से व्यक्ति को सम्मान मिलता है वह उसे अन्य बातों की अपेक्षा पहले सीखना चाहता है। संस्कृति के विभिन्न तत्वों द्वारा हमें यह ज्ञात होता है कि क्या सीखा जाय और क्या नहीं। इसके अतिरिक्त यह पता चलता है कि किसे याद रखा जाय और किसे भूल जाया जाय।

जिस समाज की संस्कृति सहज होती है और उसका विकास नहीं हुआ रहता है उससमाज की शिक्षा का स्तर साधारण होता है। प्रायः वहाँ की शिक्षा व्यवस्था जीविकोपार्जन सुरक्षा एवं मान्य देवी देवताओं की पूजा के लिए ही होती है। और जब वहाँ की संस्कृति जटिल

एवं विकसित हो जाती है तो शिक्षा में विशेष संस्थाओं का विस्तार और शिक्षा स्तर में वृद्धि होती है।

शिक्षा संस्कृति की निरन्तरता बनाये रखने में, अहस्तक्षेप तथा संस्कृति को एक पीढ़ी से दूसरे पीढ़ी में हस्तान्तरित करने में शिक्षा सफल साधन के रूप में कार्य करती है। शिक्षा द्वारा इस कार्य को सुगमता से किया जा सकता है। शिक्षा द्वारा संस्कृति का केवल हस्तान्तरण ही नहीं होता वरन शिक्षा संस्कृति में परिवर्तन एवं परिवर्द्धन भी करती है।जो बाते विधि साध्य नहीं हैं उन्हें शिक्षा हटाने पर बल देती है। तथा जो बातें नवीन और विधि साध्य हैं उन्हें समाज को अपनाने के लिए प्रेरित करती है। अतः यह कहा जा सकता है कि शिक्षा संस्कृति के विकास में महत्वपूर्ण योगदान करती है।

बोध प्रश्न

टिप्पणी : क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिये गये स्थान का प्रयोग कीजिए।

ख) अपने उत्तर को इकाई के अन्त में दिये गये उत्तर से मिलान कीजिए।

(7) भौतिकवादी संस्कृति की शिक्षा व्यवस्था कैसी होगी?

....

....

14.11 परिवार में बालक की सांस्कृतिक शिक्षा

सर्व प्रथम बालक की सांस्कृतिक शिक्षा परिवार से ही प्रारम्भ होती है। बालक परिवार में अन्य सदस्यों के व्यवहार को देखता है जैसे - छोटे का बड़े के साथ व्यवहार, बड़े का छोटे के साथ व्यवहार, रिश्तेदारों के साथ व्यवहार, पड़ोसियों के साथ व्यवहार, समाज के साथ व्यवहार, आगंतुकों के साथ व्यवहार, स्त्रियों के साथ व्यवहार, तथा बराबरी का व्यवहार आदि। इन व्यवहारों को देखकर वह स्वयं ऐसा व्यवहार करने का तरीका सीखने का प्रयास करता रहता है। परम्पराओं, रीति रिवाजों, विश्वासों तथा मूल्यों आदि को हम संस्कृति का उपकरण कह सकतें हैं। परिवार के सभी सदस्यों द्वारा इन उपकरणों की शिक्षा व्यक्ति को दी जाती है। इस प्रकार उसको परिवार के संस्कारों से सुसंस्कृत किया जाता है। बालक को सुसंस्कृत बनाने के लिए हिन्दू समाज में अनेकों संस्कार की व्यवस्था है। इसी प्रकार दूसरे संस्कृतियों में भी संस्कार की व्यवस्था देखने को मिलती है। व्यक्ति परिवार में ही शिष्टाचार, नैतिक मूल्य, तथ्य धार्मिक कृत्य को सीखता है। किसी भी देश के महापुरूष जिनका उस देश की संस्कृति में महत्वपूर्ण योगदान है के बाल्यकाल में उसके परिवार के प्रभाव को स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है।

बोध प्रश्न

टिप्पणी : क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिये गये स्थान का प्रयोग कीजिए।

ख) अपने उत्तर को इकाई के अन्त में दिये गये उत्तर से मिलान कीजिए।

(8) संस्कृति के कुछ उपकरणों के नाम बताइये?

....

....

14.12 विद्यालय में बालक की सांस्कृतिक शिक्षा

परिवार में संस्कृति की शिक्षा ग्रहण करने के बाद बालक विद्यालय में भी संस्कृति की शिक्षा प्राप्त करता है। उसे पाठ्यपुस्तकों के माध्यम से समूह के विचारों, आदर्शों तथ्य मूल्यों आदि की शिक्षा दी जाती है। खेल, नाटक, नृत्य, सामूहिक गान, वाद-विवाद प्रतियोगिता तथा देशाटन आदि पाठ्यक्रमेत्तर कार्यक्रमों के द्वारा भी संस्कृति की शिक्षा दी जाती है।

विद्यालय में बालक को जहाँ विशिष्ट संस्कृति की शिक्षा दी जाती है वहीं अन्य संस्कृतियों के प्रति सहिष्णुता की भावना रखने सम्बन्धी शिक्षा भी दी जानी चाहिए। केवल अपनी संस्कृति की शिक्षा देने से बालक अपनी संस्कृति को सर्वोच्च मान बैठता है। इससे बालक के अन्तर संस्कृति के प्रति गलत धारणा पैदा होती है। इस धारणा से बालक दूसरे संस्कृतियों की अच्छाइयों को नहीं सीख पाता और न ही इस मनोवृत्ति से अपनी संस्कृति का विकास ही हो पाता है। इससे दूसरे संस्कृति के प्रति सहिष्णुता की भावना का विकास भी नही हो पाता है जिस कारण परस्पर तनाव बढ़ता है। यह तनाव कभी कभी हिंसा का रूप ले लेता है भारत में साम्प्रदायिक दंगों के पीछे सहिष्णुता की कमी माना जा सकता है। सहिष्णुता से अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध विकसित होते हैं, इससे अपने देश का विकास भी होता है और विश्व में प्रतिष्ठा भी बढ़ती है। अपनी संस्कृति से प्रेम अवश्य होना चाहिए। अपनी संस्कृति के प्रति प्रेम तथा भक्ति सुशिक्षित व्यक्ति की प्रथम पहचान है। लेकिन इसके साथ ही बालक को दूसरे संस्कृतियों की भी शिक्षा अवश्य देनी चाहिए।

अवकाश काल के सदुपयोग को सिखाना भी सांस्कृतिक शिक्षा का महत्वपूर्ण कार्य है। साहित्य, संगीत तथा कला आदि सांस्कृतिक कार्यों को करने से बालक के अवकाश का सदुपयोग हो सकता है किन्तु इसकी शिक्षा बालक को देनी होगी।

बोध प्रश्न

टिप्पणी : क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिये गये स्थान का प्रयोग कीजिए।

ख) अपने उत्तर को इकाई के अन्त में दिये गये उत्तर से मिलान कीजिए।

(9) बालक को विशिष्ट संस्कृति के साथ और कौन सी शिक्षा देनी चाहिए?

....

....

14.13 सारांश

इस इकाई में संस्कृति का अर्थ एवं स्वरूप को स्पष्ट किया गया है। सभ्यता को स्पष्ट करते हुए सभ्यता एवं संस्कृति में अन्तर बताया गया है। इसके पश्चात उपसंस्कृति के विषय में चर्चा की गयी है। इसी इकाई में संस्कृति के कार्यों की व्याख्या की गयी है। इस इकाई के अन्त में संस्कृति एवं शिक्षा के सम्बन्धों का वर्णन एवं विश्लेषण किया गया है। इकाई के अन्त में परिवार तथा विद्यालय में बालक की सांस्कृतिक शिक्षा का वर्णन किया गया है। इस प्रकार इस इकाई से स्पष्ट होता है कि संस्कृति से ही व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास होता है। संस्कृति और शिक्षा का घनिष्ठ सम्बन्ध होता है, वे एक दूसरे को प्रभावित करते हैं और एक के अभाव में दूसरे के विकास की कल्पना नहीं की जा सकती है।

14.14 अभ्यास कार्य

1. संस्कृति के अर्थ एवं स्वरूप को स्पष्ट कीजिए।
2. सभ्यता एवं संस्कृति के अन्तर को स्पष्ट कीजिए।
3. संस्कृति का निर्माण कैसे होता है विश्लेषित कीजिए।
4. संस्कृति के कार्यों की विवेचना कीजिए।
5. संस्कृति एवं शिक्षा के सम्बन्धों का वर्णन कीजिए।

14.15 बोध प्रश्नों के उत्तर

1. मानव विज्ञानियों एवं समाजशास्त्रियों के अनुसार संस्कृति में वह सब आता है जो व्यक्ति समाज के सदस्य के रूप में सीखता है।
2. सामाजिक उपलब्धि एवं विरासत के रूप में
3. किसी समाज की सभ्यता में वह सब कुछ आता है जो उसके जीवन स्तर को निश्चित करता है।
4. क) सभ्यता का रूप समान होता है और संस्कृति के तत्व असमान होते हैं।
   ख) सभ्यता व्यक्ति के बुद्धि पक्ष की देन है और संस्कृति उसके भाव पक्ष की स्वीकृति है।
5. किसी समाज में पायी जाने वाली भिन्न-भिन्न संस्कृतियाँ ही उपसंस्कृतियाँ कहलाती हैं।
6. क) व्यक्ति को प्राकृतिक वातावरण से समायोजित करती है।
   ख) व्यक्ति को सामाजिक वातावरण से समायोजित करती है।
7. भौतिकवादी संस्कृति की शिक्षा व्यवस्था में भौतिक उद्देश्यों की प्रगति, पाठ्यक्रम में लौकिक विषयों की प्रधानता तथा लौकिक सम्बन्धों पर आधारित गुरू-शिष्य परम्परा आदि मिलेगी।
8. संस्कृति के कुछ उपकरण जैसे - रीति रिवाज, परम्परा, मूल्य तथा विश्वास आदि।
9. बालक को विशिष्ट संस्कृति के साथ सहिष्णुता की भावना रखने सम्बन्धी शिक्षा दी जानी चाहिए।

इकाई -15 : विद्यालय तथा समुदाय

संरचना

15.1 प्रस्तावना
15.2 उद्देश्य
15.3 समुदाय का अर्थ
15.4 समुदाय की विशेषताएं
15.5 विद्यालय और समुदाय का सम्बन्ध
15.6 समुदाय का विद्यालय पर प्रभाव
15.6.1 समुदाय के आदर्शों एवं परम्पराओं का प्रभाव
15.6.2 समुदाय की आवश्यकताओं का प्रभाव
15.6.3 समुदाय की आर्थिक स्थिति का प्रभाव
15.6.4 समुदाय के राजनीतिक स्वरूप का प्रभाव
15.6.5 समुदाय के गुण एवं दोषों का प्रभाव
15.7 विद्यालय का समुदाय पर प्रभाव
15.7.1 समुदाय की संस्कृति पर प्रभाव
15.7.2 समुदाय की आवश्यकताओं पर प्रभाव
15.7.3 समुदाय की समस्याओं पर प्रभाव
15.7.4 समुदाय की व्यावसायिक एवं औद्योगिक प्रगति पर प्रभाव
15.7.5 समुदाय के भावी स्वरूप पर प्रभाव
15.7.6 सामुदायिक परिवर्तन पर प्रभाव
15.8 विद्यालय और समुदाय के बीच सम्बन्ध के अभाव के कारण
15.8.1 विद्यालय सम्बन्धी कारण
15.8.2 समुदाय सम्बन्धी कारण
15.9 सामुदायिक केन्द्र के रूप में विद्यालय
15.9.1 समुदाय को विद्यालय के निकट ले जाना
15.9.2 विद्यालय को समुदाय के निकट ले जाना
15.10 स्थानीय साधनों का उपयोग
15.10.1 ऐतिहासिक स्थान एवं भवन
15.10.2 संग्रहालय
15.10.3 भौगोलिक एवं प्राकृतिक वातावरण
15.10.4 सामाजिक संस्थाएं
15.10.5 प्रशासकीय संस्थाएं
15.10.6 लोक सेवा संस्थाएं
15.10.7 औद्योगिक केन्द्र

15.11 विद्यालय का सामूहिक जीवन
15.12 सारांश
15.13 अभ्यास कार्य
15.14 बोध प्रश्नों के उत्तर

15.1 प्रस्तावना

व्यक्तियों द्वारा मानवहितों की पूर्ति हेतु निर्मित एक संस्था है, समुदाय। जो अपने उद्देश्यों की पूर्ति हेतु विभिन्न साधनों का प्रयोग करता है, उनमें एक महत्वपूर्ण साधन है विद्यालय। विद्यालय में छात्रों को ऐसे ज्ञान एवं अनुभव प्रदान किये जाते हैं, जिनका उपयोग वह विद्यालय छोड़ने के उपरान्त समुदाय में सफलता पूर्वक कर सके। इस इकाई में विद्यालय एवं समुदाय के अन्तः सम्बन्धों को स्पष्ट किया गया है। यह इकाई छात्रों को समुदाय के विद्यालय पर प्रभाव एवं विद्यालय के समुदाय पर प्रभाव से परिचित करायेगी। इसमें सामुदायिक केन्द्र के रूप में विद्यालय का वर्णन किया गया है और स्थानीय साधनों का उपयोग बताया गया है। अन्त में विद्यालयों में सामूहिक जीवन विकसित करने के उपायों का वर्णन किया गया है।

15.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप इस योग्य हो जायेंगे कि -

- विद्यालय एवं समुदाय के सम्बन्धों का विवेचन कर सकेंगे।
- विद्यालय पर समुदाय के प्रभाव को स्पष्ट कर सकेंगें।
- समुदाय पर विद्यालय के प्रभाव की विवेचना कर सकेंगे।
- सामुदायिक केन्द्र के रूप में विद्यालय का वर्णन कर सकेंगे।
- स्थानीय साधनों का उपयोग कर सकेंगे।
- विद्यालयों में सामूहिक जीवन का विकास कर सकेंगे।

इसके बाद समुदाय का अर्थ एवं विशेषताएं लिखा जायेगा तब विद्यालय और समुदाय का सम्बन्ध रहेगा।

15.3 समुदाय का अर्थ

समाजशास्त्रीय दृष्टि से समुदाय एक बड़ा सामाजिक समूह होता है, जिसमें रहकर इस तरह के व्यक्तियों की सामान्य आवश्यकताएं (सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, राजनैतिक एवं आर्थिक) पूरी होती हैं। समुदाय का अंग्रेजी पर्याय (Community) है, जो दो शब्दों Com और Munis से मिलकर बना है। Com का अर्थ एक साथ तथा Munis का अर्थ सेवा करना होता है। इस प्रकार का अर्थ हुआ एक साथ मिलकर अपने अधिकारों का उपयोग करना। समुदाय का निर्माण दो या दो से अधिक व्यक्तियों द्वारा होता है। समुदाय के साथ

किसी भौगोलिक क्षेत्र का होना भी आवश्यक है। समुदाय की मुख्य विशेषता यह है कि उसके सदस्यों की आर्थिक, सांस्कृतिक और राजनैतिक लक्ष्यों की समानता होती है। इसी प्रकार की बात बोगार्डस ने भी कहा है-'समुदाय एक ऐसा सामाजिक समूह है, जिसमें कुछ मात्रा में हम की भावना होती है और वह एक क्षेत्र विशेष में रहता है।

15.4 समुदाय की मुख्य विशेषताएँ

समुदाय की मुख्य विशेषताएँ निम्नलिखित हैं :-

(1) समुदाय का निर्माण दो या दो से अधिक व्यक्तियों द्वारा होता है।

(2) समुदाय की एक निश्चित भौगोलिक सीमा होती है।

(3) समुदाय के लोगों से उद्देश्यों, रूचियों, आदर्शों एवं लक्ष्यों की समानता होती है।

(4) समुदाय परस्पर विश्वास पर आधारित होता है।

(5) समुदाय के सदस्यों में आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक धार्मिक एवं राजनीतिक समानताएँ होती हैं।

(6) समुदाय व्यक्तियों का स्थायी एवं अस्थायी दोनों प्रकार का समूह है।

15.5 विद्यालय और समुदाय का सम्बन्ध

विद्यालय एवं समुदाय के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध होता है, क्योंकि ये दोनों ही अपनी उन्नति एवं स्थायित्व हेतु एक दूसरे पर निर्भर करते हैं। वस्तु स्थिति यह है कि प्रत्येक राष्ट्र अपने समुदायों के विकास हेतु नई-नई योजनाएँ बनाता है। परन्तु समुदायों का विकास योजनाओं से नहीं बल्कि उस समुदाय के नागरिकों के विकास पर निर्भर करता है। नागरिकों में जब तक स्वयं विकसित होने की भावना जागृत नहीं होगी, तब तक उनका विकास नहीं किया जा सकता। नागरिकों में स्वयं विकसित होने की भावना को जागृत करने का कार्य केवल शिक्षा ही कर सकती है। जो केवल विद्यालयों में ही प्राप्त की जा सकती है। इससे स्पष्ट होता है कि किसी समुदाय का विकास केवल विद्यालय द्वारा ही सम्भव है। इसीलिए प्रत्येक समुदाय अपनी-अपनी राजनीतिक,आर्थिक एवं सामाजिक आवश्यकताओं एवं आदर्शों की पूर्ति के लिए विद्यालय की स्थापना करता है।

यदि कोई समाज अपनी परम्पराओं आदर्शों विचारों एवं मान्यताओं आदि को सुरक्षित नहीं रख पाता है तो उस समुदाय का विकास नहीं होता है, क्योंकि समुदाय का आस्त्वि ही विभिन्न कौशलों, परम्पराओं एवं मान्यताओं पर निर्भर होता है। अतः विद्यालय अपनी क्रियाओं एवं कार्यों द्वारा समुदाय को परम्पराओं एवं आदर्शों को सुरक्षित रखकर इसका अस्तित्व बनाये रखने में मदद करता है। इससे समुदाय में स्थायित्व एवं निरन्तरता बनी रहती है। समुदाय की निरन्तरता एवं स्थायित्व बनाये रखने का ही कार्य नहीं करता,

बल्कि वह समुदाय की प्रगति करने में भी सहयोग करता है। हावर्थ ने कहा है कि विद्यालय समुदाय के चरित्र का सुधार करने का साधन है। यह सुधार सामाजिक उन्नति की दिशा में है या नहीं, यह विद्यालय के संचालकों के विचारों और आदर्शों पर निर्भर करता है।

जे0 मोहन्ते के अनुसार 'विद्यालय समुदाय के लिए है और समुदाय विद्यालय के लिए विद्यालय को समुदाय के विकास में सहयोग करना चाहिए और समुदाय को विद्यालय के सुधार में विद्यालय को चाहिए कि वह अपने साधन समुदाय के प्रयोग के लिए उपलब्ध कराये और समुदाय को चाहिए कि वह अपने साधन विभिन्न क्रार्यक्रमों के आयोजन के लिए विद्यालय को उपलब्ध कराये। इस प्रकार भौतिक एवं मानवीय साधनों के उपयोग में विद्यालय एवं समुदाय के बीच पारस्परिक एवं व्यवहारिक सहयोग होना चाहिए।'

विद्यालय एवं समुदाय के सम्बन्ध के विषय में फ्रैंकलिन का विचार है कि विद्यालय एवं समुदाय में दोहरे रास्ते का प्रबन्ध होता है। एक रास्ते से समुदाय की समस्याएं समाधान के लिए विद्यालय में आती है, तो दूसरे रास्ते से खोजा गया समाधान (ज्ञान) समुदाय में जाती है। जिस समुदाय की समस्याओं का समाधान उसके विद्यालयों में जितनी तेजी से हो जाता है वह समुदाय उतनी ही तेजी से विकसित होता है। इसके विपरीत जब विद्यालय समुदाय की समस्याओं का समाधान नहीं कर पाता, तो समुदाय भी उन्नति के दौड़ में पीछे रह जाता है। अर्थात् विद्यालय और समुदाय दोनों अपनी-अपनी उन्नति के लिए एक दूसरे पर पूर्णतः निर्भर है। अतः दोनों (विद्यालय और समुदाय) में घनिष्ठ सम्बन्ध होता है।

बोध प्रश्न -

टिप्पणी - (क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिये गये स्थान का प्रयोग कीजिए।

(ख) अपने उत्तर को इकाई के अन्त में दिये गये उत्तर से मिलान कीजिए।

1- समुदाय विद्यालयों की स्थापना क्यों करता है ?

....

....

2- वह कौन सा तरीका है, जिसके द्वारा विद्यालय एवं समुदाय को निकट लाया जा सकता है।

....

....

15.6 समुदाय का विद्यालय पर प्रभाव-

समुदाय अपनी अवश्यकताओं एवं आकाक्षाओं आदि की पूर्ति के लिए विद्यालयों की स्थापना करता है। इसलिए समुदाय का विद्यालय पर विभिन्न रूपों में प्रभाव पड़ता है। वे प्रभाव निम्नलिखित हैं :-

15.6.1 समुदाय के आदर्शों एवं परम्पराओं का प्रभाव

प्रत्येक समुदाय के अपने आदर्श एवं परम्पराएं होती हैं। समुदाय के इन आदर्शों एवं परम्पराओं का प्रत्यक्ष प्रभाव विद्यालय पर पड़ता है। अतः विद्यालय इन सबसे प्रभावित होकर बालकों में ऐसे गुणों का विकास करता है जिनके द्वारा वे समुदाय की विभिन्न क्रियाओं में सक्रियता से भाग लेते हुए उसे समृद्धशाली तथा शक्तिशाली बनाने में यथाशक्ति सहयोग प्रदान करते रहे।

15.6.2 समुदाय की आवश्यकताओं का प्रभाव

प्रत्येक समुदाय की अपनी आवश्यकताएं होती हैं। जिनका गहरा प्रभाव विद्यालय पर पड़ता है। इन आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए ही विद्यालय का संगठन होता है और उसके अनुसार ही विद्यालय अपनी कार्य प्रणाली निर्धारित करता है। चूंकि समुदाय की आवश्यकताएं बदलती रहती हैं, इसलिए विद्यालय का जीवन-दर्शन, उद्देश्य पाठ्यक्रम, एवं शिक्षण विधि आदि भी बदलते रहते हैं। वर्तमान समय में तो विद्यालय को समुदाय का लघु रूप माना जाता है।

15.6.3 समुदाय की आर्थिक स्थिति का प्रभाव

समुदाय की आर्थिक स्थिति भी विद्यालय को प्रभावित करती है। भारतीय समुदाय मुख्यतः कृषि पर निर्भर है। इसलिए समुदाय ने न केवल कृषि को पाठ्यक्रम में एक विषय के रूप में स्थान दिया, वरन् कृषि कालेज, कृषि विश्वविद्यालय भी अब काफी संख्या में स्थापित होते जा रहे हैं। औद्योगीकरण के क्षेत्र में भी हमारा समुदाय प्रगति कर रहा है, इसलिए विभिन्न प्रकार के व्यावसायिक विद्यालयों की स्थापना पर भी बल दिया जा रहा है।

15.6.4 समुदाय के राजनीतिक स्वरूप का प्रभाव

किसी समुदाय की शिक्षा व्यवस्था उस समुदाय की राजनीतिक व्यवस्था के स्वरूप पर निर्भर करती है। जैसे-भारतीय समुदाय ने लोक तांत्रिक प्रणाली को स्वीकार किया है, और इसकी सफलता के लिए योग्य नागरिकों की आवश्यकता है। अतः विद्यालयों का एक प्रमुख उद्देश्य हो जाता है। योग्य नागरिकों का निर्माण करना। इस दृष्टि से विद्यालय का संगठन एवं संचालन लोक तांत्रिक सिद्धान्तों के अनुसार किया जाता है और विद्यालयों के वातावरण में स्वतंन्त्रता, समानता आदि मूल अधारों को स्थान दिया जाता है।

15.6.5 समुदाय के गुण एवं दोषों का प्रभाव-

प्रत्येक समुदाय में गुण एवं दोष दोनों पाये जाते हैं। समुदाय के गुण-दोषों का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष प्रभाव विद्यालयों पर भी पड़ता है। यदि समुदाय में झूठ, फरेब, छल-कपट तथा धोखा-धड़ी एवं भ्रष्टाचार फैला हुआ है, तो विद्यालय भी इन दोनों से अलग नहीं हो पाता है। इसी प्रकार यदि समुदाय में सत्य एवं अहिंसा जैसे गुण पाये जाते हैं तो विद्यालय में भी इन्हीं गुणों की छाप दिखाई देती है।

बोध प्रश्न -

टिप्पणी - (क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिये गये स्थान का प्रयोग कीजिए।

(ख) इस इकाई के अन्त मे दिये गये उत्तरों से अपने उत्तर मिलाइये।

3- विद्यालय पर समुदाय के पड़ने वाले तीन प्रभाव बताइए।

(क) ....

(ख)..

(ग)..

15.7 विद्यालय का समुदाय पर प्रभाव

समुदाय का ही विद्यालय पर प्रभाव नहीं पड़ता, बल्कि विद्यालय का भी प्रभाव समुदाय पर पड़ता है। अतः समुदाय पर विद्यालय के प्रभाव निम्न रूपों में देखा जा सकता है:

15.7.1 समुदाय की संस्कृति पर प्रभाव

प्रत्येक समुदाय की अपनी-अपनी संस्कृति होती है। विद्यालय में पढ़ने एवं विभिन्न प्रकार के सांस्कृतिक कार्यक्रमों में भाग लेकर बालक अपने समुदाय की संस्कृति के विषय में जान जाता है। बिना विद्यालय के बिना कोई भी बालक अपने जीवन काल में समुदाय की संस्कृति को न सीख सकता है तथा न ही उससे लाभ उठा सकता है। इस प्रकार विद्यालय समुदाय की संस्कृति की रक्षा करता है और इसका विकास करके आने वाली पीढ़ी को हस्तान्तरित करता है।

15.7.2 समुदाय की आवश्यकताओं पर प्रभाव

प्रत्येक समुदाय की परिस्थिति के अनुसार अपनी विशिष्ट आवश्यकताएं एवं मांगे होती हैं। विद्यालय इन आवश्यकताओं एवं मांगों की पूर्ति हेतु अपनी योजनाओं एवं शैक्षिक कार्यक्रमों में तद्नुसार परिवर्तन करता रहता है। इस प्रकार समुदाय की प्रगति होती है।

15.7.3 समुदाय की समस्याओं पर प्रभाव

प्रत्येक समुदाय की कुछ न कुछ समस्याएं होती हैं। समुदाय की ये समस्याएं ही विद्यालय की समस्याएं हो जाती हैं। विद्यालय इन समस्याओं के समाधान के लिए जरूरी ज्ञान प्रदान करता है, जिससे समुदाय दिन-प्रतिदिन अपनी उन्नति करता रहता है जैसे समाज में व्याप्त छुआछूत तथा बाल विवाह जैसी कुरीतियों का निवारण करने के लिए शिक्षा के माध्यमं से प्रयास इत्यादि।

15.7.4 समुदाय की व्यावसायिक और औद्योगिक प्रगति पर प्रभाव-

समुदाय के व्यावसायिक और औद्योगिक विकास पर भी विद्यालय का प्रभाव पड़ता है। इसीलिए समुदाय के व्यावसायों को किसी न किसी रूप में पाठ्यक्रम में अवश्य स्थान मिलता है। गाँधी जी ने अपनी बेसिक शिक्षा में समुदाय के प्रमुख हस्त-शिल्पों को स्थान दिया। उन्होंने बुनियादी शिल्प पर आधारित शिक्षा की नींव डाली, जिससे समृदाय के लोग

स्वावलम्बी बन सकें। समुदाय से जितने अधिक तथा विभिन्न प्रकार के जितने व्यावसायिक एवं प्रौद्योगिक विद्यालय होंगे, समुदाय का विकास भी उतना ही अधिक होगा।

15.7.5 समुदाय के भावी स्वरूप पर प्रभाव

जीवित रहने की एक आवश्यक शर्त है- गतिशील रहना अर्थात् समुदाय के साथ चलना। इसलिए विद्यालय समुदाय की रूढ़ियों एवं निर्जीव आदर्शों की आलोचना करके उसके समक्ष नवीन विचार एवं कार्यक्रम प्रस्तुत करता है। साथ ही वह भावी नगारिकों का निर्माण करता है,जो आगे चलकर समुदाय के दोषों को दूर करके उसके भावी ढाँचे का निर्माण करेंगे।

15.7.6 सामुदायिक परिवर्तन पर प्रभाव

समुदाय में विभिन्न प्रकार के परिवर्तन होते हैं। परिवर्तन की गति में वृद्धि के लिए विद्यालय से अच्छा और कोई साधन नहीं होता। विद्वानों का विचार है कि यदि किसी समुदाय में परिवर्तन करना है तो विद्यालय में पढ़ने वाले, बालकों के मस्तिष्क में परिवर्तन किया जाये। इसी कारण जर्मनी में नाजीवाद, इटली में फासीवाद व रूस में साम्यवाद विद्यालयों द्वारा ही फैलाया गया।

बोध प्रश्न -

टिप्पणी - (क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिये गये स्थान का प्रयोग कीजिए।

(ख) अपने उत्तरों को इकाई के अन्त में दिए गये उत्तर से मिलान कीजिए।

4- समुदाय पर विद्यालय के पड़ने वाले चार प्रभाव बताइए।

(क)..

(ख)..

(ग)..

(घ)..

15.8 विद्यालय और समुदाय के मध्य सम्बन्धों के अभाव के कारण

विद्यालय एवं समुदाय के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध न होने का उत्तरदायित्व दोनों के ऊपर ही है। दोनों अर्थात् विद्यालय एवं समुदाय एक दूसरे के कार्यों में भाग न लेकर अपने-अपने क्षेत्र में ही कार्य करते हैं। उससे दोनों के बीच दूरियाँ बढ़ती जा रही हैं। इसी कारण विद्यालय तथा समुदाय दोनों ही व्यक्ति तथा समाज के विकास के लिए अपने कर्त्तव्यों का निर्वाह नहीं कर पा रहे हैं। संक्षेप में विद्यालय एवं समुदाय के बीच सम्बन्ध के अभाव के मुख्य कारण निम्नलिखित हैं- (क) विद्यालय सम्बन्धी कारण (ख) समुदाय सम्बन्धी कारण।

15.8.1 (क) विद्यालय सम्बन्धी कारण

विद्यालय एवं समुदाय के बीच सम्बन्ध के अभाव के लिए विद्यालय सम्बन्धी निम्न कारण बताये जा सकते हैं :-

(1) विद्यालयीय शिक्षा का कोई उद्देश्य नहीं है, इसलिए यह अपने कार्य में असफल हैं।

(2) विद्यालय समुदाय की आवश्यकताओं को पूरा करने में असमर्थ हैं।

(3) विद्यालय के शिक्षक भी अपने कर्त्तव्यों का पालन नहीं करते हैं।

(4) विद्यालय समुदाय की प्रगति में सहयोग नहीं करते हैं।

(5) समुदाय की समस्याओं का समाधान विद्यालय नहीं करते हैं।

(6) विद्यालय समुदाय में बेरोजगारों की संख्या बढ़ा रहा है।

(7) विद्यालय की बढ़ती हुई अनुशासन हीनता से समुदाय दूर रहना चाहता है।

(8) विद्यालय समुदाय के प्रति उदासीन हैं। इस कारण विद्यालय एवं समुदाय में घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं हो पा रहा है।

15.8.1 (ख) समुदाय सम्बन्धी कारण

विद्यालय एवं समुदाय के बीच सम्बन्ध के अभाव के लिए समुदाय सम्बन्धी निम्न कारण बताये जा सकते हैं :-

(1) समुदाय के अधिकांश सदस्य गरीब होते हैं, इस कारण उनसे विद्यालय हेतु आर्थिक सहायता की अपेक्षा करना बेकार है। जब समुदाय के सदस्य विद्यालय को आर्थिक रूप से मदद नहीं कर सकते तो विद्यालय समुदाय की आवश्यकताओं की पूर्ति कैसे करेगा।

(2) समुदाय के अधिकांश सदस्य आशिक्षित होते हैं, इस कारण उन्हें यह नहीं ज्ञान होता कि विद्यालय के क्या कार्य हैं? तथा विद्यालय द्वारा समुदाय का विकास किसा प्रकार हो सकता है? परिणामस्वरूप वे सभी विद्यालय को सरकारी संस्था मानकर उसके विकास में सहयोग नहीं करते हैं।

(3) अग्रेजों द्वारा विद्यालय एवं समुदाय के बीच दूरी उत्पन्न कर देने के कारण, समुदाय के सदस्य आज भी विद्यालय में जाने से हिचकिचाते हैं।

(4) समुदाय में जो कुछ लोग शिक्षित एवं धनवान हैं, वे समाज सेवा में रूचि नहीं लेते।

(5) किसी-किसी विद्यालय में नियमानुसार वे लोग विद्यालय की प्रबन्ध समिति के सदस्य नहीं हो सकते, जिनका सम्बन्धी विद्यालय में कर्मचारी है। इस स्थिति में वे लोग विद्यालय की सहायता करने की इच्छा रखते हुए नहीं कर सकते।

15.9 सामुदायिक केन्द्र के रूप में विद्यालय

समुदाय की परम्पराएं, मान्यताएं एवं संस्कृति, बालकों को स्वतः प्राप्त नहीं होती, बल्कि इन्हें सीखना पड़ता है। यदि बालक इन मान्यताओं, परम्पराओं एवं आदर्शों की शिक्षा

प्राप्त नहीं करेगा तो, वह इनसे अनभिज्ञ रह जायेगा। इसी कारण बालक को पुस्तकों, पुस्तकालयों, वाचनालयों एवं अन्य शैक्षिक अंगों के सम्पर्क में लाया जाता है। विद्यालयों का यह कर्त्तव्य होता है कि वह भावी पीढ़ी को समुदाय की मान्यताएं, परमपराएं एवं आदर्शों से परिचित कराये और समुदाय के विकास के लिए छात्रों को सामुदायिक पुनर्रचना का बोध कराये।

विद्यालय द्वारा यह कार्य तभी हो सकता है जब वह अपने कार्यों को बाह्य जीवन से सम्बन्ध स्थापित करे। अर्थात् विद्यालयों को अपने से बाद के जीवन से समुदाय के पर्यावरण से एवं सामुदायिक जीवन से प्रत्यक्ष रूप से सम्बन्धित होना चाहिए। इस कार्य को पूरा करने के लिए विद्यालय को स्वयं समुदाय का रूप धारण करना पड़ेगा, अर्थात् विद्यालय को सामुदायिक केन्द्र के रूप में विकसित होना चाहिए ताकि उसे देखकर समुदाय के विषय में जानकारी मिल सके। यह कार्य अर्थात् विद्यालय सामुदायिक केन्द्र के रूप में दो प्रकार से हो सकता है। (1) समुदाय विद्यालय के निकट जाये और (2) विद्यालय समुदाय के निकट जाये।

15.9.1 समुदाय को विद्यालय के निकट ले जाना-

विद्यालय को सामुदायिक केन्द्र के रूप में विकसित करने के लिए आवश्यक है कि समुदाय को विद्यालय के निकट ले जाया जाय। इस हेतु निम्नलिखित उपाय किये जाने चाहिए–

(1) समुदाय के जीवन आदर्श को शिक्षा के उद्देश्य के रूप में स्वीकार करके उसे प्राप्त करने के ठोस कदम उठाने चाहिए।

(2) समुदाय की समस्याओं को अपनी समस्याएं समझकर इनके समाधान में सक्रिय रूप से भाग लेना चाहिए।

(3) बालकों को समुदाय की सांस्कृति विरासत से परिचित कराना चाहिए अर्थात् समुदाय की आदर्शों मान्यताओं एवं परम्पराओं का व्यावहारिक ज्ञान बालक को देनी चाहिए।

(4) विद्यालयों में विभिन्न धार्मिक उत्सवों, राष्ट्रीय पर्वों, शैक्षिक प्रदर्शनियों, सास्कृतिक कायक्रमों तथा मेलों आदि का आयोजन करना चाहिए और इसमें सम्मिलित होने के लिए समुदाय के अधिक से अधिक लोगों को आमन्त्रित करना चाहिए।

(5) विद्यालयों को समुदाय के लिए फिल्म प्रदर्शन, प्रदर्शनियाँ तथा प्रसिद्ध व्यक्तियों के भाषण का आयोजन करना चाहिए।

(6) विद्यालय को अपने संगठन एवं प्रबन्धन समिति से समुदाय के प्रमुख लोगों को सदस्य बनाना चाहिए।

(7) शिक्षक अभिभावक संघ की स्थापना करनी चाहिए।

(8) प्रौढ़ शिक्षा की व्यवस्था करके समुदाय की निरक्षरता दूर करनी चाहिए।

(9) विद्यालय की कार्य प्रणाली के सम्बन्ध में समुदाय को सदस्यों से राय लेनी चाहिए।

(10) स्थानीय उत्सवों एवं त्योहारों को विद्यालय में मनाना चाहिए।

15.9.2 विद्यालय को समुदाय के निकट ले जाना

विद्यालय को सामुदायिक केन्द्र के रूप में विकसित करने के लिए सिर्फ समुदाय को विद्यालय के निकट ले जाना ही काफी नहीं है, बल्कि विद्यालय को समुदाय के निकट लाना भी आवश्यक है। विद्यालय को समुदाय के निकट लाने हेतु निम्नलिखित उपाय किये जाने चाहिएः

(1) विद्यालय के बालकों तथा शिक्षकों को समुदाय, द्वारा समय समय पर आयोजित सांस्कृतिक, धार्मिक एवं सामाजिक मेलों, उत्सवों तथा त्योहारों आदि में सक्रिय रूप से भाग लेना चाहिए।

(2) समुदाय द्वारा आयोजित परिसंवाद, गोष्ठियों और सेमिनारों में विद्यालय के शिक्षकों एवं छात्रों को भाग लेना चाहिए।

(3) विद्यालयों में समाज सेवा संघ की स्थापना करनी चाहिए और उसके माध्यम से समुदाय की सेवा के लिए तत्पर रहना चाहिए।

(4) विद्यालय को समय-समय पर सामाजिक सर्वेक्षण की बिभिन्न योजनाएं बनानी चाहिए और बालकों को समुदाय के विभिन्न क्षेत्रों के सर्वेक्षण दायित्व सौंप देना चाहिए।

(5) बालकों को शिक्षा प्रदान करने के साथ-साथ आशिक्षित प्रौढ़ों को भी शिक्षित करने के लिए प्रौढ़ एवं सामाजिक शिक्षा की व्यवस्था करनी चाहिए।

(6) विद्यालय को समय-समय पर समुदाय के प्रसिद्ध नेताओं, कुशल व्यावसायियों एवं समाज सुधारकों द्वारा महत्वपूर्ण सामाजिक विषयों पर भाषण कराने चाहिए।

(7) विद्यालय को अभिभावकों से घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करना चाहिए।

(8) विद्यालय को सफाई-सप्ताह, श्रमदान सप्ताह एवं ग्रामोद्धार आदि का आयोजन करना चाहिए।

(9) समुदाय की रात्रि पाठशाला अथवा प्रौढ़ कक्षाओं में सक्रिय रूचि रखनी चाहिए और आवश्यक पड़ने पर उनमें कार्य करना चाहिए।

(10) समुदाय द्वारा आयोजित मेलों एवं उत्सवों में विद्यालय को स्वयंसेवक की भूमिका निभाना चाहिए।

इस प्रकार समुदाय को विद्यालय के निकट लाने के लिए यह आवश्यक है कि विद्यालय समुदाय के लिए वाचनालय, पुस्तकालय एवं रात्रिपाठशाला खोले तथा समुदाय की स्त्रियों एवं प्रौढ़ों के लिए शिक्षा एवं मनोरंजन की उचित व्यवस्था करें और समुदाय को सदस्यों को इनका लाभ उठाने का अवसर प्रदान करना चाहिए। दूसरे शब्दों में जहाँ विद्यालय दिन में बालकों को शिक्षा प्रदान करें, वहाँ संध्या के समय उक्त कार्यक्रमों की उचित व्यवस्था करें तथा समुदाय के सदस्यों को हर प्रकार की सुविधाएँ पहुँचाये। इन सभी कार्यक्रमों को पूरा करने से विद्यालय सच्चे अर्थो में सामुदायिक केन्द्र बन जायेगा तथा उसकी उन्नति के

लिए समुदाय का प्रत्येक व्यक्ति, सहर्ष सहयोग प्रदान करने के लिए, हर समय तैयार रहेगा।

बोध प्रश्न -

टिप्पणी - (क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिये गये स्थान का प्रयोग कीजिए।

(ख) अपने उत्तरों को इकाई के अन्त में दिए गये उत्तर से मिलान कीजिए।

5- सामुदायिक केन्द्र के रूप में विद्यालय को कैसे विकसित किया जा सकता है?

....

....

....

6- भारतीय समुदाय को विद्यालय के निकट ले जाने के तीन उपाय बनाइये।

(क)..

(ख)..

(ग) ....

7- भारतीय विद्यालयों को समुदाय के निकट ले जाने के तीन उपाय बताइये।

(क)..

(ख)..

(ग) ....

15.10 स्थानीय साधनों का उपयोग

स्थानीय साधनों से आशय उन सभी वस्तुओं, स्थानों तथा समस्याओं और सामाजिक क्रियाकलापों से है जिनके द्वारा छात्र स्थानीय समुदाय के वास्तविक जीवन के विषय से ज्ञान प्राप्त करता है। चूंकि इन साधनों का शैक्षिक मूल्य होता है, इसलिए प्रत्येक शिक्षक को इन साधनों की जानकारी एवं प्रयोग करने की विधि की जानकारी आवश्यक होती है। मआत (Moatt) ने कहा है कि 'प्रत्येक समुदाय अपने साधनों के सम्बन्ध में अनूठा स्थान रखता है। हमको इसके अजायबघरों, पुस्तकालयों, आर्ट गैलरियों, तीर्थ स्थानों, यातायात के साधनों, मनोरंजन व्यापार, उद्योग, कृषि तथा विज्ञान के प्रयोगात्मक स्थलों आदि को उपयोग में लाने का प्रयास करना चाहिए।'

प्रमुख स्थानीय साधन निम्नलिखित है-

15.10.1 ऐतिहासिक स्थान एवं भवन-

स्थानीय इतिहास किसी न किसी रूप से राष्ट्रीय इतिहास को प्रभावित करता है। इसलिए यदि किसी विद्यालय के आस-पास ऐतिहासिक भवन, वस्तु या खण्डहर हो, तो उसे छात्रों को अवश्य दिखाया जाना चाहिए। इस छात्रों को पता चलेगा कि उनके स्थानीय क्षेत्र ने राष्ट्रीय इतिहास के विकास में क्या योग दिया है।

15.10.2 संग्रहालय

संग्रहालय वह स्थान है,जहाँ विभिन्न युगों की कलाओं एवं शिल्पों के नमूने, हथियार, आदि वस्तुएं संग्रहीत होती है। इन वस्तुओं के अवलोकन से छात्र को विभिन्न युगों के समाज के विभिन्न पक्षों का ज्ञान सरलतापूर्वक हो जाता है। यदि विद्यालय के निकट ऐसा कोई संग्रहालय हो तो शिक्षक को वहाँ अपने छात्रों को अवश्य ले जाना चाहिए, जिससे छात्र अपने राष्ट्र की कलाकृतियों के दर्शन कर सके एवं उनमें राष्ट्रीय गौरव की भावना भी जन्म ले सके।

15.10.3 भौगोलिक एवं प्राकृतिक वातावरण-

विद्यालय पर उसके चारों ओर के भौगोलिक और प्राकृतिक वातावरण का गहरा प्रभाव पड़ता है। शिक्षकों को चाहिए कि वे आस-पास के भौगोलिक एवं प्राकृतिक क्षेत्रों को छात्रों को दिखायें (जैसे तालाब, झील, नदी तथा पर्वत आदि) वे छात्रों के इस प्रकार की यात्राओं पर ले जा सकते हैं, जिससे वे अपने प्राकृतिक वातावरण का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त कर सके और यह विचार कर सके कि इस वातावरण का उनके समुदाय के हित में कैसे सर्वोत्तम उपयोग किया जा सकता है।

15.10.4 सामाजिक संस्थाएँ

सामाजिक संस्थाओं के अन्तर्गत परिवार, विवाह सम्पत्ति, रीति रिवाज, परम्पराएं आदि आते हैं, अर्थात् सामाजिक संस्थाओं के अन्तर्गत वे संस्थाएं आती हैं, जो समाज के ढाँचे के निर्माण में सहायक होती है। शिक्षक को इन संस्थाओं का व्यावहारिक ज्ञान प्रदान करने हेतु छात्रों को समुदाय में ले जाना चाहिए।

15.10.5 प्रशासकीय संस्थाएं

ये वे संस्थाएं हैं जिनके द्वारा स्थानीय शासन सम्बन्धी कार्य किये जाते हैं, जैसे ग्राम पंचायत नगरपालिका, नगर महापालिका, जिला परिषद् एवं पुलिस विभाग आदि। शिक्षक को चाहिए कि वह छात्रों को इन संस्थाओं की व्यावहारिक कार्य प्रणाली का ज्ञान देने के लिए उनके कार्य स्थल पर ले जाये।

15.10.6 लोक-सेवा संस्थाएं

जनता की सेवा में संलग्न रहने वाली संख्याओं को लोक-सेवाएं या सार्वजनिक संस्थाएं कहते हैं। ये संस्थाएं हैं-अस्पताल, बैंक, पोस्ट आफिस, टेलीग्राफ, जल एवं विद्युत विभाग आदि। शिक्षक को चाहिए कि छात्रों को इन संस्थाओं के कार्य स्थलों पर ले जाकर उन्हें व्यवहारिक एवं वास्तविक ज्ञान प्रदान करें।

15.10.7 औद्योगिक केन्द्र

प्रत्येक समुदाय के कुछ विशिष्ट स्थानीय उद्योग होते हैं। शिक्षक को चाहिए कि वह

छात्रों को स्थानीय समुदाय के कुटीर उद्योगों तथा अन्य बड़े औद्योगिक केन्द्रों को दिखाये, जिससे छात्र न केवल समुदाय की आर्थिक व्यवस्था से परिचित हो सकेंगे बल्कि किसी वातावरण अथवा स्थानीय कला कौशल में उनकी रूचि भी जाग्रत हो सके।

बोध प्रश्न -

टिप्पणी - (क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिये गये स्थान का प्रयोग कीजिए।

(ख) अपने उत्तरों को इकाई के अन्त में दिए गये उत्तर से मिलान कीजिए।

8- स्थानीय साधन किसे कहते हैं ?

....

....

9- किन्ही तीन महत्वपूर्ण स्थानीय साधनों के नाम बताइये।

....

....

15.11 विद्यालय का सामूहिक जीवन

बालक जन्म के समय असहाय तथा सामाजिक ज्ञान से अनभिज्ञ होता है। उसका न कोई मित्र होता है और न कोई शत्रु। परन्तु जैसे-जैसे वह बड़ा होकर विद्यालय जाने लगता है, उसमें सामाजिकता का विकास होने लगता है। विद्यालयों का यही उद्देश्य भी होता है कि वह बालक को समाज की परम्पराओं, रीति रिवाजों एवं आदर्शों से परिचित कराकर उसका समाजीकरण करे। समाजीकरण का अर्थ है बालक में प्रेम, बन्धुत्व एवं सहयोग की भावना विकसित करना। इन गुणों का अधिकाधिक विकास हो, इसके लिए आवश्यक है कि विद्यालय का जीवन सामूहिक हो, अर्थात् समाज की भाँति विद्यालय से भी। शिक्षक, छात्र, अधिकारी एवं कर्मचारी सहयोगी जीवन व्यतीत करें। विद्यालय में सामूहिक जीवन विकसित करने के लिए निम्न उपाय किये जाने चाहिए-

1- विद्यालय में सामूहिक जीवन का आदर्श प्रस्तुत करने के लिए आवश्यक है कि शिक्षकों के मध्य आपस में, शिक्षकों एवं प्रधानाचार्य के मध्य सहयोग एंव मैत्री के सम्बन्ध होने चाहिए।

2- शिक्षकों एवं छात्रों के बीच सहयोग की भावना उत्पन्न की जानी चाहिए।

3- छात्रों में परस्पर सहयोग की भावना विकसित करना जिससे कि वे आपस में विवाद न करें।

4- छात्रों में संघ भावना का विकास करने के लिए विद्यालयों में छात्र संघ की स्थापना की जानी चाहिए।

5- विद्यालय सभा का आयोजन किया जाना चाहिए, जिससे सभी छात्र, शिक्षक एवं प्रधानाचार्य सम्मिलित हों। विद्यालय सभा में प्रारम्भ में प्रार्थना, फिर प्रबन्धन,

समाचार एवं विचार आदि के कार्यक्रम रखा जाना चाहिए।

6- विद्यालय में भवन प्रणाली विकसित किया जाना चाहिए। और विद्यालय के सम्पूर्ण कक्षाओं एवं विभागों को नेहरू भवन, शास्त्री भवन, टैगोर भवन आदि में विभक्त करके उनके द्वारा विभिन्न कार्यक्रमों का आयोजन किया जाना चाहिए।

7- विद्यालय में सामूहिकता के विकास के लिए विभिन्न कार्यक्रमों एवं योजनाओं जैसे स्वच्छता सप्ताह,साक्षरता सप्ताह श्रमदान सप्ताह,सामाजिक शिक्षा कार्यक्रम,सांस्कृतिक कार्यक्रम का आयोजन करके शिक्षकों एवं छात्रों को मिलजुल कर कार्य करने हेतु प्रेरित करना चाहिए।

8- प्रत्येक विद्यालय को अपना झण्डा,यूनीफार्म,आदर्श वाक्य,गीत,एवं विशिष्ट चिह्न निश्चित कर देना चाहिए।

9- प्रत्येक विद्यालय को समय-समय पर खेल एवं विभिन्न प्रकार की प्रतियोगिताओं का आयोजन करना चाहिए।

10- विद्यालय के अधिकारियों एवं शिक्षकों को विद्यालय में सामान्य वातावरण एवं स्वस्थ परम्पराएं विकसित करनी चाहिए जिससे बालकों में स्वस्थ सामाजिक जीवन का विकास हो सके।

11- विद्यालय को अपनी परिस्थिति के अनुसार समय-समय पर मेले, ड्रामे, गोष्ठियों एवं उत्सवों को मानना चाहिए।

बोध प्रश्न -

टिप्पणी - (क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिये गये स्थान का प्रयोग कीजिए।

(ख) अपने उत्तरों को इकाई के अन्त में दिए गये उत्तर से मिलान कीजिए।

10- सामूहिक जीवन का क्या अर्थ है

....

....

11- विद्यालयों में सामूहिक जीवन विकसित करने के उपाय बताइये

(क) ....

(ख) ....

(ग) ....

15.12 सारांश

इस इकाई में विद्यालय एवं समुदाय के आपसी सम्बन्धों को स्पष्ट किया गया है। समुदाय पर विद्यालय के प्रभाव के साथ-साथ विद्यालयों पर समुदाय के पड़ने वाले प्रभाव की व्याख्या की गई है। इसके बाद सामुदायिक केन्द्र के रूप में विद्यालय को मानकर वर्णन किया गया है और बताया गया कि विद्यालय को सामुदायिक केन्द्र कैसे बनाया जा सकता है। इसी इकाई में स्थानीय साधनों का उपयोग किस प्रकार किया जाय इस बात को स्पष्ट

किया गया है। अंत में इस इकाई में विद्यालय के सामूहिक जीवन का वर्णन एवं विश्लेषण किया गया है। इस प्रकार इस इकाई से स्पष्ट होता है कि विद्यालय एवं समुदाय दोनों में घनिष्ठ सम्बन्ध होता है और दोनों एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। इसीलिए विद्यालय को सामुदायिक केन्द्र के रूप में जाना जाता है।

15.13 अभ्यास कार्य

1- विद्यालय और समुदाय के घनिष्ठ सम्बन्ध को स्पष्ट कीजिए।

2- विद्यालय पर समुदाय का और समुदाय पर विद्यालय के प्रभाव की विवेचना अपने अनुभवों के आधार पर कीजिए।

3- विद्यालय को सामुदायिक केन्द्र के रूप में कैसे विकसित किया जा सकता है स्पष्ट कीजिए।

4- क्या आप यह महसूस करते हैं कि विद्यालयों, को स्थानीय साधनों का उपयोग करना चाहिए? यदि हाँ तो, क्यों और यदि नहीं तो क्यों नहीं?

5- अपने अनुभवों के आधार पर बताइये कि विद्यालयों में सामूहिक जीवन की विकसित किया जा सकता है।

15.14 बोध प्रश्नों के उत्तर

1- अपनी राजनीतिक, आर्थिक एवं सामाजिक आवश्यकताओं एवं आदर्शों की पूर्ति के लिए।

2- विद्यालय द्वारा अपने साधन समुदाय के प्रयोग के लिए तथा समुदाय द्वारा अपने साधन विद्यालयं के विभिन्न कार्यक्रमों के आयोजन के लिए उपलब्ध कराकर।

3-(क) समुदाय के आदर्शों एवं परम्पराओं का प्रभाव

(ख) समुदाय के आर्थिक स्थिति का प्रभाव

(ग) समुदाय के राजनीतिक स्वरूप का प्रभाव

4-(क) समुदाय की संस्कृति पर प्रभाव

(ख) समुदाय की समस्याओं पर प्रभाव

(ग) समुदाय की व्यावसायिक एवं औद्योगिक प्रगति पर प्रभाव

(घ) सामुदायिक परिवर्तन पर प्रभाव

5-(क) समुदाय विद्यालय के निकट जाये

(ख) विद्यालय समुदाय के निकट जाये

6-(क) समुदाय के जीवन आदर्श को शिक्षा उद्देश्य के रूप में स्वीकार करना।

(ख) समुदाय की समस्या को विद्यालय की समस्या मानना।

(ग) स्थानीय उत्सवों एवं त्योहारों को विद्यालयों में मनाना।

7-(क) समुदाय द्वारा आयोजित परिसंवाद, गोष्ठीयों एवं सेमिनारों में विद्यालय के छात्रों एवं शिक्षकों का भाग लेना।

(ख) विद्यालयों में समाज सेवा संघ की स्थापना करना।

(ग) समुदाय द्वारा आयोजित मेलों एवं उत्सवों में विद्यालयों द्वारा स्वयंसेवक की भूमिका निभाना।

8-(क) जिन वस्तुओं, स्थानों, संस्थाओं तथा सामाजिक कार्यों से बालक वास्तविक जीवन की शिक्षा प्राप्त करें और वे स्थान विशेष से सम्बन्धित हो, उन्हें स्थानीय साधन कहते हैं।

9-(क) ऐतिहासिक स्थान एवं भवन

(ख) संग्रहालय

(ग) लोक सेवा संस्थाएं

10- सामूहिक जीवन का तात्पर्य अधिकारियों, शिक्षकों तथा बालकों के आपसी सहयोग एवं एक-दूसरे के साथ मिल जुलकर रहने की भावना से है।

11-(क) शिक्षकों के मध्य तथा शिक्षकों एवं प्रधानाचार्य के मध्य सहयोग एवं मैत्री की भावना।

(ख)शिक्षकों एवं छात्रों के मध्य सहयोग एवं मैत्री भावना।

(ग) छात्रों में संघ एवं भावना का विकास करना।

इकाई -16 : शिक्षा और सामाजिक परिवर्तन

संरचना

16.1 प्रस्तावना

16.2 उद्देश्य

16.3 सामाजिक परिवर्तन का अर्थ

16.4 सामाजिक परिवर्तन की विशेषताएँ

16.5 सामाजिक परिवर्तन के कारण

16.6 सामाजिक परिवर्तन एवं आधुनिकीकरण

16.7 सामाजिक परिवर्तन एवं नगरीकरण

16.8 सामाजिक परिवर्तन के लिए शिक्षा

16.8.1 शाश्वत मूल्यों का संरक्षण

16.8.2 परिवर्तन ग्रहण-कराने में सहायक

16.8.3 परिवर्तनों की समीक्षा

16.8.4 नवीन परिवर्तनों के उदय में सहायक

16.8.5 संस्कृति का हस्तान्तरण

16.8.6 सामाजिक परिवर्तनों की शिक्षा

16.8.7 सामाजिक परिवर्तन का नेतृत्व

16.9 सामाजिक परिवर्तन के बाधक तत्व

16.10 शिक्षक सामाजिक परिवर्तन के प्रतिनिधि के रूप में

16.11 सामजिक परिवर्तन में शिक्षक की भूमिका

15.12 सागंश

15.13 अभ्यास कार्य

15.14 बोध प्रश्नों के उत्तर

16.1 प्रस्तावना

परिवर्तन प्रकृति का नियम है। परिवर्तन का तात्पर्य पहले की स्थिति अथवा रहने-सहने के ढंग से भिन्नता या हेर-फेर से है। प्रकृति की भाँति समाज में परिवर्तन होता रहता है। चूंकि समाज एक गतिशील संस्था है, इसलिए उसमें परिवर्तन होना स्वाभाविक है। समाज की परम्पराओं,विचारधाराओं,रीति-रिवाज,फैशन, रहन-सहन के ढंग, तौर-तरीके एवं व्यक्तियों से पारम्परिक सम्बन्धों में परिवर्तन होता रहता है।

यदि हम भारत के प्राचीन,मध्यकालीन तथा आधुनिक समाज की तुलना करें तो स्पष्ट परिवर्तन दिखलाई पड़ता है। वर्तमान काल में औद्योगिक क्रान्ति, हरित क्रान्ति,

नगरीकरण, नई मशीनों के आविष्कार, यातायात एवं संदेश वाहन की सुविधाओं के कारण जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में यह परिवर्तन दिखाई देता है। स्पष्ट है कि समाज में सदैव, परिवर्तन होता रहता है। इस इकाई में सामाजिक परिवर्तन एवं आधुनिककरण तथा सामाजिक परिवर्तन एवं नगरीकरण के विषय में जानकारी दी गई है। इस इकाई में सामाजिक परिवर्तन के प्रतिनिधि के रूप में शिक्षक एवं सामाजिक परिवर्तन में शिक्षक की भूमिका के विषय में भी बताया गया है।

16.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप इस योग्य हो जायेंगे कि -

- सामाजिक परिवर्तन एवं उसकी विशेषताएं बता सकेंगे।
- आधुनिकीकरण एवं उसके लक्ष्यों को बता सकेंगे।
- नगरीकरण एवं उसके प्रभावों की विवेचना कर सकेंगे।
- सामाजिक परिवर्तन लाने में शिक्षा के कार्यों की व्याख्या कर सकेंगे।
- सामाजिक परिवर्तन के प्रतिनिधि के रूप में शिक्षक के कार्यों की विवेचना कर सकेंगे।
- सामाजिक परिवर्तन के सम्बन्ध में शिक्षक की भूमिका को स्पष्ट कर सकेंगे।

16.3 सामाजिक परिवर्तन का अर्थ

प्रत्येक समाज की अपनी एक संरचना होती है, अपने व्यवहार प्रतिमान होते हैं और सामाजिक कार्यों को सम्पादित करने की विधियाँ होती है। समाज की इस संरचना, व्यवहार प्रतिमानों तथा कार्य विधियों में सदैव परिवर्तन होता रहता है। यह बात दूसरी है कि कुछ समाजों में यह परिवर्तन मन्दगति से होता है, कुछ में सामान्य गति से और कुछ में तीव्र गति से। इसी प्रक्रिया को समाजशास्त्रीय भाषाा में सामाजिक परिवर्तन कहते हैं। गिलिन एवं गिलिन के शब्दों में-'सामाजिक परिवर्तन को हम जीवन की स्वीकृत रीतियों में होने वाले परिवर्तन के रूप में परिभाषित कर सकते हैं।

डेविस के अनुसार – 'सामाजिक परिवर्तन से केवल वे ही परिवर्तन समझे जाते हैं, जो सामाजिक संगठन अर्थात् समाज के ढाँचे तथा कार्यों में घटित होते हैं।

मैकाइवर एवं पेज के अनुसार- समाजशास्त्री के रूप में हमारा प्रत्यक्ष सम्बन्ध केवल सामाजिक सम्बन्धों से होता है, इस दृष्टि से हम केवल-सामाजिक सम्बन्धों में होने वाले परिवर्तन को ही सामाजिक परिवर्तन मानेंगे।

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर सामाजिक परिवर्तन की निम्न विशेषताएँ बताई जा सकती हैं-

1- किसी समाज की संरचना एवं उसके कार्यों में परिवर्तन को सामाजिक परिवर्तन माना जाता है।

2- समाज में अधिकांश व्यक्तियों द्वारा अपने जीवन व्यवहार एवं विश्वासों में परिवर्तन स्वीकार किये जाने पर ही सामाजिक परिवर्तन माना जाता है।

3- सामाजिक परिवर्तन सार्वत्रिक माना जाता है।

4- सामाजिक परिविर्तन समय सापेक्ष होती है तथा इसकी गति समयानुसार बहुत धीमी या तीव्र मानी जाती है।

कुछ विद्वानों ने सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया को निम्न प्रकार बताया है-

व्यक्तियों के अनुभवों में परिवर्तन
↓
व्यक्तियों की अभिवृत्तियों में परिवर्तन
↓
व्यक्तियों के विचारों में परिवर्तन
↓
सामाजिक अन्तः क्रिया में परिवर्तन
↓
सामाजिक सम्बन्धों में परिवर्तन
↓
सामाजिक संरचना में परिवर्तन
↓
सामाजिक परिवर्तन

16.4 सामाजिक परिवर्तन की विशेषताएँ

सामाजिक परिवर्तन की निम्नलिखित विशेषताएं बताई जा सकती हैं :

(1) सार्वभौमिक प्रक्रिया - सामाजिक परिवर्तन एक सार्वभौमिक प्रक्रिया है। विश्व का ऐसा कोई समाज नहीं, जहाँ परिवर्तन न होते हों। प्रत्येक समाज में कुछ न कुछ परिवर्तन निरन्तर होता रहता है। इसी प्रक्रिया में ही सामाजिक जीवन का अस्तित्व कायम रहता है।

(2) समष्टिगत रूप - सामाजिक परिवर्तन की दूसरी मुख्य विशेषता इसका समष्टिगत रूप है। यदि समाज के कुछ लोगों की जीवन विधि में परिवर्तन हो तो उसे सामाजिक परिवर्तन नहीं कहा जायेगा। सामाजिक परिवर्तन के लिए समाज का समष्टिगत रूप आवश्यक होता है। क्योंकि सम्पूर्ण समाज में होने वाले परिवर्तन को ही सामाजिक परिवर्तन कहा जाता है।

(3) असमानगति - किसी समाज में सामाजिक परिवर्तन तीव्र गति से होता है तो किसी समाज में मन्द गति से। रूढ़ियों एवं परम्पराओं के कारण भारत में सामाजिक परिवर्तन उतनी तीव्र गति से नहीं हो पाता, जितनी तेजी से अन्य समाजों में। इसकी गति भिन्न-भिन्न समाजों में भिन्न-भिन्न होती है।

(4) अनिश्चितता- सामाजिक परिवर्तन अनिश्चित होता है अर्थात् सामाजिक

परिवर्तन कब कैसे किया क्षेत्र में होगा यह निश्चित नहीं रहता। कभी-कभी जब ज्ञात कारकों से सामाजिक परिवर्तन होता है तो उसका परिणाम एवं दिशा का आभास हो सकता, परन्तु अब अज्ञात कारकों से सामाजिक परिवर्तन होता है तो उसकी दिशा का मूल्यांकन करना बहुत कठिन होता है।

(5) अवश्यम्भावी एवं स्वाभाविक - सामाजिक परिवर्तन की एक अन्य विशेषता है कि यह आवश्यम्भावी एवं स्वाभाविक घटना है। परिवर्तन प्रकृति का नियम है। इसलिए प्रकृति का अंग होने के कारण समाज में भी परिवर्तन होना स्वाभाविक है। कई बार लोग सामाजिक परिवर्तन में अनिच्छा प्रकट कर उसका विरोध करते हैं, लेकिन परिवर्तन को रोक नहीं पाते, क्योंकि व्यक्ति की आवश्यकताओं, इच्छाओं एवं परिस्थितियों में जब परिवर्तन होते है तब समाज में भी परिवर्तन हो जाता है।

(6) क्रमबद्ध शृंखला-कोई भी सामाजिक परिवर्तन अकस्मात नहीं होता, बल्कि उसके पीछे कोई न कोई परिप्रेक्ष्य होता है। वास्तव में सामाजिक परिवर्तन निरन्तर चलने वाली प्रक्रिया है, जिसमें परिवर्तन एक क्रमबद्ध शृखलानुसार होता है।

(7) भविष्यवाणी करना कठिन-सामाजिक परिवर्तन के सम्बन्ध में भविष्यवाणी करना कठिन है, क्योंकि सामाजिक परिवर्तन के कारकों का एक साथ और एक समाज में अध्ययन नहीं हो पाता है। अध्ययन करते समय भी समाज बदलता रहता है और जब तक किसी सामाजिक परिवर्तन की संभावना प्रकट की जाती है, तब तक अनुमान का आधार ही बदल जाता है। इसलिए सामाजिक परिवर्तन के सम्बन्ध में भविष्यवाणी नहीं की जा सकती है।

16.5 सामाजिक परिवर्तन के कारण

सामाजिक परिवर्तन के निम्नलिखित कारण बताये जा सकते हैं-

(1) मनोवैज्ञानिक कारण - व्यक्ति की प्रकृति परिवर्तनशील होने के कारण प्रत्येक व्यक्ति परिवर्तन चाहता है, व्यक्तियों में परिवर्तन की इस इच्छा से सामाजिक परिवर्तन होता है। सामाज के क्रियाकलापों से व्यक्ति में चेतना एवं जागरुकता भी आती है।

(2) भौगोलिक कारण - प्रकृति (सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी, समुद्र, जलवायु, पहाड़ और नदियों में आये दिन परिवर्तन होते रहते हैं। प्रकृति मनुष्य समाज में सम्बन्धित होता है, इसलिए जब प्रकृति में कोई परिवर्तन होता है। जो मनुष्य समाज में भी परिवर्तन कर देता है।

(3) व्यक्तित्व- यद्यपि कोई एक व्यक्ति सामाजिक परिवर्तन नहीं कर सकता, फिर भी किसी व्यक्ति का व्यक्तित्व इतना प्रभावशाली होता है कि उनकी इच्छानुसार समाज अपनी जीवन विधि में परिवर्तन कर लेता है । अर्थात् प्रभावशाली व्यक्तित्व द्वारा भी सामाजिक परिवर्तन होता है।

(4) जीव विज्ञानी कारण - व्यक्ति के ऊपर उसके वंशानुक्रम का प्रभाव पड़ता है। एक पीढ़ी जैसा करती है, दूसरी पीढ़ी बिल्कुल वैसी ही नहीं रहती। हर नया जीवन माता

पिता के दोहरे प्रभाव से निर्मित होता है। इसलिए भी सामाजिक परिवर्तन होता है।

(5) जनसंख्यातामक कारण- जनसंख्यात्मक कारण से भी सामाजिक परिवर्तन होता है। जनसंख्या का घटना बढ़ना, जनसंख्या वितरण एवं घनत्व, सामाजिक परिवर्तन को प्रभावित करता है। व्यक्ति की संख्या में परिवर्तन होना स्वयं एक सामाजिक परिवर्तन है।

(6) आर्थिक कारण- कुछ विचारकों ने सामाजिक परिवर्तन का आधार आर्थिक व्यवस्था को माना है। किसी समाज का आर्थिक संगठन उसके सामाजिक संगठन को प्रभावित करता है और जब आर्थिक संगठन में परिवर्तन होता है, तब सामाजिक सम्बन्धों में परिवर्तन हो जाता है यही परिवर्तन सामाजिक परिवर्तन कहलाता है।

(7) सांस्कृतिक कारण- व्यक्तियों के विचार एवं मूल्य उसके सम्बन्धों एवं क्रियाओं को प्रभावित करता है और इन सम्बन्धों में परिवर्तन होने से सामाजिक संरचना में परिवर्तन हो जाता है। संस्कृति के किसी भी अंग में परिवर्तन हो जाने पर सामाजिक संगठन में परिवर्तन होने लगता है और इस परिवर्तन से सामाजिक परिवर्तन होता है।

(8) राजनैतिक कारण- मानव समाज का इतिहास अत्यधिक मात्रा में राजनैतिक उथल पुथल का परिणाम होता है। इसी कारण समाज में हुए या होने वाले सामाजिक परिवर्तन अधिकत्तर राजनैतिक कारणों से होते हैं। किसी समाज में सामाजिक परिवर्तन होने से पूर्व राजनैतिक परिवर्तन दिखाई देता है।

(9) तकनीकी कारण- किसी समाज की आर्थिक व्यवस्था इसके तकनीकी विकास पर निर्भर करती है। इसी कारण जब तकनीकी में परिवर्तन होता है, तब आर्थिक व्यवस्था में भी परिवर्तन होता है। अतः तकनीकी परिवर्तन को सामाजिक परिवर्तन का आधार माना जाता है।

(10) स्त्रियों की स्थिति में परिवर्तन- पुरूषों की भाँति स्त्रियाँ भी समाज की अभिन्न अंग होती हैं। स्त्रियों की स्थिति में परिवर्तन होने से समाज में विभिन्न प्रकार के परिवर्तन हुए हैं स्त्रियों को पुरूषों की भाँति, समानता का अधिकार मिलने से समाज में विभिन्न परिवर्तन दिखाई देता है।

बोध प्रश्न -

टिप्पणी - (क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिये गये स्थान का प्रयोग कीजिए।

(ख) अपने उत्तरों को इकाई के अन्त में दिए गये उत्तर से मिलान कीजिए।

1- सामाजिक परिवर्तन किसे कहते हैं?

....

....

2- सामाजिक परिवर्तन की दो विशेषताएँ बताइए।

(क) ....

(ख) ....

16.6 सामाजिक परिवर्तन एवं आधुनिकीकरण

आधुनिकीकरण के सम्बन्ध में मूर ने कहा है कि 'यह क्रान्तिकारी परिवर्तन है, जो पारम्परिक अथवा आधुनिकता पूर्व समाज को ऐसे रूपान्तर की ओर ले जाता है, जो कि इस प्रकार की तकनीकी और इससे सम्बन्धित सामाजिक संगठन को अपनाने की ओर से होता है, जो कि प्रगति, आर्थिक रूप से सम्पन्न तथा सापेक्षिक रूप से राजनैतिक पक्ष से स्थायित्व प्राप्त पश्चिमी संसार के राष्ट्रों की विशेषताएं होती हैं।

आधुनिकीकरण न केवल एक राष्ट्र की भौतिक संस्कृति के परिवर्तन को शामिल करना है, बल्कि उसमें निहित भी होता है। परिवर्तन इसकी विश्वास प्रणाली में, मूल्यों में और सम्पूर्ण जीवन के प्रकारों में होता है। वास्तव में आधुनिकीकरण ऐसी प्रक्रिया है, जो सामाजिक संरचना में, मूल्यों की उन्मखता में तथा अनुप्रेरणाओं एवं प्रमापों में वांछित परिवर्तन करती है, जो कि इसको पिछड़ेपन से प्रगतिशीलता की ओर ले जाती है।

आधुनिकीकरण का तात्पर्य शारीरिक, मानसिक एवं सामाजिक गतिशीलता से है। शारीरिक गतिशीलता का तात्पर्य अपनी जन्मभूमि से हटकर लाभदायक स्थान पर जाने से हैं। मानसिक गतिशीलता का तात्पर्य समस्याओं के प्रति भावनात्मक मार्ग से हटकर तार्किक मार्ग पर जाने से है। अर्थात् स्त्रियों की स्थिति, जीवन साथी का चयन, परिवार नियोजन अन्तर्जातीय विवाह आदि विचारणीय विषयों के सम्बन्ध में नवीन अपनाने से है। सामाजिक गतिशीलता का तात्पर्य जाति एवं अन्य समहों द्वारा प्रस्तुत बाधाओं को पार करने से है।

आधुनिकीकरण की निम्न विशेषताएँ बताई जा सकती हैं-दूसरों की भावाओं में प्रवेश, गतिशील उच्च परिमाप का विभाजन, रूचि का स्पष्टीकरण एवं वृद्धिकरण, संस्थागत राजनीतिक स्पर्धा, सम्प्राप्ति की प्राचीनता, परिवर्तन की वांछनीयता और सम्भावना में विश्वास, सम्पत्ति के प्रति नया दृष्टिकोण, सरक्षा संकट का सामना तथा उच्च स्तरीय और व्यापक सन्तुष्टि के लिए तात्कालिक और संकुचित सन्तुष्टि का त्याग करना। प्रो0 एस0 सी0 दूबे ने आधुनिकीकरण की विशेषता निम्न शब्दों में बताया है-

— पारम्परिक सम्बन्धों में परिवर्तन

— व्यक्तित्व का प्रकाशन

— मूल्यों एवं अभिप्रेरणों में परिवर्तन

— संस्थागत व्यवस्थाओं की पुनर्रचना

— प्रत्येक स्तर का विश्लेषण

— एक दूसरे को प्रभावित एवं उत्तेजित करना

उपर्युक्त विशेषताओं का समिश्रण ही आधुनिकीकरण की ओर ले जाता है।

आधुनिकीकरण की महत्वपूर्ण विशेषता होती है। विभाजन। इसका आशय समाचार-पठन के परिणाम एवं रेडियो द्वारा सुने गये समाचारों की संख्या द्वारा अनुमानित जनसाधारण के विचारणीय विषयों की जानकारी है। इसमें जानकारी के अलावा कार्य भी सम्मिलित होता

है। कार्य के अन्तर्गत भाषणों, सम्पादक के नाम पत्रों सामाजिक लेखों तथा निर्वाचन के द्वारा विचारों का प्रकाशन आता है।

आधुनिकीकरण की अन्य महत्वपूर्ण विशेषता है-दूसरों की भावनाओं में प्रवेश। इस विशेषता के अन्तर्गत विभिन्न प्रकार की गतिशीलता शामिल रहती है। यह व्यवहार की प्रबलता को निर्देशित करता है। जो व्यक्ति की इच्छा एवं दृष्टिकोण ही सम्भावित भावी व्यवहार के आदर्श के रूप में एक प्रारूप होता है।

इस प्रकार विभाजन एवं दूसरों की भावनाओं में प्रवेश, आधुनिकीकरण की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता है। व्यक्ति इन दो विशेषताओं को आधुनिकीकरण करने वाले समाज के विशेष अंग के रूप में स्वीकार कर सकते हैं। समाजशास्त्रीय दृष्टि से सामाजिक परिवर्तन का अर्थ आधुनिकीकरण है, उसके अनुसार यह परिवर्तन लाना शिक्षा का कार्य है। कोठारी आयोग ने कहा भी है कि शिक्षा का एक प्रमुख उद्देश्य आधुनिकीकरण की प्रक्रिया की गति को तीव्रता प्रदान करना है। इसी कारण आयोग ने आधुनिकीकरण की प्रक्रिया में तीव्रता लाने की आवश्यकता पर बल दिया है।

बोध प्रश्न -

टिप्पणी - (क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिये गये स्थान का प्रयोग कीजिए।

(ख) अपने उत्तरों को इकाई के अन्त में दिए गये उत्तर से मिलान कीजिए।

3- आधुनिकीकरण का क्या अर्थ है?

....

....

4- आधुनिकीकरण की दो विशेषताएं बताइये।

(क)..

(ख)..

16.7 सामाजिक परिवर्तन और नगरीकरण

सामाजिक परिवर्तन का एक अन्य रूप नगरीकरण होता है। जब ग्रामीण इलाके के व्यक्ति अपने रहन-सहन एवं खान-पान आदि में नगर के लोगों का अनुसरण करने लगते हैं या ग्रामीण परिवेश धीरे-धीरे नगर का परिवेश ग्रहण करने लगता है, तो इस प्रक्रिया को नगरीकरण कहा जाता है।

बीसवीं शताब्दी में भारत में बड़े-बड़े उद्योगों की स्थापना की गयी। इन उद्योगों के लिए भारतीय किसान व्यावसायिक फसलों तिलहन, जूट, कपास, गन्ना आदि का उत्पादन करने लगे। इसका कारण उन उत्पादित पदार्थों का अधिक खपत होना है। जब किसी गाँव के पास कोई कारखाना बनता है तो उसमें कार्य करने वाले श्रमिकों की बस्ती कारखाना के पास बन जाती है। जो बाद में कस्बों या उपनगरों में बदल जाती है। इन कस्बों में डाकखाना, बाजार, सिनेमाघर, स्कूल आदि भी बन जाता है। इस पूरी प्रक्रिया को

नगरीकरण कहा जाता है। नगरीकरण द्वारा गाँव में नगरों की विशेषताएँ आ जाती हैं। नगरीकरण की प्रक्रिया दो रूपों में दिखाई देती है। पहला -गाँव के लोग नगरवासियों के जीवन शैली का अनुसरण करते हैं, और दूसरा-गाँव धीरे-धीरे उपनगर होते जाते हैं।

समाज पर नगरीकरण का अच्छा एवं बुरा दोनों प्रकार का प्रभाव पड़ता है। समाज पर नगरीकरण के अच्छे प्रभावों के अन्तर्गत जाति व्यवस्था का महत्व नहीं होता, जातियों एवं वर्गों का विभाजन नहीं होता, रहन-सहन पहनावा, जाति पर आधारित नहीं होता, सामूहिक खान-पान में जाति का बन्धन नहीं होता, अस्पृष्यता नहीं होती, बाल विवाह नहीं होता, अन्तर्जातीय विवाह की शुरूआत स्त्रियों को स्वतन्त्रता एवं उनकी स्थिति में सुधार, अन्धविश्वासों में कमी, व्यक्तियों में राजनैतिक चेतना की जागृति आदि आता है।

समाज पर नगरीकरण का बुरा प्रभाव भी पड़ता है। समाज पर नगरीकरण के बुरे प्रभावों के अन्तर्गत - आपसी सद्‌भावना की कमी, सभी पेशों एवं विभिन्न संस्कारों के लोगों का एक साथ रहना और उसमें आपसी सद्भाव भाईचारा एवं भावात्मक लगाव की कमी, एकाकी जीवन का उदय, श्रमिक, बस्ती का उदय, नशा, चोरी, जुआ हत्या व्यभिचार का प्रचलन, गन्दी एवं धन बस्तियों का उदय, स्वस्थ मनोरंजन का अभाव एवं महंगा होना, कसरत, व्यायाम, आखाड़े आदि की जगह सिनेमा,नाटक, नृत्य आदि का उदय लोगों में मानसिक तनाव की वृद्धि, निजी एवं स्वार्थ परक विचार का विकास आदि आता है।

नगरीकरण और शिक्षा का घनिष्ठ सम्बन्ध होता है और वह सम्बन्ध दो प्रकार का होता है। पहला-नगरीकरण शिक्षा को प्रभावित करती है और दूसरा-शिक्षा नगरीकरण को प्रभावित करती है। नगरीकरण का प्रभाव शिक्षा पर कई रूपों में दिखाई देता है। नगरीकरण के द्वारा ही विश्वविद्यालयों की स्थापना होती है। नगरीकरण के कारण ही आज प्रत्येक नगर एवं उपनगर में विभिन्न शिशु विद्यालयों जैसे-नर्सरी विद्यालय, किण्डरगार्डन,मान्टेसरी विद्यालयों की भरमार है। विभिन्न प्रकार के व्यावसायों का उदय एवं उनसे सम्बन्धित व्यावसायिक विद्यालयों की स्थापना नगरीकरण के कारण ही होता है। शिक्षा भी नगरीकरण को प्रभावित करती है। चूंकि शिक्षित व्यक्ति विशिष्ट और कुशल व्यावसाय चाहते हैं, इसीलिए नये-नये उद्योग-धन्धे, नहरें तथा नलकूप आदि का निर्माण होता है। विशिष्ट इंजीनियरिंग के ज्ञान कौशल द्वारा ही भवनों के निर्माण में नवाचार दिखाई देता है। इससे स्पष्ट होता है कि शिक्षा नगरीकरण को प्रभावित करती है।

शिक्षा का मुख्य कार्य यह है कि नगरीकरण से होने वाले बुराइयों को दूर करे। नगरीकरण से भारत में संयुक्त परिवार टूट रहे हैं। जिससे बालकों की शिक्षा प्रभावित हो रही है, क्योंकि परिवार के अभाव की पूर्ति पूर्व प्राथमिक विद्यालय नहीं कर पा रहे हैं। इसलिए शिक्षा को चाहिए कि नगरीकरण द्वारा जो आर्थिक अस्थिरता, वर्ग-संघर्ष, बेकारी, असन्तोष, एकाँकी जीवन तथा एक दूसरे के प्रति गलतफहमी आदि उत्पन्न हुआ है, उसके कुप्रभावों को दूर करे और उनके बच्चों की शिक्षा की व्यवस्था करे। अतः हमारी शिक्षा इस प्रकार होनी चाहिए कि गाँव के युवकों में गाँव के युवकों में गांव को छोड़ने की प्रवृत्ति न उत्पन्न हो। इस प्रवृत्ति से शिक्षित युवकों को बचाना भी शिक्षा का मुख्य कार्य होना चाहिए।

बोध प्रश्न -

टिप्पणी - (क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिये गये स्थान का प्रयोग कीजिए।

(ख) अपने उत्तरों को इकाई के अन्त में दिए गये उत्तर से मिलान कीजिए।

5-नगरीकरण का क्या अर्थ है?

6-समाज पर नगरीकरण के तीन अच्छे प्रभाव बताइये।

7-समाज पर नगरीकरण के तीन बुरे प्रभावों का उल्लेख कीजिए।

8-नगरीकरण शिक्षा को कैसे प्रभावित करती है?

16.8 सामाजिक परिवर्तन के लिए शिक्षा

शिक्षा समाज की आवश्यकताओं को पूरा करती है तथा ऐसे विचारों का प्रसार करती है, जिससे समाज के विभिन्न क्षेत्रों में अनेक प्रकार के परिवर्तन होते रहे। दूसरे शब्दों में शिक्षा एक सामाजिक प्रक्रिया है, जिसकी सहायता से समाज अपने बालकों को वैसा ही बना लेता है, जैसा वह उन्हें चाहता है। इसी कारण प्रत्येक समाज अपनी आवश्यकताओं एवं आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए शिक्षा पर निर्भर रहता है। शिक्षा द्वारा ही समाज के सदस्यों के आचरण तथा विचारों में परिवर्तन लाया जाता है। सामाजिक परिवर्तन की दृष्टि से शिक्षा के इन कार्यों का विवरण समाजशास्त्री निम्न प्रकार देते हैं -

16.8.1 शाश्वत मूल्यों का संरक्षण

प्रत्येक समाज के कुछ शाश्वत मूल्य होते हैं। हमारे समाज में सत्य, अहिंसा, सहानुभूति, सहिष्णुता सहयोग तथा सौहार्द आदि अनेक शाश्वत मूल्य पाये जाते हैं। शिक्षा इन सभी मूल्यों की रक्षा करके बालकों में विकसित करती है। इन शाश्वत मूल्यों के कारण ही समाज स्थायित्व प्राप्त करता है। राल्फ लिन्टन ने इस सम्बन्ध में कहा है कि जब काफी सामाजिक परिवर्तन के कारण उक्त मूल्यों में दुर्बलता आने लगती है। तो समाज पतन की ओर जाने लगता है, इस स्थिति में शिक्षा इन शाश्वत मूल्यों का संरक्षण करती है।और सामाजिक परिवर्तन के बुरे प्रभावों से बचाती है, साथ ही लोगों को इस प्रकार ज्ञान देती हैकि उनका इन मूल्यों में विश्वास भी बना रहे और वे सामाजिक परिवर्तन को स्वीकार भी करते रहें।

16.8.2 परिवर्तन ग्रहण कराने में सहायता

शिक्षा विविध प्रविधियों द्वारा व्यक्तियों को मानसिक रूप से तैयार करके ऐसे वातावरण का निर्माण करती है कि व्यक्ति परिवर्तनों को सरलता से ग्रहण कर लें।

16.8.3 परिवर्तनों की समीक्षा

समाज में अनेकों परिवर्तन होते रहते हैं। इन सभी परिवर्तनों के सम्बन्ध में शिक्षक वर्ग समीक्षा करके यह निश्चित करता है कि कौन सा परिवर्तन वांछनीय है तथा कौन सा अवांछनीय। दूसरे शब्दों में शिक्षा ऐसे मूल्यों को निश्चित करती है, जिनके द्वारा परिवर्तनों की समीक्षा करके वांछित परिवर्तनों को प्रोत्साहित किया जाता है।

16.8.4 नवीन परिवर्तनों के उदय में सहायक

समाज में व्याप्त विभिन्न बुराइयों को दूर करने के लिए शिक्षा नई-नई विचारधाराओं, आन्दोलनों एवं सामाजिक परिवर्तनों को जन्म देती है। उदाहरणार्थ भारतीय समाज में बाल-विवाह, विधवा-विवाह, सती प्रथा आदि आन्दोलनों के फलस्वरूप ही अनेक सामाजिक परिवर्तन हुए हैं।

16.8.5 संस्कृति का हस्तान्तरण

शिक्षा भावी पीढ़ी को संस्कृति का हस्तान्तरण करके समाज में स्थायित्व तथा निरंतरता लाती है, साथ ही समाज को विभिन्न प्रकार के सुधारों एवं परिवर्तनों के लिए भी प्रेरित करती है। इस दृष्टि से शिक्षा सामाजिक परिवर्तनों की जन्मदाता, प्रवर्तक, निर्देशक एवं रचनात्मक शक्ति भी है।

16.8.6 सामाजिक परिवर्तनों की शिक्षा

शिक्षा विभिन्न साधनों का प्रयोग करके लोगों को सामाजिक परिवर्तन का ज्ञान देती है। जब लोगों को सामाजिक परिवर्तनों का ज्ञान हो जाता है, तो वे सामाजिक परिवर्तन की सभी कार्यक्रमों/योजनाओं में सक्रिय रूप से सहभागी बनने लगते हैं।

16.8.7 सामाजिक परिवर्तन का नेतृत्व

कुशल नेतृत्व से ही समाज में नवीन परिवर्तन लाया जा सकता है। शिक्षा व्यक्ति को वांछनीय परिवर्तन का नेतृत्व करना सिखाती है। शिक्षा जनतन्त्रीय भावना का विकास करके व्यक्ति के अन्दर ऐसी शक्ति उत्पन्न करती है, जिसके द्वारा वह सामाजिक कुरीतियों में आवश्यक परिवर्तन करके एक उत्तम जीवन व्यतीत कर सके।

16.9 सामाजिक परिवर्तन के बाधक तत्व/कारक

सामाजिक परिवर्तन में उस समय बाधा उत्पन्न होती है, जब समाज वांछनीय परिवर्तन को स्वीकार नहीं करता है। प्रायः यह देखा गया है कि समाज की प्रगतिशील शक्तियाँ सामाजिक परिवर्तन लाने के लिए व्याकुल रहती हैं, परन्तु समाज के रूढ़िवादी एवं परम्परावादी लोग प्रत्येक परिवर्तन का विरोध करते हैं। इस प्रकार विरोध के कुछ कारण होते हैं। सामाजिक परिवर्तन में बाधा पहुँचाने वाले कुछ कारक निम्न हैं -

(1) नवीनता का भय - नवीनता का भय सामाजिक परिवर्तन का प्रथम बाधक कारक है। आगबर्न एवं निमकाफ के अनुसार समाज में ऐसे लोग अधिक होते हैं,जो किसी प्रकार का परिवर्तन नही चाहते वे अपनी स्थिति से संतुष्ट रहते हैं और अज्ञात एवं नवीन वस्तु को अपनाने से डरते हैं। उनकी धारणा होती है कि यदि उन्होंने अपने अपनाये हुए ढंगों को छोड़ा तो उनकी सुरक्षा कम हो जायेगी। इसलिए वे अपने जीवन में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं चाहते, वे उसी प्रकार जीवन व्यतीत करना चाहते हैं, जिस प्रकार बिताते आये हैं।

(2) सांस्कृतिक जड़ता - समाज के सभी लोग जिस सांस्कृतिक वातावरण में जन्म लेते हैं उसी में उन्हें विशेष लगाव रहता है। वे उन्हीं आदर्शों, मूल्यों, विश्वासों, परम्पराओं आदि

को उत्तम समझते हैं, जो उन्हें अपने पूर्वजों से प्राप्त होता है। वे उनके प्रति आदर एवं सम्मान की भावना रखते हैं और उनके अन्ध भक्त हो जाते हैं। उनके मन में ऐसे संस्कार पड़ जाते हैं कि वे उन बातों का जिनसे स्वीकृत आदर्शों तथा परम्पराओं को ठेस पहुँचती है, का विरोध करते हैं। अर्थात उनमें सांस्कृतिक जड़ता की भावना उत्पन्न हो जाती है और वे सामाजिक परिवर्तनों का विरोध करते हैं ।

(3) निहित स्वार्थ - समाज कई वर्गों में बंटा होता है, और प्रत्येक वर्ग के लोगों के कुछ स्वार्थ होते हैं। ये लोग अपने स्वार्थों की पूर्ति में लगे रहते हैं और उनके स्वार्थों की पूर्ति तब तक होती रहती है, जब तक कोई परिवर्तन नहीं होता। अतः वे लोग अपने स्वार्थों की पूर्ति हेतु प्रत्येक नवीन वस्तु अथवा परिवर्तन का विरोध करते हैं। इसलिए लोगों के निहित स्वार्थ सामाजिक परिवर्तन में बाधक होते हैं। उदाहरणार्थ -जमीदारी प्रथा से कुछ लोगों को लाभ था, इसलिए उन्होंने किसानों की दशा में सुधार हेतु किये गये प्रत्येक कार्य का विरोध किया।

(4) पृथकता - प्रत्येक समाज अथवा वर्ग अपने अस्तित्व को बनाये रखने के लिए दूसरे वर्गों से पृथक रहता है, अर्थात वह वर्ग या समाज दूसरे समाज की संस्कृति के सम्पर्क में नहीं आना चाहता। अतः उसमें जितनी अधिक पृथकता की मात्रा होती है वह उतनी ही क्षमता से सामाजिक परिवर्तनों का विरोध करते है।

बोध प्रश्न -

टिप्पणी - (क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिये गये स्थान का प्रयोग कीजिए।

(ख) अपने उत्तरों को इकाई के अन्त में दिये गये उत्तर से मिलान कीजिए।

9. सामाजिक परिवर्तन लाने हेतु शिक्षा के तीन कार्य बताइये ।

(क) --

(ख) --

10. सामाजिक परिवर्तन के दो बाधक तत्व बताइये ।

(क) --

(ख) --

16.10 शिक्षक सामाजिक परिवर्तन के प्रतिनिधि के रूप में

शिक्षक तथा सामाजिक परिवर्तन में आत्मा और शरीर जैसा सम्बन्ध है। जिस प्रकार बिना आत्मा के शरीर असम्भव है, उसी प्रकार शिक्षक के बिना सामाजिक परिवर्तन केवल कल्पना ही है। शिक्षक पारस्परिक संस्कृति का पालक और सामाजिक परिवर्तन का प्रतिनिधि कहा जाता है। शिक्षक को उपर्युक्त दोनों भूमिका निभानी पड़ती है। ऐसे समाज में सामाजिक परिवर्तन करना शिक्षक के लिए बहुत चुनौतीपूर्ण कार्य होता है,जहाँ औद्योगीकरण, नगरीकरण, जनतन्त्रीकरण, संस्कृतीकरण, धर्म निरपेक्षवाद, विज्ञानवाद आदि विभिन्न तत्वों के कारण तीव्र गति से परिवर्तन हो रहा है।

यदि हम ऐतिहासिक दृष्टि से देखें तो शिक्षकों ने प्रारम्भ से ही सामाजिक परिवर्तन लाने में पूरा सहयोग किया है। यदि प्राचीन भारत पर दृष्टिपात किया जाय तो यह बात स्पष्ट हो जायेगी कि जब भी शिक्षकों ने सामाजिक परिवर्तन की आवश्यका महसूस की तभी उन्होंने अपने आश्रमों के माध्यम से सामाजिक व्यवस्था में अभूतपूर्व परिवर्तन किये। गुरू वशिष्ट, द्रोणाचार्य संदीपन और विश्वामित्र आदि अनेक शिक्षकों के उदाहरण इस संदर्भ में प्रस्तुत किये जा सकते हैं। किन्तु जब लोकप्रिय शिक्षा की मॉग होने लगी तब शिक्षकों के स्वरूप में परिवर्तन होना शुरू हो गया। मुस्लिम काल में परम्परावाद की शुरूआत हुई। शिक्षक के स्वरूप में क्षीणता होना प्रारम्भ हुई और स्वतंत्रता के पूर्व तक वह स्वरूप क्षीणतापूर्ण हो गयी, ब्रिटिशकाल में शिक्षक को समाज के उपेक्षित वर्ग में रखा जाता था। आज भी स्वतंत्रता प्राप्ति के 60 वर्ष पश्चात शिक्षकों के स्वरूप में कोई खास परिवर्द्धन नहीं हो सका। इसलिए यदि शिक्षक को सामाजिक परिवर्तन का प्रतिनिधि बनाना है तो शिक्षक के स्वरूप में सुधार करना आवश्यक है। उसकी सेवाओं को सरकार एवं समाज से मान्यता मिलनी चाहिये।

आज के जनतांत्रिक युग में जहाँ एक ओर लोकप्रिय शिक्षा की मांग बढ़ती जा रही है वहीं दूसरी ओर शिक्षकों की आर्थिक स्थिति में समाज एवं सरकार ने आवश्यक सुधार नहीं किया है। चूँकि प्रत्येक सामाजिक परिवर्तन केवल प्रयोग द्वारा ही लागू किया जा सकता है तथा कोई भी प्रयोग धन के अभाव में नहीं किया जा सकता है, इसलिए आवश्यक है कि शिक्षकों को समाज में महत्वपूर्ण स्थान देते हुए उनकी आर्थिक स्थिति में सुधार किया जाय, जिससे वे सामाजिक परिवर्तन के प्रभावपूर्ण प्रतिनिधि के रूप में प्रशंसनीय कार्य कर सकें।

बोध प्रश्न -

टिप्पणी - (क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिये गये स्थान का प्रयोग कीजिए।

(ख) अपने उत्तरों को इकाई के अन्त में दिये गये उत्तर से मिलान कीजिए।

11. सामाजिक परिवर्तन के प्रतिनिधि के रूप में शिक्षक प्रशंसनीय कार्य कब कर सकता है?

(क) ---

(ख) ---

16.11 सामाजिक परिवर्तन में शिक्षक की भूमिका

सामाजिक परिवर्तन एक सतत् प्रक्रिया है। यह बात दूसरी है कि यह कभी मन्द गति से होता है, कभी तीव्र गति से और कभी क्रान्तिकारी रूप से इनमें से कुछ परिवर्तन तो अपने आप होते हैं,जैसे समाज में लड़कियों की संख्या बढ़ने पर बहुपत्नी प्रथा का प्रचलन। ऐसे परिवर्तनों को हम रोकना भी चाहें तो नहीं रोक सकते। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे परिवर्तन होते हैं, जिन्हें हम सोच समझकर करते हैं, जैसे - वर्गविहीन और धर्म निरपेक्ष समाज का निर्माण। इन परिवर्तनों के लिए हमें शिक्षा का सहारा लेना पड़ता है। इसीलिए समाज यह आशा करता है कि शिक्षक को सामाजिक परिवर्तन के प्रतिनिधि के रूप में कार्य करना चाहिए। सामाजिक परिवर्तन हेतु शिक्षक की भूमिका के सम्बन्ध में निम्नलिखित बातों पर ध्यान दिया जाना

चाहिए-

1. शिक्षकों को जनतांत्रिक मार्ग पर चलना चाहिए।
2. सामाजिक परिवर्तन की गति में तीव्रता लाने के लिए शिक्षकों की भूमिका का पुनर्निर्माण किया जाना चाहिए।
3. शिक्षक को शिक्षित एवं अशिक्षित दोनों प्रकार के अभिभावकों से मिलकर बात करना चाहिए।
4. सांस्कृतिक एवं बौद्धिक स्तरों के सम्बन्ध में शिक्षक को अधिक असमानता वाले समूह के साथ कार्य करना चाहिए।
5. शिक्षक को विद्यालयों द्वारा वे सुविधाएँ मिलनी चाहिए जो समृद्धिशाली व्यक्तियों को प्राप्त रहती है।
6. सामाजिक, आर्थिक स्तर की दृष्टि से भिन्न छात्रों की ओर शिक्षक को विशेष ध्यान देना चाहिए।
7. अपनी सामाजिक स्थितियों के कारण बालकों में निहित उच्चता एवं हीनता की भावना को शिक्षक को हतोत्साहित करना चाहिये।
8. शिक्षकों को बालकों को प्रश्न पूछने के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए और शिक्षक हेतु श्रव्यदृश्य साधनों का उपयोग करना चाहिए।
9. विद्यालय से सम्बन्धित महत्वपूर्ण विषयों पर निर्णय लेने के लिए शिक्षकों को स्वतंन्त्रता मिलनी चाहिए।
10. शिक्षकों को बालकों के साथ कक्षा के अतिरिक्त बाहर भी सम्बन्ध स्थापित करना चाहिए।
11. शिक्षक की स्वतंत्रता उत्साह एवं रचनात्मकता में बाधा उत्पन्न करने वाले तत्वों (जैसे आर्थिक एवं भाषा सम्बन्धी तत्व) पर शिक्षक एवं समाज को प्रयास करके दूर किया जाना चाहिए।
12. आधुनिक प्रवृत्तियों को अपनी सीमा के अन्तर्गत रखने के लिए शिक्षक को पाठ्य विषयों में परिवर्तन करना चाहिए।

बोध प्रश्न -

टिप्पणी - (क) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिये गये स्थान का प्रयोग कीजिए।

(ख) अपने उत्तरों को इकाई के अन्त में दिये गये उत्तर से मिलान कीजिए।

12. सामाजिक परिवर्तन की दृष्टि से शिक्षक की भूमिका के सम्बन्ध में जिन बातों पर ध्यान दिया जाता है, उनमें से तीन का उल्लेख कीजिए।

(क) --

(ख) --

(ग) --

16.12 सारांश

इस इकाई में सामाजिक परिवर्तन का अर्थ एवं उसकी विशेषताएं बताई गयी हैं और सामाजिक परिवर्तन के विभिन्न पहलुओं जैसे सामाजिक परिवर्तन एवं आधुनिकीकरण तथा सामाजिक परिवर्तन एवं नगरीकरण पर चर्चा की गई है। इसमें आधुनिकीकरण की विशेषता तथा समाज पर नगरीकरण के अच्छे एवं बुरे प्रभावों की व्यवस्था की गई है। इसी इकाई में शिक्षा पर नगरीकरण का प्रभाव और नगरीकरण पर शिक्षा के प्रभाव की व्याख्या की गई। सामाजिक परिवर्तन के लिए शिक्षा के कार्यों को भी स्पष्ट किया गया है। अन्त में इस इकाई में सामाजिक परिवर्तन के प्रतिनिधि के रूप में शिक्षक एवं उसकी भूमिका का वर्णन एवं विश्लेषण किया गया है। इस प्रकार इस इकाई से स्पष्ट होता है कि सामाजिक परिवर्तन में शिक्षा महत्वपूर्ण योग देता है इसीलिए शिक्षक को सामाजिक परिवर्तन का प्रतिनिधि माना जाता है और इस निमित्त उसकी भूमिका अत्यन्त महत्वपूर्ण योग देता है इसीलिए शिक्षक को सामाजिक परिवर्तन का प्रतिनिधि माना जाता है और इस निमित्त उसकी भूमिका अत्यन्त महत्वपूर्ण होती है।

16.13 अभ्यास कार्य

1. सामाजिक परिवर्तन का अर्थ एवं उसकी विशेषताओं की विवेचना कीजिए।
2. सामाजिक परिवर्तन को आधुनिकीकरण के रूप में विश्लेषित कीजिए।
3. सामाजिक परिवर्तन एवं नगरीकरण के सम्बन्ध तलाशिये।
4. अपने अनुभवों के आधार पर बताइये कि सकारात्मक सामाजिक परिवर्तन लाने में शिक्षा कौन सा कार्य कर सकती है?
5. शिक्षक होने के नाते क्या आप यह महसूस करते हैं कि सामाजिक परिवर्तन के प्रतिनिधि के रूप में शिक्षक कार्य करता है।
6. सामाजिक परिवर्तन के संदर्भ में शिक्षक की क्या भूमिका होनी चाहिए। स्पष्ट कीजिए।

16.14 बोध प्रश्नों के उत्तर

1. समाज की संरचना, व्यवहार, प्रतिमान एवं कार्य विधि में परिवर्तन हाने की प्रक्रिया को समाज शास्त्रीय भाषा में सामाजिक परिवर्तन कहते हैं।

2. क) सामाजिक परिवर्तन सार्वत्रिक होता है।

   ख) सामाजिक परिवर्तन समय सापेक्ष होती है और इसकी गति समयानुसार बहुत धीमी या तीव्र होती है।

3. आधुनिकीकरण का तात्पर्य अपनी जन्मभूमि से हटकर लाभदायक स्थान पर जाने, समस्याओं के प्रति भावनात्मक मार्ग से हटकर तार्किक मार्ग अपनाने एवं जाति एवं अन्य समूहों द्वारा प्रस्तुत बाधाओं को पार करने से है।

4. क) विभाजन

ख) दूसरों की भावनाओं में प्रवेश

5. जब ग्रामीण क्षेत्र के व्यक्ति अपने रहन-सहन एवं खान-पान आदि में नगर के लोगों का अनुसरण करने लगते है या ग्रामीण परिवेश धीरे धीरे नगर का परिवेश ग्रहण करने लगता है, तो इस प्रक्रिया को नगरीकरण कहते हैं।

6. क) जाति व्यवस्था का महत्व न होना।

ख) अस्पृश्यता का अन्त

ग) व्यक्तियों में राजनैतिक चेतना की जागृति ।

7. क) आपसी सद्भाव की कमी ।

ख) एकाकी जीवन का उदय ।

ग) निजी एवं स्वार्थ-परक दृष्टिकोण का विकास।

8. विश्वविद्यालयों एवं महाविद्यालयों की स्थापना तथा प्रत्येक नगर एवं उपनगर में विभिन्न शिशु विद्यालयों की स्थापना करके।

9. क) शाश्वत मूल्यों का संरक्षण करती है।

ख) नवीन परिवर्तनों के उदय में सहायता करती है।

ग) सामाजिक परिवर्तन का नेतृत्व करती है।

10.क) नवीनता का कार्य

ख) सांस्कृतिक जड़ता

11. जब शिक्षकों को समाज में महत्वपूर्ण स्थान दिया जायेगा और उनकी आर्थिक स्थिति में सुधार किया जायेगा।

12.क) सामाजिक परिवर्तन हेतु शिक्षकों की भूमिका का पुनर्निर्माण होना चाहिए।

ख) बालकों में निहित उच्चता एवं भिन्नता की भावना को शिक्षक को हतोत्साहित करना चाहिए।

ग) सामाजिक, आर्थिक स्तर से भिन्न छात्रों की ओर शिक्षक को विशेष ध्यान देना चाहिए।

16.15 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. गिरीश पचौरी - उदीयमान भारतीय समाज में शिक्षक, लायल बुक डिपो, मेरठ, 2006

2. एन.आर.स्वरूप सक्सेना - शिक्षा के दार्शनिक एवं समाजशास्त्रीय सिद्धान्त, आर. लाल बुक डिपो, मेरठ 2005.

3. नील कमल - शिक्षा सिद्धान्त, लायल बुक डिपो, मेरठ 1993

4. रमन बिहारी लाल-शिक्षा के दार्शनिक एवं समाजशास्त्रीय सिद्धान्त, रस्तोगी पब्लिकेशन्स मेरठ 2003

5. डॉ. रामशकल पाण्डेय - शिक्षा की दार्शनिक एवं समाजशास्त्रीय पृष्ठभूमि, अग्रवाल पब्लिकेशन्स, आगरा, 2005

6. डॉ. रामशकल पाण्डेय - उदीयमान भारतीय समाज में शिक्षक,विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा, 2005

7. एम.एस.माथुर - शिक्षा के दार्शनिक तथा समाजिक आधार, अग्रवाल पब्लिकेशन्स आगरा 2007/2008

8. सरयू प्रसाद चौबे- शिक्षा सिद्धान्त

9. सीताराम जायसवाल - शैक्षिक समाज शास्त्र

10. त्रिपाठी एवं श्रीवास्तव - शिक्षा और समाज, द्विवेदी प्रकाशन मन्दिर, गोरखपुर, 2005

1. Bagley, W.C. - School and Society Sept. 8, 1945.

2. Brown, F.J. - Educational Sociology.

3. Chaube, S.P. - Some Foundation of Education.

4. Cook & Cook- A Sociological Approach to Education.

5. Chakrabarty, A.K. - Principle & Practice of Education.

6. Dewey, J. - The School and Society.

7. Gond, A. - Sociology & Education.

8. Pandey, R.S.- Principles of Education.